ॐ अर्हं

जिनागम-ग्रन्थमाला : ग्रन्थाङ्क १२

[परमश्रद्धेय गुरुदेव पूज्य श्री जोरावरमलजी महाराज की पुण्यस्मृति मे आयोजित]

श्रीदेववाचकविरचित

नन्दीसूत्र

[मूलपाठ, हिन्दी अनुवाद, विवेचन, परिशिष्ट युक्त]

प्रेरणा
(स्व.) उपप्रवर्तक शासनसेवी स्वामी श्री ब्रजलालजी महाराज

सयोजक तथा प्रधान सम्पादक
श्री स्था जैन श्रमणसघ के युवाचार्य
(स्व०) युवाचार्य श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर'

अनुवादन—विवेचन
जैन साध्वी उमरावकुंवर 'अर्चना'

सम्पादन
कमला जैन 'जीजी', एम ए

प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

जिनागम-ग्रन्थमाला : ग्रन्थाङ्क १२

☐ निर्देशन
साध्वी श्री उमरावकुंवर 'अर्चना'

☐ सम्पादकमण्डल
अनुयोगप्रवर्तक मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल'
उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री
श्री रतनमुनि

☐ सम्प्रेरक
मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'
श्री महेन्द्रमुनि 'दिनकर'

☐ द्वितीय संस्करण प्रकाशनतिथि
वीर निर्वाण सं० २५१७
विक्रम सं० २०४८
अगस्त १९९१ ई०

☐ प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन समिति
श्री ब्रज-मधुकर स्मृति भवन,
पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)
पिन—३०५९०१

☐ मुद्रक
सतीशचन्द्र शुक्ल
वैदिक यंत्रालय,
केसरगंज, अजमेर—३०५००१

☐ मूल्य : 50/-

Published at the Holy Remembrance occasion
of
Rev. Guru Shri Joravarmalji Maharaj

NANDĪ SUTRĀ

BY

DEVAVACHĀK

[Original Text, Hindi Version, Notes, Annotations and Appendices etc]

□

Proximity

(Late) Up-pravartaka Shasansevi Rev Swami Sri Brijlalji Maharaj

□

Convener & Founder Editor

(Late) Shri Vardhamana Sthanakvasi Jain Sramana Sanghiya Yuvacharya
Sri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

□

Translator & Annotator

Sadhwi Umravakunwar 'Archana'

□

Editor

Kamala Jain 'Jiji', M. A

□

Publishers

Shri Agam Prakashan Samiti

Beawar (Raj)

Jinagam Granthmala Publication No. 12

☐ **Direction**
Sadhwi Shri Umravkunwar 'Archana'

☐ **Board of Editors**
Anuyoga-pravartaka Muni Shrikanhaiyalalji 'Kamal'
Upacharya Sri Devendra Muni Shastri
Sri Ratan Muni

☐ **Promotor**
Muni Sri Vinayakumar 'Bhima'
Sri Mahendra Muni 'Dinakar'

Second Edition :

☐ **Date of Publication**
Vir-Nirvana Samvat 2517
Vikram Samvat 2048, August 1991

☐ **Publishers**
Sri Agam Prakashan Samiti,
Brij-Madhukar Smriti Bhawan,
Pipalia Bazar, Beawar (Raj.)
Pin 305 901

☐ **Printer**
Satish Chandra Shukla
Vedic Yantralaya
Kesarganj, Ajmer

☐ **Price : [illegible] 50/-**

समर्पण

जिनकी साहित्य-सेवा अमर रहेगी,
जिनके प्रकाण्ड पाण्डित्य के समक्ष
जैन-जैनेतर विद्वान् नतमस्तक होते थे,
जो सरलता, शान्ति एव सयम की प्रतिमूर्ति थे,
भारत की राजधानी मे जो अपने भव्य एव
दिव्य व्यक्तित्व के कारण 'भारतभूषण' के
गौरवमय विरुद से विभूषित किए गए,
जिनके अगाध आगमज्ञान का लाभ मुझे भी
प्राप्त करने का सद्भाग्य प्राप्त हुआ,
उन विद्वद्वरिष्ठ शतावधानी
मुनिश्री रत्नचन्द्रजी महाराज के
कर-कमलो मे ।

मधुकर मुनि

[प्रथम संस्करण से]

प्रकाशकीय

श्री नन्दीसूत्र का यह द्वितीय सस्करण पाठको के हाथो मे है। इस सूत्र का अनुवाद और विवेचन श्रमण-सघीय प्रख्यात विदुषी महासती श्री उमरावकुंवरजी म० "अर्चना" ने किया है। महासती "अर्चना" जी से स्थानकवासी समाज भलीभाति परिचित है। आपके प्रशस्त साहित्य को नर-नारी बडे ही चाव से पढते-पढाते हैं। प्रवचन भी आपके अन्तर्तर से विनिर्गत होने के कारण अतिशय प्रभावोत्पादक, माधुर्य से ओत-प्रोत एव बोधप्रद है। प्रस्तुत आगम का अनुवाद सरल और सुबोध भाषा मे होने मे स्वाध्यायप्रेमी पाठको के लिये यह सस्करण अत्यन्त उपयोगी होगा, ऐसी आशा है।

प्रस्तुत सूत्र परम मागलिक माना जाता है। हजारो वर्षों से ऐसी परम्परा चली आ रही है। अतएव साधु-साध्वीगण इसका सज्झाय करते है, अनेक श्रावक भी। उन सबके लिए न अधिक विस्तृत, न अधिक सक्षिप्त, मध्यम शैली मे तैयार किया गया यह सस्करण विशेषतया बोधप्रद होगा।

समिति अपने लक्ष्य की ओर यथाशक्य सावधानी के साथ किन्तु तीव्र गति से आगे बढ रही है। आगम बत्तीसी के प्रकाशन का कार्य पूर्ण होने जा रहा है तथा अप्राप्य शास्त्रों के द्वितीय सस्करण मुद्रित हो रहे हैं।

यह सब श्रमणसघ के स्व० युवाचार्य पण्डितप्रवर मुनिश्री मिश्रीमलजी म० सा० "मधुकर" के कठिन श्रम और आगमज्ञान के अधिक से अधिक प्रचार-प्रसार के प्रति तीव्र लगन तथा गम्भीर पाण्डित्य के कारण सम्भव हो सका है।

अन्त मे जिन-जिन महानुभावो का समिति को प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप मे सहयोग प्राप्त हुआ या हो रहा है, उन सभी के प्रति हम हार्दिक आभार व्यक्त करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

रतनचन्द मोदी
कार्यवाहक अध्यक्ष

सायरमल चोरड़िया
महामन्त्री

अमरचन्द मोदी
मन्त्री

श्री आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

(कार्यकारिणी समिति)

अध्यक्ष	श्री किशनलालजी बैताला	मद्रास
कार्यवाहक अध्यक्ष	श्री रतनचन्दजी मोदी	ब्यावर
उपाध्यक्ष	श्री धनराजजी विनायकिया	ब्यावर
	श्री पारसमलजी चोरडिया	मद्रास
	श्री हुक्मीचन्दजी पारख	जोधपुर
	श्री एस किशनचन्दजी चोरडिया	मद्रास
	श्री जसराजजी पारख	दुर्ग
महामन्त्री	श्री जी० सायरमलजी चोरडिया	मद्रास
मन्त्री	श्री अमरचन्दजी मोदी	ब्यावर
	श्री ज्ञानराजजी मूथा	पाली
सहमन्त्री	श्री ज्ञानचन्दजी विनायकिया	ब्यावर
कोषाध्यक्ष	श्री जवरीलालजी शिशोदिया	ब्यावर
	श्री अमरचन्दजी बोथरा	मद्रास
सदस्य	श्री एस बादलचन्दजी चोरडिया	मद्रास
	श्री मूलचन्दजी सुराणा	नागौर
	श्री दुलीचन्दजी चोरडिया	मद्रास
	श्री प्रकाशचन्दजी चौपडा	ब्यावर
	श्री मोहनसिंहजी लोढा	ब्यावर
	श्री सागरमलजी बैताला	इन्दौर
	श्री जतनराजजी मेहता	मेडतासिटी
	श्री भवरलालजी श्रीश्रीमाल	दुर्ग
	श्री चन्दनमलजी चोरडिया	मद्रास
	श्री सुमेरमलजी मेडतिया	जोधपुर
	श्री आसूलालजी बोहरा	जोधपुर
परामर्शदाता	श्री जालमसिंहजी मेडतवाल	ब्यावर
	श्री प्रकाशचन्दजी जैन	नागौर

नन्दीसूत्र-प्रथम संस्करण प्रकाशन के विशिष्ट अर्थसहयोगी

श्रीमान् सेठ एस. रतनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास

[जीवन परिचय]

आपका जन्म मारवाड के नागौर जिले के नोखा (चादावतो का) ग्राम मे दिनाक २० दिसम्बर १९२० ई को स्व श्रीमान् सिमरथमलजी चोरडिया की धर्मपत्नी स्वर्गीया श्रीमती गट्टूबाई की कुक्षि से हुआ। आपका बचपन गाँव मे ही बीता। प्रारम्भिक शिक्षा आगरा मे सम्पन्न हुई। यही पर चौदह वर्ष की अल्पायु मे ही आपने अपना स्वतन्त्र व्यवसाय प्रारम्भ किया। निरन्तर अथक परिश्रम करते हुए पन्द्रह वर्ष तक आढत के व्यवसाय मे सफलता प्राप्त की।

सन १९५० के मध्य आपने दक्षिण भारत के प्रमुख व्यवसाय के केन्द्र मद्रास मे फाइनेन्स का कार्य शुरू किया जो आज सफलता की ऊँचाइयो को छू रहा है, जिसमे प्रमुख योगदान आपके होनहार सुपुत्र श्री प्रसन्नचन्दजी, श्री पदमचन्दजी, श्री प्रेमचन्दजी, श्री धर्मचन्दजी का भी रहा है। वे कुशल व्यवसायी है तथा आपके आज्ञाकारी है।

आपने व्यवसाय मे सफलता प्राप्त कर अपना ध्यान समाज-हित मे व धार्मिक कार्यों की ओर भी लगाया है। उपार्जित धन का सदुपयोग भी शुभ कार्यों मे हमेशा करते रहते है। उसमे आपके सम्पूर्ण परिवार का सहयोग रहता है। मद्रास के जैनसमाज के ही नही अन्य समाजो के कार्यों मे भी आपका सहयोग सदैव रहता है।

आप मद्रास की जैन समाज की प्रत्येक प्रमुख सस्था से किसी न किसी रूप मे सम्बन्धित हैं। उनमे से कुछेक ये है

भू पू कोषाध्यक्ष श्री एस एस जैन एज्युकेशनल सोसायटी
(इस पद पर सात वर्ष तक रह हैं)
अध्यक्ष—(उत्तराञ्चल) श्री राजस्थानी एसोसिएशन,
कोषाध्यक्ष—श्री राजस्थानी श्वे स्था जैन सेवा सघ, मद्रास
(इस सस्था द्वारा असहाय व असमर्थ जनो को सहायता दी जाती है। होनहार युवको व युवतियों को व विद्वानो को सहयोग दिया जाता है।)
महास्तम्भ—श्री वर्धमान सेवा समिति, नोखा
सरक्षक—श्री भगवान् महावीर अहिंसा प्रचार सघ
ट्रस्टी—स्वामीजी श्री हजारीमलजी म जैन ट्रस्ट, नोखा
कार्यकारिणी के सदस्य—आनन्द फाउन्डेशन
भू पू महामत्री—श्री वैंकटेश आयुर्वेदिक औषधालय-मद्रास,
(यहाँ सैंकडो रोगी प्रतिदिन उपचारार्थ आते है)

सदैव सन्त-सतियांजी की सेवा करना भी आपने अपने जीवन का ध्येय बनाया है। आज स्थानकवासी समाज के कोई भी सन्त मुनिराज नही है जो आपके नाम व आपकी सेवाभावना से परिचित न हो।

आपके लघुभ्राता सर्वश्री बादलचन्दजी, सायरचन्दजी भी धार्मिक वृत्ति के हैं। वे भी प्रत्येक सत्कार्य मे आपको पूर्ण सहयोग प्रदान करते है। आपके स्व. अनुज श्री रिखबचन्दजी की भी अपने जीवनकाल मे यही भावना रही है।

आपकी धर्मपत्नी श्रीमती रतनकवर भी धर्मश्रद्धा की प्रतिमूर्ति एव तपस्विनी है। परिवार के सभी सदस्य धार्मिक भावना से प्रभावित है। विशेषत पुत्रवधुएँ आपकी धार्मिक परम्परा को बराबर बनाये हुए हैं।

आपने जन-कल्याण की भावना को दृष्टिगत रखते हुए निम्नलिखित ट्रस्टो की स्थापना की है जो उदारता से समाज सेवा कर रहे हैं—

(१) श्री एम रतनचन्द चोरडिया चेरिटेबल ट्रस्ट

(२) श्री सिमरथमल गट्टूबाई चोरडिया चेरिटीज ट्रस्ट

आपका परिवार स्वामीजी श्री व्रजलालजी म. सा, पूज्य युवाचार्य श्री मिश्रीलाल म सा, का अनन्य भक्त है। आपने श्रीआगम-प्रकाशन-समिति से प्रकाशित इस ग्रन्थ के प्रकाशन मे अपना उदार सहयोग प्रदान किया है। एतदर्थ समिति आपका आभार मानती है एव आशा करती है कि भविष्य मे भी आपका सम्पूर्ण सहयोग समिति को मिलता रहेगा।

—मन्त्री

आदि वचन
(प्रथम संस्करण से)

विश्व के जिन दार्शनिकों—दृष्टाओं/चिन्तकों, ने "आत्मसत्ता" पर चिन्तन किया है, या आत्म-साक्षात्कार किया है उन्होंने पर-हितार्थ आत्म-विकास के साधनों तथा पद्धतियों पर भी पर्याप्त चिन्तन-मनन किया है। आत्मा तथा तत्सम्बन्धित उनका चिन्तन-प्रवचन आज आगम/पिटक/वेद/उपनिषद् आदि विभिन्न नामों से विश्रुत है।

जैन दर्शन की यह धारणा है कि आत्मा के विकारों—राग द्वेष आदि को, साधना के द्वारा दूर किया जा सकता है, और विकार जब पूर्णत निरस्त हो जाते हैं तो आत्मा की शक्तियाँ ज्ञान/सुख/वीर्य आदि सम्पूर्ण रूप मे उद्घाटित उद्भासित हो जाती हैं। शक्तियों का सम्पूर्ण प्रकाश-विकास ही सर्वज्ञता है और सर्वज्ञ/आप्त-पुरुष की वाणी, वचन/कथन/प्ररूपणा—"आगम" के नाम से अभिहित होती है। आगम अर्थात् तत्त्वज्ञान, आत्म-ज्ञान तथा आचार-व्यवहार का सम्यक् परिबोध देने वाला शास्त्र/सूत्र/आप्तवचन।

सामान्यत सर्वज्ञ के वचनों/वाणी का सकलन नहीं किया जाता, वह बिखरे सुमनों की तरह होती है, किन्तु विशिष्ट अतिशयसम्पन्न सर्वज्ञ पुरुष, जो धर्म तीर्थ का प्रवर्तन करते है, सघीय जीवन पद्धति मे धर्म-साधना को स्थापित करते हैं, वे धर्म प्रवर्तक/अरिहंत या तीर्थंकर कहलाते है। तीर्थंकर देव की जनकल्याकारिणी वाणी को उन्ही के अतिशय सम्पन्न विद्वान् शिष्य गणधर सकलित कर "आगम" या शास्त्र का रूप देते है अर्थात् जिन-वचनरूप सुमनों की मुक्त वृष्टि जब मालारूप मे ग्रथित होती है तो वह "आगम" का रूप धारण करती है। वही आगम अर्थात् जिन-प्रवचन आज हम सब के लिए आत्म-विद्या या मोक्ष-विद्या का मूल स्रोत है।

"आगम" को प्राचीनतम भाषा मे "गणिपिटक" कहा जाता था। अरिहंतों के प्रवचनरूप समग्र शास्त्र-द्वादशाग मे समाहित होते है और द्वादशाग/आचाराग-सूत्रकृताग आदि के अग-उपाग आदि अनेक भेदोपभेद विकसित हुए है। इस द्वादशागी का अध्ययन प्रत्येक मुमुक्षु के लिए आवश्यक और उपादेय माना गया है। द्वादशागी मे भी बारहवा अग विशाल एव समग्रश्रुत ज्ञान का भण्डार माना गया है, उसका अध्ययन बहुत ही विशिष्ट प्रतिभा एव श्रुतसम्पन्न साधक कर पाते थे। इसलिए सामान्यत एकादशाग का अध्ययन साधकों के लिए विहित हुआ तथा इसी ओर सबकी गति/मति रही।

जब लिखने की परम्परा नही थी, लिखने के साधनों का विकास भी अल्पतम था, तब आगमों/शास्त्रों/को स्मृति के आधार पर या गुरु-परम्परा से कठस्थ करके सुरक्षित रखा जाता था। सम्भवत इसलिए आगम ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा गया और इसीलिए श्रुति/स्मृति जैसे सार्थक शब्दों का व्यवहार किया गया। भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के एक हजार वर्ष बाद तक आगमों का ज्ञान स्मृति/श्रुति परम्परा पर ही आधारित रहा। पश्चात् स्मृतिदौर्बल्य गुरुपरम्परा का विच्छेद, दुष्काल-प्रभाव आदि अनेक कारणों से धीरे-धीरे आगमज्ञान लुप्त होता चला गया। महासरोवर का जल सूखता-सूखता गोष्पद मात्र रह गया। मुमुक्षु श्रमणों के लिए यह जहाँ चिन्ता का विषय था, वहाँ चिन्तन की तत्परता एव जागरूकता को चुनौती भी थी। वे तत्पर हुए श्रुतज्ञान-निधि के सरक्षण हेतु। तभी महान् श्रुतपारगामी देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण ने विद्वान् श्रमणों का एक सम्मेलन बुलाया और स्मृति-दोष से लुप्त होते आगम ज्ञान को सुरक्षित एव सजोकर रखने का आह्वान किया। सर्व-सम्मति से आगमों को लिपि-बद्ध किया गया।

जिनवाणी को पुस्तकारूढ करने का यह ऐतिहासिक कार्य वस्तुत आज की समग्र ज्ञान-पिपासु प्रजा के लिये एक अवर्णनीय उपकार सिद्ध हुआ । सस्कृति, दर्शन, धर्म तथा आत्म-विज्ञान की प्राचीनतम ज्ञानधारा को प्रवहमान रखने का यह उपक्रम वीरनिर्वाण के ९८० या ९९३ वर्ष पश्चात् प्राचीन नगरी वलभी (सौराष्ट्र) मे आचार्य श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व मे सम्पन्न हुआ। वैसे जैन आगमो की यह दूसरी अन्तिम वाचना थी, पर लिपिबद्ध करने का प्रथम प्रयास था । आज प्राप्त जैन सूत्रो का अन्तिम स्वरूप-सस्कार इसी वाचना मे सम्पन्न किया गया था ।

पुस्तकारूढ होने के बाद आगमो का स्वरूप मूल रूप मे तो सुरक्षित हो गया, किन्तु काल-दोष, श्रमण-सघो के आन्तरिक मतभेद, स्मृति दुर्बलता, प्रमाद एव भारतभूमि पर बाहरी आक्रमणो के कारण विपुल ज्ञान-भण्डारो का विध्वस आदि अनेकानेक कारणो से आगम ज्ञान की विपुल सम्पत्ति, अर्थबोध की सम्यक् गुरु-परम्परा धीरे-धीरे क्षीण एव विलुप्त होने से नही रुकी । आगमो के अनेक महत्त्वपूर्ण पद, सन्दर्भ तथा उनके गूढार्थ का ज्ञान, छिन्न-विच्छिन्न होते चले गए । परिपक्व भाषाज्ञान के अभाव मे, जो आगम हाथ से लिखे जाते थे, वे भी शुद्ध पाठ वाले नही होते, उनका सम्यक् अर्थ-ज्ञान देने वाले भी विरले ही मिलते । इस प्रकार अनेक कारणो से आगम की पावन धारा सकुचित होती गयी ।

विक्रमीय सोलहवी शताब्दी मे वीर लोकाशाह ने इस दिशा मे क्रान्तिकारी प्रयत्न किया । आगमो के शुद्ध और यथार्थ अर्थज्ञान को निरूपित करने का एक साहसिक उपक्रम पुन चालू हुआ । किन्तु कुछ काल बाद उसमे भी व्यवधान उपस्थित हो गये । साम्प्रदायिक-विद्वेष, सैद्धांतिक विग्रह, तथा लिपिकारो का अत्यल्प ज्ञान आगमो की उपलब्धि तथा उसके सम्यक् अर्थबोध मे बहुत बडा विघ्न बन गया । आगम-अभ्यासियो को शुद्ध प्रतिया मिलना भी दुर्लभ हो गया ।

उन्नीसवी शताब्दी के प्रथम चरण मे जब आगम-मुद्रण की परम्परा चली तो सुधी पाठको को कुछ सुविधा प्राप्त हुई । धीरे-धीरे विद्वत्-प्रयासो से आगमो की प्राचीन चूर्णियाँ, निर्युक्तियाँ, टीकाये आदि प्रकाश मे आई और उनके आधार पर आगमो का स्पष्ट-सुगम भावबोध सरल भाषा मे प्रकाशित हुआ । इसमे आगम-स्वाध्यायी तथा ज्ञान-पिपासुजनो को सुविधा हुई । फलत आगमो के पठन-पाठन की प्रवृत्ति बढी है । मेरा अनुभव है, आज पहले से कही अधिक आगम-स्वाध्याय की प्रवृत्ति बढी है, जनता मे आगमो के प्रति आकर्षण व रुचि जागृत हो रही है । इस रुचि-जागरण मे अनेक विदेशी आगमज्ञ विद्वानो तथा भारतीय जैनेतर विद्वानो की आगम-श्रुत-सेवा का भी प्रभाव व अनुदान है, इसे हम सगौरव स्वीकारते है ।

आगम-सम्पादन-प्रकाशन का यह सिलसिला लगभग एक शताब्दी से व्यवस्थित चल रहा है । इस महनीय-श्रुत-सेवा में अनेक समर्थ श्रमणो, पुरुषार्थी विद्वानो का योगदान रहा है । उनकी सेवायें नीव की ईंट की तरह आज भले ही अदृश्य हो, पर विस्मरणीय तो कदापि नही, स्पष्ट व पर्याप्त उल्लेखो के अभाव मे हम अधिक विस्तृत रूप मे उनका उल्लेख करने मे असमर्थ हैं, पर विनीत व कृतज्ञ तो हैं ही । फिर भी स्थानकवासी जैन परम्परा के कुछ विशिष्ट-आगम श्रुत-सेवी मुनिवरो का नामोल्लेख अवश्य करना चाहूंगा ।

आज से लगभग साठ वर्ष पूर्व पूज्य श्री अमोलकऋषिजी महाराज ने जैन आगमो—३२ सूत्रो का प्राकृत से खडी बोली मे अनुवाद किया था । उन्होने अकेले ही बत्तीस सूत्रो का अनुवाद कार्य सिर्फ ३ वर्ष व १५ दिन मे पूर्ण कर एक अद्भुत कार्य किया । उनकी दृढ लगनशीलता, साहस एव आगम ज्ञान की गम्भीरता उनके कार्य से ही स्वत परिलक्षित होती है । वे ३२ ही आगम समय मे प्रकाशित भी हो गये ।

इससे आगमपठन बहुत सुलभ व व्यापक हो गया और स्थानकवासी-तेरापथी समाज तो विशेष उपकृत हुआ ।

गुरुदेव श्री जोरावरमल जी महाराज का संकल्प

मैं जब प्रात स्मरणीय गुरुदेव स्वामीजी श्री जोरावरमलजी म के सान्निध्य मे आगमो का अध्ययन-अनुशीलन करता था तब आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित आचार्य अभयदेव व शीलाक की टीकाओ से युक्त कुछ आगम उपलब्ध थे। उन्ही के आधार पर मैं अध्ययन-वाचन करता था। गुरुदेवश्री ने कई बार अनुभव किया—यद्यपि यह सस्करण काफी श्रमसाध्य व उपयोगी हैं, अब तक उपलब्ध सस्करणो मे प्राय शुद्ध भी हैं, फिर भी अनेक स्थल अस्पष्ट हैं, मूलपाठो मे व वृत्ति मे कही-कही अशुद्धता व अन्तर भी है। सामान्य जन के लिये दुरूह तो हैं ही। चू कि गुरुदेवश्री स्वय आगमो के प्रकाण्ड पण्डित थे, उन्हे आगमो के अनेक गूढार्थ गुरु-गम से प्राप्त थे। उनकी मेधा भी व्युत्पन्न व तर्क-प्रवण थी, अत वे इस कमी को अनुभव करते थे और चाहते थे कि आगमो का शुद्ध, सर्वोपयोगी ऐसा प्रकाशन हो, जिससे सामान्य ज्ञानवाले श्रमण-श्रमणी एव जिज्ञासुजन लाभ उठा सके। उनके मन की यह तडप कई बार व्यक्त होती थी। पर कुछ परिस्थितियो के कारण उनका यह स्वप्न-सकल्प साकार नही हो सका, फिर भी मेरे मन मे प्रेरणा बनकर अवश्य रह गया।

इसी अन्तराल मे आचार्य श्री जवाहरलाल जी महाराज, श्रमणसघ के प्रथम आचार्य जैनधर्म दिवाकर आचार्य श्री आत्माराम जी म०, विद्वद्‌रत्न श्री घासीलालजी म० आदि मनीषी मुनिवरो ने आगमो की हिन्दी, सस्कृत, गुजराती आदि मे सुन्दर विस्तृत टीकाये लिखकर या अपने तत्त्वावधान मे लिखवा कर कमी को पूरा करने का महनीय प्रयत्न किया है।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक आम्नाय के विद्वान् श्रमण परमश्रुतसेवी स्व० मुनि श्री पुण्यविजयजी ने आगम सम्पादन की दिशा मे बहुत व्यवस्थित व उच्चकोटि का कार्य प्रारम्भ किया था। विद्वानो ने उसे बहुत ही सराहा। किन्तु उनके स्वर्गवास के पश्चात् उस मे व्यवधान उत्पन्न हो गया। तदपि आगमज्ञ मुनि श्री जम्बूविजयजी आदि के तत्त्वावधान मे आगम-सम्पादन का सुन्दर व उच्चकोटि का कार्य आज भी चल रहा है।

वर्तमान मे तेरापथ सम्प्रदाय मे आचार्य श्री तुलसी एव युवाचार्य महाप्रज्ञजी के नेतृत्व मे आगम-सम्पादन का कार्य चल रहा है और जो आगम प्रकाशित हुए है उन्हे देखकर विद्वानो को प्रसन्नता है। यद्यपि उनके पाठ-निर्णय मे काफी मतभेद की गु जाइश है। तथापि उनके श्रम का महत्त्व है। मुनि श्री कन्हैयालाल जी म० "कमल" आगमो की वक्तव्यता को अनुयोगो मे वर्गीकृत करके प्रकाशित कराने की दिशा मे प्रयत्नशील हैं। उनके द्वारा सम्पादित कुछ आगमो मे उनकी कार्यशैली की विशदता एव मौलिकता स्पष्ट होती है।

आगम साहित्य के वयोवृद्ध विद्वान् प० श्री बेचरदास जी दोशी, विश्रुत-मनीषी श्री दलसुखभाई मालवणिया जैसे चिन्तनशील प्रज्ञापुरुष आगमो के आधुनिक सम्पादन की दिशा मे स्वय भी कार्य कर रहे है तथा अनेक विद्वानो का मार्ग-दर्शन कर रहे है। यह प्रसन्नता का विषय है।

इस सब कार्य-शैली पर विहगम अवलोकन करने के पश्चात् मेरे मन मे एक सकल्प उठा। आज प्राय सभी विद्वानो की कार्यशैली काफी भिन्नता लिये हुए है। कही आगमो का मूल पाठ मात्र प्रकाशित किया जा रहा है तो कही आगमो की विशाल व्याख्याये की जा रही है। एक पाठक के लिये दुर्बोध है तो दूसरी जटिल। सामान्य पाठक को सरलतापूर्वक आगम ज्ञान प्राप्त हो सके, एतदर्थ मध्यम मार्ग का अनुसरण आवश्यक है। आगमो का एक ऐसा सस्करण होना चाहिये जो सरल हो, सुबोध हो, सक्षिप्त और प्रामाणिक हो। मेरे स्वर्गीय गुरुदेव ऐसा ही आगम-सस्करण चाहते थे। इसी भावना को लक्ष्य मे रखकर मैंने ५-६ वर्ष पूर्व इस विषय की चर्चा प्रारम्भ की थी,

सुदीर्घ चिन्तन के पश्चात् वि. स २०३६ वैशाख शुक्ला दशमी, भगवान् महावीर कैवल्यदिवस को यह दृढ निश्चय घोषित कर दिया और आगमबत्तीसी का सम्पादन-विवेचन कार्य प्रारम्भ भी। इस साहसिक निर्णय मे गुरुभ्राता शासनसेवी श्री ब्रजलाल जी म. की प्रेरणा/प्रोत्साहन तथा मार्गदर्शन मेरा प्रमुख सम्बल बना है। साथ ही अनेक मुनिवरो तथा सद्गृहस्थो का भक्ति-भाव भरा सहयोग प्राप्त हुआ है, जिनका नामोल्लेख किये बिना मन सन्तुष्ट नही होगा। आगम अनुयोग शैली के सम्पादक मुनि श्री कन्हैयालालजी म० "कमल", प्रसिद्ध साहित्यकार श्री देवेन्द्रमुनिजी म० शास्त्री, आचार्य श्री आत्मारामजी म० के प्रशिष्य भडारी श्री पदमचन्दजी म० एवं प्रवचन-भूषण श्री अमरमुनिजी, विद्वद्रत्न श्री ज्ञानमुनिजी म०, स्व० विदुषी महासती श्री उज्ज्वलकु वरजी म० की सुशिष्याए महासती दिव्यप्रभाजी, एम ए. पी-एच डी, महासती मुक्तिप्रभाजी तथा विदुषी महासती श्री उमरावकु वरजी म० 'अर्चना', विश्रुत विद्वान् श्री दलसुखभाई मालवणिया, सुख्यात विद्वान् प श्री शोभाचन्द्र जी भारिल्ल, स्व. प श्री हीरालालजी शास्त्री, डा० छगनलालजी शास्त्री एव श्रीचन्दजी सुराणा "सरस" आदि मनीषियो का सहयोग आगमसम्पादन के इस दुरूह कार्य को सरल बना सका है। इन सभी के प्रति मन आदर व कृतज्ञ भावना से अभिभूत है। इसी के साथ सेवा-सहयोग की दृष्टि से सेवाभावी शिष्य मुनि विनयकुमार एव महेन्द्र मुनि का साहचर्य-सहयोग, महासती श्री कानकु वरजी, महासती श्री झणकारकु वरजी का सेवा भाव सदा प्रेरणा देता रहा है। इस प्रसग पर इस कार्य के प्रेरणा-स्रोत स्व श्रावक चिमनसिंहजी लोढा, स्व श्री पुखराजजी सिसोदिया का स्मरण भी सहजरूप मे हो आता है जिनके अथक प्रेरणा-प्रयत्नो से आगम समिति अपने कार्य मे इतनी शीघ्र सफल हो रही है। दो वर्ष के इस अल्पकाल मे ही दस आगम ग्रन्थो का मुद्रण तथा करीब १५-२० आगमो का अनुवाद-सम्पादन हो जाना हमारे सब सहयोगियो की गहरी लगन का द्योतक है।

मुझे सुदृढ विश्वास है कि परम श्रद्धेय स्वर्गीय स्वामी श्री हजारीमल जी महाराज आदि तपोपूत आत्माओ के शुभाशीर्वाद से तथा हमारे श्रमणसघ के भाग्यशाली नेता राष्ट्र-सत आचार्य श्री आनन्दऋषिजी म० आदि मुनिजनो के सद्भाव-सहकार के बल पर यह सकल्पित जिनवाणी का सम्पादन-प्रकाशन कार्य शीघ्र ही सम्पन्न होगा।

इसी शुभाशा के साथ

— **मुनि मिश्रीमल "मधुकर"**
(युवाचार्य)

सम्पादकीय

(प्रथम संस्करण से)

मौलिक लेखन की अपेक्षा भाषान्तर-अनुवाद करने का कार्य कुछ दुरूह होता है। भाषा दूसरी और भाव भी स्वान्त समुद्भूत नही। उन भावो को भाषान्तर मे बदलना और वह भी इस प्रकार कि अनुवाद की भाषा का प्रवाह अस्खलित रहे, उसकी मौलिकता को आच न आए, सरल नही है। विशेषत आगम के अनुवाद मे तो और भी अधिक कठिनाई का अनुभव होता है। मूल आगम के तात्पर्य-अभिप्राय-आशय मे किंचित् भी अन्यथापन न आ जाए, इस ओर पद-पद पर सावधानी बरतनी पडती है। इसके लिए पर्याप्त भाषाज्ञान और साथ ही आगम के आशय की विशद परिज्ञा अपेक्षित है।

जैनागमो की भाषा प्राकृत-अर्द्धमागधी है। नन्दीसूत्र का प्रणयन भी इसी भाषा मे हुआ है। यह आगम जैनजगत् मे परम मागलिक माना जाता है। अनेक साधक-साधिकाएँ प्रतिदिन इसका पाठ करते है। अतएव इसका अपेक्षाकृत अधिक प्रचलन है। इसके प्रणेता श्री देव वाचक हैं। ये वाचक कौन हैं ? जैन परम्परा मे सुविख्यात देवर्धिगणि ही है या उनसे भिन्न ? इस विषय मे इतिहासविद् विद्वानो में मतभिन्नता है। पन्यास श्रीकल्याणविजय जी म० दोनो को एक ही व्यक्ति स्वीकार करते है। अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होने अनेक प्रमाण भी उपस्थित किए है। किन्तु मुनि श्री पुण्यविजयजी ने अपने द्वारा सम्पादित नन्दीसूत्र की प्रस्तावना मे पर्याप्त ऊहापोह के पश्चात् इस मान्यता को स्वीकार नही किया है।

नन्दीसूत्र के आरम्भ मे दी गई स्थविरावली के अन्तिम स्थविर श्रीमान् दूष्यगणि के शिष्य देववाचक इस सूत्र के प्रणेता है, यह निर्विवाद है। नन्दी-चूर्णि एव श्रीहरिभद्र सूरि तथा श्रीमलयगिरि सूरि की टीकाओ के उल्लेख से यह प्रमाणित है।

इतिहास मेरा विषय नही है। अतएव देववाचक और देवर्धिगणि क्षमाश्रमण की एकता या भिन्नता का निर्णय इतिहासवेत्ताओ को ही अधिक गवेषणा करके निश्चित करना है।

अर्द्धमागधी भाषा और आगमो के आशय को निरन्तर के परिशीलन से हम यत्किञ्चित् जानते है, किन्तु साधिकार जानना और समझना अलग बात है। उसमे जो प्रौढता चाहिए उसका मुझ मे अभाव है। अपनी इस सीमित योग्यता को भली-भाति जानते हुए भी मैं नन्दीसूत्र के अनुवाद-कार्य मे प्रवृत्त हुई, इसका मुख्य कारण परमश्रद्धेय गुरुदेव श्रमणसघ के युवाचार्य श्री मधुकरमुनिजी म० सा० की तथा मेरे विद्यागुरु श्रीयुत प० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल की आग्रहपूर्ण प्रेरणा है। इसीसे प्रेरित होकर मैंने अनुवादक की भूमिका का निर्वाह मात्र किया है। मुझे कितनी सफलता मिली या नही मिली, इसका निर्णय मैं विद्वज्जनो पर छोडती हूँ।

सर्वप्रथम पूज्य आचार्यश्री आत्मारामजी महाराज के प्रति सविनय आभार प्रकट करना अपना परम कर्त्तव्य मानती हूँ। आचार्यश्रीजी द्वारा सम्पादित एव अनूदित नन्दीसूत्र से मुझे इस अनुवाद मे सबसे अधिक सहायता मिली है। इसका मैंने अपने अनुवाद मे भरपूर उपयोग किया है। कही-कही विवेचन मे कतिपय नवीन

विषयो का भी समावेश किया है। तथापि यह स्वीकार करने मे मुझे सकोच नही कि आचार्यश्री के अनुवाद को देखे बिना प्रस्तुत सस्करण को तैयार करने का कार्य मेरे लिए अत्यन्त कठिन होता।

साथ ही अपनी सुविनीत शिष्याओ तथा श्रीकमला जैन 'जीजी' एम० ए० का सहयोग भी इस कार्य मे सहायक हुआ है। पडितप्रवर श्री विजयमुनिजी म० शास्त्री ने विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना लिख कर प्रस्तुत सस्करण की उपादेयता मे वृद्धि की है। इन सभी के योगदान के लिए मैं आभारी हूँ।

अन्त मे एक बात और--

गच्छत स्खलन क्वापि भवत्येव प्रमादत ।

चलते-चलते असावधानी के कारण कही न कही चूक हो ही जाती है। इस नीति के अनुसार स्खलना की सम्भावना से इन्कार नही किया जा सकता। इसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ। सुज्ञ एव सहृदय पाठक यथोचित सुधार कर पढेंगे, ऐसी आशा है।

☐ **जैनसाध्वी उमरावकु वर 'अर्चना'**

प्रस्तावना

(प्रथम सस्करण से)

☐ विजयमुनि शास्त्री

आगमों की दार्शनिक पृष्ठ-भूमि

वेद, जिन और बुद्ध—भारत की दर्शन-परम्परा, भारत की धर्म-परम्परा और भारत की सस्कृति के ये मूल-स्रोत हैं। हिन्दू-धर्म के विश्वास के अनुसार वेद ईश्वर की वाणी हैं। वेदो का उपदेष्टा कोई व्यक्ति-विशेष नही था, स्वय ईश्वर ने उसका उपदेश किया था। अथवा वेद ऋषियो की वाणी है, ऋषियो के उपदेशो का सग्रह है। वैदिक परम्परा का जितना भी साहित्य-विस्तार है, वह सब वेद-मूलक है। वेद और उसका परिवार सस्कृत भाषा मे है। अत वैदिक-सस्कृति के विचारो की अभिव्यक्ति सस्कृत भाषा से ही हुई है।

बुद्ध ने अपने जीवनकाल मे अपने भक्तो को जो उपदेश दिया था—त्रिपिटक उसी का सकलन है। बुद्ध की वाणी को त्रि-पिटक कहा जाता है। बौद्ध-परम्परा के समग्र विचार और समस्त विश्वासो का मूल त्रि-पिटक है। बौद्ध-परम्परा का साहित्य भी बहुत विशाल है, परन्तु पिटको मे बौद्ध सस्कृति के विचारो का समग्र सार आ जाता है। बुद्ध ने अपना उपदेश भगवान् महावीर की तरह उस युग की जनभाषा मे दिया था। बुद्धिवादी वर्ग की उस युग मे, यह एक बहुत बडी क्रान्ति थी। बुद्ध ने जिस भाषा मे उपदेश दिया, उसको पालि कहते हैं। अत पिटको की भाषा, पालि भाषा है।

जिन की वाणी को अथवा जिन के उपदेश को आगम कहा जाता है। महावीर की वाणी—आगम है। जिन की वाणी मे, जिन के उपदेश मे जिनको विश्वास है, वह जैन है। राग और द्वेष के विजेता को जिन कहते हैं। भगवान् महावीर ने राग और द्वेष पर विजय प्राप्त की थी। अत वे जिन थे, तीर्थंकर भी थे। तीर्थंकर की वाणी को जैन परम्परा मे आगम कहते है। भगवान् महावीर के समग्र विचार और समस्त विश्वास तथा समस्त आचार का सग्रह जिसमे है उसे द्वादशागवाणी कहते हैं। भगवान् ने अपना उपदेश उस युग की जन-भाषा मे, जन-बोली मे दिया था। जिस भाषा में भगवान् महावीर ने अपना विश्वास, अपना विचार, अपना आचार व्यक्त किया था, उस भाषा को अर्द्ध-मागधी कहते हैं। जैन परम्परा के विश्वास के अनुसार अर्द्ध-मागधी को देव-वाणी भी कहते है। जैन-परम्परा का साहित्य बहुत विशाल है। प्राकृत, सस्कृत, अपभ्रश, गुजराती, हिन्दी, तमिल, कन्नड, मराठी और अन्य प्रान्तीय भाषाओ मे भी विराट् साहित्य लिखा गया है। आगम-युग का कालमान भगवान् महावीर के निर्वाण अर्थात् विक्रम पूर्व ४७० से प्रारम्भ होकर प्राय एक हजार वर्ष तक जाता है। वैसे किसी न किसी रूप मे आगम-युग की परम्परा वर्तमान युग मे चली आ रही है। आगमो मे जीवन सम्बन्धी सभी विषयो का प्रतिपादन किया गया है। परन्तु यहाँ पर आगमकाल में दर्शन

की स्थिति क्या थी, यह बतलाना भी अभीष्ट है। जिन आगमो में दर्शन-शास्त्र के मूल तत्त्वो का प्रतिपादन किया गया, उनमे से मुख्य आगम हैं—सूत्रकृताग, भगवती, स्थानांग, समवायाग, प्रज्ञापना, राजप्रश्नीय, नदी और अनुयोगद्वार। सूत्रकृताग मे तत्कालीन अन्य दार्शनिक विचारो का निराकरण करके स्वमत की प्ररूपणा की गई है। भूतवादियो का निराकरण करके आत्मा का अस्तित्व बतलाया है। ब्रह्मवाद के स्थान मे नानाआत्मवाद स्थिर किया है। जीव और शरीर को पृथक् बतलाया है। कर्म और उसके फल की सत्ता स्थिर की है। जगत् उत्पत्ति के विषय मे नाना वादो का निराकरण करके विश्व को किसी ईश्वर या अन्य किसी व्यक्ति ने नही बनाया, वह तो अनादि-अनन्त है—इस सिद्धान्त की स्थापना की गई है। तत्कालीन क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद का निराकरण करके विशुद्ध क्रियावाद की स्थापना की गई है। प्रज्ञापना मे जीव के विविध भावो को लेकर विस्तार से विचार किया गया है। राजप्रश्नीय मे पार्श्वनाथ की परम्परा के अनुयायी केशीकुमार श्रमण ने राजा प्रदेशी के प्रश्नो के उत्तर मे नास्तिकवाद का निराकरण करके आत्मा और तत्सम्बन्धी अनेक तथ्यो को दृष्टान्त एव युक्तिपूर्वक समझाया है। भगवती सूत्र के अनेक प्रश्नोत्तरो मे नय, प्रमाण और निक्षेप आदि अनेक दर्शनिक विचार बिखरे पडे हैं। नन्दीसूत्र जैन दृष्टि से ज्ञान के स्वरूप और भेदो का विश्लेषण करने वाली एक सुन्दर एव सरल कृति है। स्थानाग और समवायाग की रचना बौद्ध-परम्परा के अगुतर-निकाय के ढग की है। इन दोनो मे भी आत्मा, पुद्गल, ज्ञान, नय, प्रमाण एव निक्षेप आदि विषयो की चर्चा की गई है। महावीर के शासन मे होने वाले अन्यथावादी निह्नवो का उल्लेख स्थानाग मे है। इस प्रकार के सात व्यक्ति बताये गये हैं, जिन्होने कालक्रम से महावीर के सिद्धान्तो की भिन्न-भिन्न बातो को लेकर मतभेद प्रकट किया था। अनुयोगद्वार मे शब्दार्थ करने की प्रक्रिया का वर्णन मुख्य है। किन्तु यथाप्रसग उसमे प्रमाण, नय एव निक्षेप पद्धति का अत्यन्त सुन्दर निरूपण हुआ है।

आगम-प्रामाण्य मे मतभेद

आगम-प्रामाण्य के विषय मे एकमत नही है। श्वेताम्बर स्थानकवासी परम्परा ११ अग, १२ उपाग, ४ मूल, ४ छेद, और आवश्यक, इस प्रकार ३२ आगमो को प्रमाणभूत स्वीकार करती है। शेष आगमो को नही। इनके अतिरिक्त निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीकाओ को भी सर्वांशत प्रमाणभूत स्वीकार नही करती। दिगम्बर परम्परा उक्त समस्त आगमो को अमान्य घोषित करती है। उसकी मान्यता के अनुसार सभी आगम लुप्त हो चुके है। दिगम्बर-परम्परा का विश्वास है, कि वीर-निर्वाण के बाद श्रुत का क्रम से ह्रास होता गया। यहाँ तक ह्रास हुआ कि वीर-निर्वाण के ६८३ वर्ष के बाद कोई भी अगधर अथवा पूर्वधर नही रहा। अग और पूर्व के अशधर कुछ आचार्य अवश्य हुए हैं। अग और पूर्व के अश-ज्ञाता आचार्यों की परम्परा मे होने वाले पुष्पदन्त, और भूतबलि आचार्यों ने 'षट् खण्डागम' की रचना—द्वितीय अग्रायणीय पूर्व के अश के आधार पर की, और आचार्य गुणधर ने पाँचवें पूर्व ज्ञानप्रवाद के अश के आधार पर 'कषायपाहुड' की रचना की। भूतबलि आचार्य ने 'महाबन्ध' की रचना की। उक्त आगमो मे निहित विषय मुख्य रूप से जीव और कर्म है। बाद मे उक्त ग्रन्थो पर आचार्य वीरसेन ने धवला और जयधवला टीका रची। यह टीका भी उक्त परम्परा को मान्य है। दिगम्बर परम्परा का सम्पूर्ण साहित्य आचार्यों द्वारा रचित है। आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा प्रणीत ग्रन्थ—समयसार, प्रवचनसार, पचास्तिकायसार एव नियमसार आदि भी दिगम्बर-परम्परा मे आगमवत् मान्य हैं। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती के ग्रन्थ—'गोम्मटसार,' 'लब्धिसार' और 'द्रव्यसग्रह' आदि भी उतने ही प्रमाणभूत और मान्य हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थो पर आचार्य अमृतचन्द्र ने अत्यन्त प्रौढ एवं गम्भीर टीकाएँ लिखी हैं। इस प्रकार दिगम्बर आगम-साहित्य भले ही बहुत प्राचीन न हो, फिर भी परिमाण मे वह विशाल है। उर्वर और सुन्दर है।

आगमों का व्याख्या-साहित्य

श्वेताम्बर-परम्परा द्वारा मान्य ४५ आगमों पर व्याख्या-साहित्य बहुत व्यापक एव विशाल है। जैन-दर्शन का प्रारम्भिक रूप ही इन व्याख्यात्मक ग्रन्थो में उपलब्ध नही होता, बल्कि दर्शन-तत्त्व के गम्भीर से गम्भीर विचार भी आगम साहित्य के इन व्याख्यात्मक साहित्य में उपलब्ध होते हैं। आगमो की व्याख्या एव टीका दो भाषा मे हुई है—प्राकृत और सस्कृत। प्राकृत टीका—निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि के नाम से उपलब्ध है। निर्युक्ति और भाष्य पद्यमय हैं और चूर्णि गद्यमय है। उपलब्ध निर्युक्तियों का अधिकाश भाग भद्रबाहु द्वितीय की रचना है। उनका समय विक्रम ५वी या ६ठी शताब्दी है। निर्युक्तियो मे भद्रबाहु ने अनेक स्थलो पर एव अनेक प्रसगो पर दार्शनिक तत्वो की चर्चाएँ बडे सुन्दर ढग से की हैं। विशेष कर बौद्धो और चार्वाको के विषय मे निर्युक्ति मे जहाँ कही भी अवसर मिला उन्होने खण्डन के रूप में अवश्य लिखा है। आत्मा का अस्तित्व उन्होने सिद्ध किया। ज्ञान का सूक्ष्म निरूपण तथा अहिंसा का तात्विक विवेचन किया है। शब्दो के अर्थ करने की पद्धति मे तो वे निष्णात थे ही। प्रमाण, नय और निक्षेप के विषय मे लिखकर भद्रबाहु ने जैन-दर्शन की भूमिका पक्की की है।

किसी भी विषय की चर्चा का अपने समय तक का पूर्ण रूप देखना हो तो भाष्य देखना चाहिए। भाष्यकारो मे प्रसिद्ध आचार्य सघदास गणि और आचार्य क्षमाश्रमण जिनभद्र हैं। इनका समय सातवी शताब्दी है। जिनभद्र ने 'विशेषावश्यक भाष्य' मे आगमिक पदार्थों का तर्कसगत विवेचन किया है। प्रमाण, नय, और निक्षेप की सम्पूर्ण चर्चा तो उन्होंने की ही है, इसके अतिरिक्त तत्वो का भी तात्विक रूप से एव युक्तिसगत विवेचन उन्होने किया है। यह कहा जा सकता है कि दार्शनिक चर्चा का कोई ऐसा विषय नही है जिस पर आचार्य जिनभद्र क्षमाश्रमण ने अपनी समर्थ कलम न चलाई हो। 'बृहत्कल्प' भाष्य में आचार्य सघदास गणि ने साधुओ के आचार एव विहार आदि के नियमो के उत्सर्ग-अपवाद मार्ग की चर्चा दार्शनिक ढग से की है। इन्होने भी प्रसगानुकूल ज्ञान, प्रमाण, नय और निक्षेप के विषय मे पर्याप्त लिखा है। भाष्य साहित्य वस्तुत आगम-युगीन दार्शनिक विचारो का एक विश्वकोष है।

लगभग ७वी तथा ८वीं शताब्दियो की चूर्णियो मे भी दार्शनिक तत्त्व पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं। चूर्णिकारो मे आचार्य जिनदास महत्तर बहुविश्रुत एव प्रसिद्ध हैं। इनकी सबसे बडी चूर्णि 'निशीथ चूर्णि' है। जैन आगम साहित्य का एक भी विषय ऐसा नही है, जिसकी चर्चा सक्षेप मे अथवा विस्तार मे निशीथ चूर्णि मे न की गई हो। 'निशीथ चूर्णि' मे क्या है ? इस प्रश्न की अपेक्षा, यह प्रश्न करना उपयुक्त रहेगा, कि 'निशीथ चूर्णि' मे क्या नही है। उसमे ज्ञान और विज्ञान है, आचार और विचार हैं, उत्सर्ग और अपवाद हैं, धर्म और दर्शन हैं और परम्परा और सस्कृति हैं। जैन परम्परा के इतिहास की ही नही, भारतीय इतिहास की बहुत सी बिखरी कडियाँ 'निशीथ चूर्णि' मे उपलब्ध हो जाती हैं। साधक जीवन का एक भी अग ऐसा नही है, जिसके विषय मे चूर्णिकार की कलम मौन रही हो। यहाँ तक कि बौद्ध जातको के ढग की प्राकृत कथाएँ भी इस चूर्णि मे काफी बडी सख्या मे उपलब्ध हैं। अहिंसा, अनेकान्त, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, तप, त्याग एव सयम—इन सभी विषयो पर आचार्य जिनदास महत्तर ने अपनी सर्वाधिक विशिष्ट कृति 'निशीथ चूर्णि' को एक प्रकार से विचार-रत्नो का महान् आकर ही बना दिया है। 'निशीथ चूर्णि' जैन परम्परा के दार्शनिक साहित्य मे भी सामान्य नही एक विशेष कृति है, जिसे समझना आवश्यक है।

जैन आगमो की सबसे प्राचीन सस्कृत टीका आचार्य हरिभद्र ने लिखी है। उनका समय ७५७ विक्रम से ८५७ के बीच का है। हरिभद्र ने प्राकृत चूर्णियो का प्राय सस्कृत मे अनुवाद ही किया है। कही-कहीं पर

अपने दार्शनिक ज्ञान का उपयोग करना भी उन्होंने ठीक समझा है। उनकी टीकाओ में सभी दर्शनो की पूर्व पक्ष रूप से चर्चा उपलब्ध होती है। इतना ही नही, किन्तु जैन-तत्त्व को दार्शनिक ज्ञान के बल से निश्चित-रूप मे स्थिर करने का प्रयत्न भी देखा जाता है। हरिभद्र के बाद आचार्य शीलाकसूरि ने १०वीं शताब्दी मे आचारांग और सूत्रकृताग पर सस्कृत टीकाओ की रचना की। शीलाक के बाद प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य शान्ति हुए। उन्होंने उत्तराध्ययन की बृहत् टीका लिखी है। इसके बाद प्रसिद्ध टीकाकार अभयदेव हुए जिन्होने नौ अगो पर सस्कृत भाषा मे टीकाएँ रची हैं। उनका जन्म समय विक्रम १०७२ मे और स्वर्गवास विक्रम ११३५ मे हुआ। इन दोनो टीकाकारों ने पूर्व टीकाओ का पूरा उपयोग तो किया ही है, अपनी ओर से भी कही-कही नयी दार्शनिक चर्चा की है। यहाँ मल्लधारी हेमचन्द्र का नाम भी उल्लेखनीय है। वे १२वी शताब्दी के महान् विद्वान् थे। परन्तु आगमो की सस्कृत टीका करने वालो में सर्वश्रेष्ठ स्थान तो आचार्य मलयगिरि का ही है। प्राञ्जल भाषा मे दार्शनिक चर्चाओ से परिपूर्ण टीका यदि देखना हो, तो मलयगिरि की टीकाएँ देखनी चाहिए। उनकी टीकाएँ पढने में शुद्ध दार्शनिक ग्रन्थ पढने का आनन्द आता है। जैन-शास्त्र के धर्म, आचार, प्रमाण, नय, निक्षेप ही नहीं भूगोल एव खगोल आदि सभी विषयो मे उनकी कलम धाराप्रवाह से चलती है और विषय को इतना स्पष्ट करके रखती है कि उस विषय मे दूसरा कुछ देखने की आवश्यकता नही रहती। ये आचार्य हेमचन्द्र के समकालीन थे। अत इनका समय निश्चित रूप से १२वी शताब्दी का उत्तरार्ध एव १३वी शताब्दी का प्रारम्भ माना जाना चाहिए।

संस्कृत प्राकृत टीकाओ का परिमाण इतना बडा है, और विषयो की चर्चाएँ इतनी गहन एव गम्भीर हैं, कि बाद मे यह आवश्यक समझा गया, कि आगमो का शब्दार्थ करने वाली सक्षिप्त टीकाएँ भी हो। समय की गति ने सस्कृत व प्राकृत भाषाओ को बोल-चाल की जन भाषाओ से हटाकर मात्र साहित्य की भाषा बना दिया था। अत तत्कालीन अपभ्र श भाषा मे बालावबोधो की रचना करने वाले बहुत हुए हैं, किन्तु अठारहवी शती मे होने वाले लोकागच्छ के धर्मसिंह मुनि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। क्योंकि इनकी दृष्टि प्राचीन टीकाओ के अर्थ को छोडकर कही-कही स्व-सम्प्रदाय-सम्मत अर्थ करने की भी रही है। आगमसाहित्य की यह बहुत ही सक्षिप्त रूप-रेखा यहाँ प्रस्तुत की है। इसमे आगम के विषय मे मुख्य-मुख्य तथ्यो का एव आगम के दार्शनिको तथ्यो का सक्षेप में सकेत भर किया है। जिससे आगे चलकर आगमो के गुरु गभीर सत्य-तथ्य को समझने मे सहजता एव सरलता हो सके। इससे दूसरा लाभ यह भी हो सकता है कि अध्ययनशील अध्येता आगमो के ऐतिहासिक मूल्य एव महत्त्व को भली-भाँति अपनी बुद्धि की तुला पर तोल सकें। निश्चय ही आगम कालीन दार्शनिक तथ्यो को समझने के लिए मूल आगम से लेकर सस्कृत टीका पर्यन्त समस्त आगमो के अध्ययन की नितान्त आवश्यकता है।

आगमों के दार्शनिक-तत्त्व

मूल आगमो मे क्या-क्या दार्शनिक-तत्त्व हैं, और उनका किस प्रकार से प्रतिपादन किया गया है? उक्त प्रश्नो के समाधान के लिए यह आवश्यक हो जाता है, कि हम आगमगत दार्शनिक विचारो को समझने के लिए अपनी दृष्टि को व्यापक एव उदार रखें, साथ ही अपनी ऐतिहासिक दृष्टि को भी विलुप्त न होने दें। जिस प्रकार वेदकालीन दर्शन की अपेक्षा उपनिषद्-कालीन दर्शन प्रौढतर हैं, और गीता-कालीन दर्शन प्रौढतम माना जाता है, उसी प्रकार जैन दर्शन के सम्बन्ध मे यही विचार है, कि आगमकालीन दर्शन की अपेक्षा आगम के व्याख्या-साहित्य मे जैन दर्शन प्रौढ़तर हो गया है और तत्त्वार्थ सूत्र में पहुँच कर प्रौढतम। यहाँ पर हमे केवल यह देखना है, कि मूल आगमो मे और गौण रूप से उसके व्याख्या-साहित्य मे जैन दर्शन का प्रारम्भिक रूप क्या और कैसा

रहा है ? आगम-कालीन दर्शन को दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है—प्रमेय और प्रमाण अथवा ज्ञेय और ज्ञान । जहाँ तक प्रमेय और ज्ञेय का सम्बन्ध है, जैन आगामो मे स्थान-स्थान पर अनेकान्त दृष्टि, सप्तभगी, नय, निक्षेप, द्रव्य, गुण, पर्याय, तत्व, पदार्थ, द्रव्य-क्षेत्र-काल एव भाव, निश्चय और व्यवहार निमित्त और उपादान-नियति और पुरुषार्थ, कर्म और उसका फल, आचार और योग आदि विषयो का बिखरा हुआ वर्णन आगमो में उपलब्ध होता है । अब रहा इसके विभाग का प्रश्न । उसके सम्बन्ध में यहाँ पर संक्षेप में इतना ही कहना है, कि ज्ञान का और उसके भेद-प्रभेदो का व्यापक रूप से वर्णन आगमो मे उपलब्ध है । ज्ञान के क्षेत्र का एक भी अग और एक भी भेद इस प्रकार का नही है, जिसका वर्णन आगम और उसके व्याख्या साहित्य मे पूर्णता के साथ नही हुआ हो । प्रमाण के सभी भेद और उपभेदो का वर्णन आगमो मे उपलब्ध होता है । जैसे कि प्रमाण और उसके प्रत्यक्ष एव परोक्ष भेद तथा अनुमान और उसके सभी अग, उपमान और शब्द प्रमाण आदि के भेद भी मिलते हैं । नय के लिए आदेश एव दृष्टि शब्द का प्रयोग भी अति प्राचीन आगमो मे किया गया है । नय के द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक भेद किये गये हैं । पर्यायार्थिक के स्थान पर प्रदेशार्थिक शब्द प्रयोग भी अनेक स्थानो पर आया है। सकलादेश और विकलादेश के रूप मे प्रमाण सप्तभगी एव नय सप्तभगी का रूप भी आगम एवं व्याख्या साहित्य मे उपलब्ध होता है । नाम, स्थापना, द्रव्य, और भाव—इन चार निक्षेपो का वर्णन अनेक प्रकार से दिया गया है । स्याद्वाद एव अनेकान्त को सुन्दर ढग से बतलाने के लिए पुम्कोकिल के स्वप्न का कथन भी रूपक का काम करता है । जीव की नित्यता एव अनित्यता पर विचार किया गया है । न्याय-शास्त्र मे प्रसिद्ध वाद, वितण्डा और जल्प जैसे शब्दो का ही नही, उनके लक्षणो का विधान भी आगमो के व्याख्यात्मक साहित्य मे प्राप्त होता है । इस प्रकार प्रमाण खण्ड मे अथवा ज्ञान सम्बन्धी तत्त्वो का वर्णन आगमो मे अनेक प्रसगो मे उपलब्ध होता है । जिसे पढकर यह जाना जा सकता है, कि आगम काल मे जैन परम्परा की दार्शनिक दृष्टि क्या रही है । आगम काल मे षट्द्रव्य और नव पदार्थों का वर्णन किस रूप मे मिलता है और आगे चल कर इसका विकास और परिवर्तन किस रूप मे होता है ? निश्चय ही जैन परम्परा का आगमकालीन दर्शन वेदकालीन वेद-परम्परा के दर्शन से अधिक विकसित और अधिक व्यवस्थित प्रतीत होता है । वेद-कालीन दर्शन में और आगमकालीन दर्शन मे बडा भेद यह भी है, कि यहाँ पर वेद की भाँति बहु-देववाद एव प्रकृतिवाद कभी नही रहा । जैन-दर्शन अपने प्रारम्भिक काल से ही अथवा अपने अत्यन्त प्राचीन काल से आध्यात्मिक एव तात्त्विक दर्शन रहा है ।

प्रमेय-विचार

दर्शन-साहित्य मे प्रमेय एव ज्ञेय दोनो शब्दो का एक ही अर्थ है । प्रमेय का अर्थ है—जो प्रमा का विषय हो । ज्ञेय का अर्थ है—जो ज्ञान का विषय हो । सम्यक्ज्ञान को ही प्रमा कहा जाता है। ज्ञान विषयी होता है । ज्ञान से जो जाना जाता है, उसको विषय अथवा ज्ञेय कहा जाता है । किसी भी ज्ञेय और किसी भी प्रमेय का ज्ञान जैन परम्परा मे अनेकान्त दृष्टि से ही किया जाता है । जैन-दर्शन के अनुसार जब किसी भी विषय पर, किसी भी वस्तु पर अथवा किसी भी पदार्थ पर विचार किया जाता है तो अनेकान्त दृष्टि के द्वारा ही उस का सम्यक् निर्णय किया जा सकता है । प्राचीन तत्त्वव्यवस्था मे, जो भगवान् महावीर से पूर्व पार्श्वनाथ परम्परा से ही चली आ रही थी, महावीर युग मे उसमे क्या नयापन आया, यह एक विचार का विषय है । जैन अनुश्रुति के अनुसार भगवान् महावीर ने किसी नये तत्त्वदर्शन का प्रचार नही किया, किन्तु उनसे २५० वर्ष पूर्व होने वाले तीर्थंकर परमयोगी पार्श्वनाथ सम्मत आचार मे तो महावीर ने कुछ परिवर्तन किया है, जिसकी साक्षी आगम दे रहे हैं, किन्तु पार्श्वनाथ के तत्त्व ज्ञान मे उन्होने किसी भी प्रकार का परिवर्तन नही किया था । पाँच ज्ञान, चार निक्षेप, स्व-चतुष्टय एव पर-चतुष्टय, षट् द्रव्य, सप्त-तत्व, नव-पदार्थ एवं पच अस्तिकाय—इनमे किसी भी

प्रकार का परिवर्तन महावीर ने नहीं किया। कर्म और आत्मा की जो मान्यता पार्श्वनाथ-युग में और उससे भी पूर्व जो ऋषभदेव युग और अरिष्टनेमि युग मे थी उसमे किसी प्रकार का परिवर्तन महावीर ने किया हो, अभी तक ऐसा उल्लेख नही मिलता है। गुणस्थान, लेश्या, एव ध्यान के स्वरूप मे किसी प्रकार का भेद एव अन्तर भगवान् महावीर ने नही डाला। यह सब प्रमेय विस्तार जैन-परम्परा मे महावीर से पूर्व भी था। फिर प्रश्न होता है, महावीर ने जैन-परम्परा को अपनी क्या नयी देन दी ? इसका उत्तर यही दिया जा सकता है, कि भगवान् महावीर ने नय और अनेकान्त दृष्टि, स्याद्वाद और सप्तभगी जैन दर्शन को नयी देन दी है। महावीर से पूर्व के साहित्य मे एव परम्परा मे अनेकान्त एव स्याद्वाद के सम्बन्ध मे उल्लेख मिलता हो, यह प्रमाणित नही होता। महावीर के युग मे स्वय उनके ही अनुयायी अथवा उस युग का अन्य कोई व्यक्ति, जब महावीर से प्रश्न करता तब उसका उत्तर भगवान् महावीर अनेकान्त दृष्टि एव स्याद्वाद की भाषा मे ही दिया करते थे। भगवान् महावीर को केवल-ज्ञान होने से पहले जिन दस महास्वप्नो का दर्शन हुआ था, उसका उल्लेख भगवती सूत्र मे हुआ है। इन स्वप्नो मे से एक स्वप्न मे महावीर ने एक बडे चित्र-विचित्र पाँख वाले पुस्कोकिल को स्वप्न मे देखा था। उक्त स्वप्न का फल यह बताया गया था, कि महावीर आगे चलकर चित्र-विचित्र सिद्धान्त (स्वपर-सिद्धान्त) को बताने वाले द्वादशाग का उपदेश करेंगे। बाद के दार्शनिको ने चित्रज्ञान और चित्रपट को लेकर बौद्ध और न्याय वैशेषिक के सामने अनेकान्त को सिद्ध किया है। उसका मूल इसी मे सिद्ध होता है। स्वप्न मे दृष्ट पुस्कोकिल की पाँखो को चित्र-विचित्र कहने का और आगमो को विचित्र विशेषण देने का विशेष अभिप्राय तो यही मालूम होता है कि उनका उपदेश एकरगी न होकर अनेक रगी था—अनेकान्तवाद था। अनेकान्त शब्द मे सप्त नय का वर्णन अन्तर्भूत हो जाता है। दूसरी बात जो इस सम्बन्ध मे कहनी है, वह यह है, कि जैन आगमो मे विभज्यवाद का प्रयोग भी उपलब्ध होता है। सूत्रकृताग सूत्र मे भिक्षु कैसी भाषा का प्रयोग करे ? इस प्रश्न के उत्तर मे कहा गया है कि भिक्षु को उत्तर देते समय विभज्यवाद का प्रयोग करना चाहिए। विभज्यवाद का तात्पर्य ठीक समझने मे जैन परम्परा के टीका-ग्रन्थो के अतिरिक्त बौद्ध ग्रन्थ भी सहायक होते हैं। बौद्ध 'मज्झिम-निकाय' मे शुभमाणवक के प्रश्न के उत्तर मे भगवान् बुद्ध ने कहा—हे माणवक। मैं विभज्यवादी हूँ, एकाशवादी नही। इसका अर्थ यह है कि जैन परम्परा के विभज्यवाद एव अनेकान्त को बुद्ध ने भी स्वीकार किया था। विभज्यवाद वास्तव मे किसी भी प्रश्न के उत्तर देने की अनेकान्तात्मक एक पद्धति एव शैली ही है। विभज्यवाद और अनेकान्तवाद के विषय मे इतना जान लेने के बाद ही स्याद्वाद की चर्चा उपस्थित होती है। स्याद्वाद का अर्थ है—कथन करने की एक विशिष्ट पद्धति। जब अनेकान्तात्मक वस्तु के किसी एक धर्म का उल्लेख ही अभीष्ट हो तब अन्य धर्मों के सरक्षण के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग जब भाषा एव शब्द मे किया जाता है तब यह कथन स्याद्वाद कहलाता है। स्याद्वाद और सप्तभगी परस्पर उसी प्रकार सयुक्त है, जिस प्रकार नय और अनेकान्त। सप्तभगी मे सप्तभग (सप्त-विकल्प) होते हैं। जिज्ञासा सात प्रकार की हो सकती है। प्रश्न भी सात प्रकार के हो सकते हैं। अत उसका उत्तर भी सात प्रकार से दिया जा सकता है। वास्तव मे यही स्याद्वाद है। जैन-दर्शन की अपनी मौलिकता और नूतन उद्भावना अनेकान्त और स्याद्वाद में ही है।

द्रव्य के सम्बन्ध में जैन आगमो मे अनेक स्थानो पर अनेक प्रकार से वर्णन आया है। द्रव्य, गुण और पर्याय—जैन-आगम-परम्परा मे इन तीनो का व्यापक और विशाल दृष्टि से वर्णन किया गया है। द्रव्य मे गुण रहता है, और गुण का परिणमन ही पर्याय है। इस प्रकार द्रव्य, गुण और पर्याय विभक्त होकर भी अविभक्त हैं। मुख्य रूप से द्रव्य के दो भेद हैं—जीव-द्रव्य और अजीव-द्रव्य। अथवा अन्य प्रकार से दो भेद समझने चाहिए—रूपी द्रव्य और अरूपी द्रव्य। द्रव्यो की संख्या छह है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें से काल को छोडकर शेष द्रव्यो के साथ जब अस्तिकाय लगा दिया जाता है, तब वह पच-अस्तिकाय

कहलाता है। अस्तिकाय शब्द का अर्थ है—प्रदेशो का समूह। काल के प्रदेश नही होते अत इसके साथ अस्तिकाय शब्द नही जोड़ा गया। प्रत्येक द्रव्य मे अनन्त गुण एव धर्म होते हैं। और प्रत्येक गुण की अनन्त पर्याएँ होती हैं। पर्याय के दो भेद हैं—जीव पर्याय और अजीव पर्याय।

निक्षेप के सम्बन्ध मे आगमो मे वर्णन आता है। निक्षेप का अर्थ है—न्यास। निक्षेप के चार भेद हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। जैन सूत्रो की व्याख्याविधि का वर्णन अनुयोगद्वार सूत्र मे आता है। यह विधि कितनी प्राचीन है? इसके विषय मे निश्चित कुछ नही कहा जा सकता। परन्तु अनुयोगद्वार सूत्र के अध्ययन करने वाले व्यक्ति को इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है, कि व्याख्याविधि का अनुयोगद्वार सूत्र मे जो वर्णन उपलब्ध है, वह पर्याप्त प्राचीन होना चाहिए। अनुयोग या व्याख्या के द्वारो के वर्णन मे नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—इन चार निक्षेपो का वर्णन आता है। अनुयोगद्वार सूत्र मे तो निक्षेपो के विषय मे पर्याप्त विवेचन है, किन्तु यह गणधरकृत नही समझा जाता। गणधरकृत अगो मे से स्थानाग सूत्र मे 'सर्व' के जो प्रकार बताये हैं, वे सूचित करते है, कि निक्षेपो का उपदेश स्वय भगवान् महावीर ने दिया होगा। शब्द व्यवहार तो हम करते ही हैं, क्योकि इसके बिना हमारा काम चलता नही। पर कभी-कभी यह हो जाता है, कि शब्दो के ठीक अर्थ को—वक्ता के विवक्षित अर्थ को न समझने से बडा अनर्थ हो जाता है। इस अनर्थ का निवारण निक्षेप के द्वारा भगवान् महावीर ने किया है। निक्षेप का अर्थ है—अर्थ-निरूपण-पद्धति। भगवान महावीर ने शब्दो के प्रयोग को चार प्रकार के अर्थों मे विभक्त कर दिया है—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। यह निक्षेप पद्धति प्राचीन से प्राचीन आगमो मे उपलब्ध होती है और नूतन युग के न्याय ग्रन्थो मे भी। उत्तर काल के आचार्यों ने इसका उल्लेख ही नही, नूतन पद्धति से निरूपण भी किया है। उपाध्याय यशोविजयजी ने स्वरचित 'जैनतर्कभाषा' मे प्रमाण एव नय निरूपण के साथ-साथ निक्षेप का निरूपण भी किया है।

आगमो मे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का भी अनेक स्थानो पर वर्णन मिलता है। इन चारो को दो प्रकार से कहा गया है—स्वचतुष्टय—स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव तथा पर-चतुष्टय, पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल और पर-भाव। एक ही वस्तु के विषय मे जो नाना मतो की सृष्टि होती है, उसमे द्रष्टा की रुचि और शक्ति, दर्शन का साधन, दृश्य की दैशिक और कालिक स्थिति, दृष्टा की दैशिक और कालिक स्थिति, दृश्य का स्थूल और सूक्ष्म रूप आदि अनेक कारण है। यही कारण है कि प्रत्येक दृष्टा और दृश्य और प्रत्येक क्षण मे विशेष-विशेष होकर, नाना मतो के सर्जन मे निमित्त बनते हैं। उन कारणो की गणना करना कठिन है। अतएव तत्कृत विशेषो की परिगणना भी असभव है। इसी कारण से वस्तुत सूक्ष्म विशेषताओ के कारण से होने वाले नाना मतो का परिगणन भी असभव है। इस असभव को ध्यान मे रखकर ही भगवान् महावीर ने सभी प्रकार की अपेक्षाओ का साधारणीकरण करने का प्रयत्न किया है और मध्यम मार्ग से सभी प्रकार की अपेक्षाओ का वर्गीकरण चार प्रकार से किया है। ये चार प्रकार इस प्रकार हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। इन्ही के आधार पर प्रत्येक वस्तु के भी चार प्रकार हो जाते है।

प्रमाण-विचार

जैन आगमो मे ज्ञान और प्रमाण का वर्णन अनेक प्रकार से है और अनेक आगमो मे है। प्राचीन आगमो मे प्रमाण की अपेक्षा ज्ञान का ही वर्णन अधिक व्यापकता से किया गया है। नन्दी-सूत्र मे ज्ञान का विस्तार के साथ निरूपण किया गया है। प्रमाण और ज्ञान किसी भी वस्तु को जानने के लिए साधन हैं। ज्ञान के मुख्य रूप से पाँच भेद हैं—मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यव और केवल। पचज्ञान की चर्चा जैन-परम्परा में भगवान्

महावीर से भी पहले थी। इसका प्रमाण राजप्रश्नीय सूत्र में है। भगवान् महावीर ने अपने मुख से अतीत मे होने वाले केशीकुमार श्रमण का वृत्तान्त राजप्रश्नीय में कहा है। शास्त्रकार ने केशीकुमार के मुख से पाँच ज्ञान का निरूपण कराया है। आगमो मे पाँच ज्ञानों के भेद तथा उपभेदों का जो वर्णन है, कर्म-शास्त्र मे ज्ञानावरणीय कर्म के जो भेद एव उपभेदो का वर्णन है, जीव मार्गणाओ में पाँच ज्ञानो का जो वर्णन है, तथा पूर्व गत मे ज्ञानो का स्वतन्त्र निरूपण करने वाला जो ज्ञानप्रवाद पूर्व है—इन सबसे यही फलित होता है, कि पच ज्ञान की चर्चा भगवान् महावीर की पूर्व परम्परा से चली आ रही है। भगवान् महावीर ने अपनी वाणी मे उसी को स्वीकार कर लिया था। इस ज्ञान चर्चा के विकासक्रम को आगम के आधार पर देखना हो, तो उसकी तीन भूमिकाएं स्पष्ट दीखती हैं—प्रथम भूमिका तो वह है—जिसमे ज्ञानो को पाँच भेदो मे ही विभक्त किया गया है। द्वितीय भूमिका मे ज्ञान को प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेदो मे विभक्त करके पाँच ज्ञानो मे से मति और श्रुत को परोक्ष मे तथा अवधि, मन पर्याय और केवल को प्रत्यक्ष मे माना गया है। तृतीय भूमिका मे इन्द्रियजन्य ज्ञानो को प्रत्यक्ष और परोक्ष उभय मे स्थान दिया गया है। इस प्रकार ज्ञान का स्वरूप और उसके भेद और उपभेदो के कारण ज्ञान के वर्णन ने आगमो मे पर्याप्त स्थान ग्रहण किया है।

पच-ज्ञान-चर्चा के क्रमिक विकास की तीनो आगामिक भूमिकाओ की एक विशेषता रही है, कि इनमे ज्ञानचर्चा के साथ इतर दर्शनो मे प्रचलित प्रमाण चर्चा का कोई सम्बन्ध या समन्वय स्थापित नही किया गया है। इन ज्ञानो मे ही सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के भेद के द्वारा आगमकारो ने वही प्रयोजन सिद्ध किया है, जो दूसरो ने प्रमाण और अप्रमाण के द्वारा सिद्ध किया है। आगमकारो ने प्रमाण या अप्रमाण जैसे विशेषण बिना दिए ही प्रथम के तीनो मे अज्ञान-विपर्यय-मिथ्यात्व की कथा सम्यक्त्व की सम्भावना मानी है। और अन्तिम दो मे एकान्त सम्यक्त्व ही बतलाया है। इस प्रकार आगमकारो ने पच-ज्ञानो का प्रमाण और अप्रमाण न कहकर उन विशेषणो का प्रयोजन तो दूसरे प्रकार से निष्पन्न ही कर लिया है ज्ञान का वर्णन आगमो मे अत्यन्त विस्तृत है।

प्रमाण के विषय के मूल जैन आगमो मे और उसके व्याख्या साहित्य मे भी अति विस्तार के साथ तो नहीं, पर सक्षेप मे प्रमाण की चर्चा एवं प्रमाण के भेदो-उपभेदो का कथन अनेक स्थानो पर आया है। जैन-आगमो में प्रमाण-चर्चा ज्ञान चर्चा से स्वतन्त्र रूप से भी आती है। अनुयोगद्वार सूत्र मे प्रमाण-शब्द को उसके विस्तृत अर्थ मे लेकर प्रमाणो का भेद किया गया है। अनुयोगद्वार सूत्र के मत से अथवा नन्दी सूत्र के वर्णन से प्रमाण के दो भेद किये हैं—इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और नोइन्द्रिय-प्रत्यक्ष। इन्द्रिय प्रत्यक्ष मे अनुयोगद्वार सूत्र ने पाचो इन्द्रियो के द्वारा होने वाले पाँच प्रकार के प्रत्यक्ष का समावेश किया है। नो-इन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण मे जैन शास्त्र प्रसिद्ध तीन ज्ञानो का समावेश है—अवधि-प्रत्यक्ष, मन पर्याय प्रत्यक्ष और केवल प्रत्यक्ष। प्रस्तुत मे 'नो' शब्द का अर्थ है—इन्द्रिय का अभाव। ये तीनो ज्ञान इन्द्रियजन्य नही हैं। ये ज्ञान केवल आत्मसापेक्ष हैं। जैन परम्परा के अनुसार इन्द्रिय-जन्य ज्ञानो को परोक्ष-प्रमाण कहा जाता है। किन्तु प्रस्तुत मे प्रमाण-चर्चा पर-सम्मत प्रमाणो के आधार से की है। अतएव यहाँ उसी के अनुसार इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है। वह भी पर-प्रमाण के सिद्धान्त का अनुसरण करके ही कहा गया है। अनुयोगद्वार सूत्र में अनुमान के तीन भेद किये गये हैं—पूर्ववत्, शेषवत् और दृष्ट-साधर्म्यवत्। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि अनुयोगद्वार मे अनुमान के स्वार्थ और परार्थ भेद नही बताए हैं। इस प्रकार मूल आगमो मे और उसके व्याख्यात्मक साहित्य के अनुमान के अनेक प्रकार के भेदों का एव उपभेदों का कथन भी है। अनुमान के अवयवो का भी वर्णन किया गया है। प्रत्यक्ष-प्रमाण और परोक्ष-प्रमाण मे अनेक प्रकार से वर्गीकरण किये गये हैं, किन्तु इनका यहाँ पर सक्षेप मे कथन करना ही अभीष्ट है।

नय-विचार

जैन परम्परा के आगमो मे प्रमाण के साथ-साथ प्रमाण के ही एक अश नय का भी निरूपण किया गया है। नयो के सम्बन्ध मे वर्णन स्थानांगसूत्र मे, अनुयोगद्वारसूत्र मे और भगवतीसूत्र मे भी बिखरे हुए रूप मे उपलब्ध होता है। आगमों मे नय के स्थान पर दो शब्द और मिलते हैं—आदेश और दृष्टि। अनेकान्तात्मक वस्तु के अनन्त धर्मों में से जब किसी एक ही धर्म का ज्ञान किया जाता है, तब उसे नय कहा जाता है। भगवान् महावीर ने यह देखा कि जितने मत, पक्ष अथवा दर्शन हैं, वे अपना एक विशेष पक्ष स्थापित करते हैं और विपक्ष का निरास करते हैं। भगवान् ने तात्कालिक उन सभी दार्शनिको की दृष्टियो को समझने का प्रयत्न किया। उन्होने अनुभव किया कि नाना मनुष्यो के वस्तु-दर्शन मे जो भेद हो जाता है, उसका कारण केवल वस्तु की अनेकरूपता अथवा अनेकान्तात्मकता ही नही, बल्कि नाना मनुष्यो के देखने के प्रकार की अनेकता एवं नानारूपता भी कारण है। इसलिए उन्होने सभी मतो, सभी दर्शनो को वस्तुस्वरूप के दर्शन मे योग्य स्थान दिया है। किसी मत-विशेष एव पथ-विशेष का सर्वथा खण्डन एव सर्वथा निराकरण नही किया है। निराकरण यदि किया है, तो इस अर्थ मे कि जो एकान्त आग्रह का विषय था, अपने ही पक्ष को अपने ही मत या दर्शन को सत्य और दूसरो के मत, दर्शन एव पक्ष को मिथ्या कहने एव मिथ्या मानने का जो कदाग्रह था तथा हठाग्रह था, उसका निराकरण करके उन सभी मतो को एव विचारो को नया रूप दिया है, उसे एकांगी या अधूरा कहा गया है। प्रत्येक मतवादी कदाग्रही होकर दूसरे के मत को मिथ्या मानते थे। वे समन्वय न कर सकने के कारण एकान्तवाद के दलदल मे फस जाते थे। भगवान् महावीर ने उन्ही के मतो को स्वीकार करके उनमें से कदाग्रह का एव मिथ्याग्रह का विष निकाल कर सभी का समन्वय करके अनेकान्तमयी सजीवनी औषध का आविष्कार किया है। यही भगवान् महावीर के नयवाद, दृष्टिवाद, आदेशवाद, और अपेक्षावाद का रहस्य है।

नयो के भेद के सम्बन्ध मे एक विचार नही है। कम से कम दो प्रकार से आगमो मे नय-दृष्टि का विभाजन किया गया है। सप्तनय—नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ तथा एवभूत। एक दूसरे प्रकार से भी नयो का विभाजन किया गया है—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। वस्तुत देखा जाये तो काल और देश के भेद से द्रव्यो मे विशेषताएँ अवश्य होती है। किसी भी विशेषता को काल एव देश से मुक्त नही किया जा सकता। अन्य कारणो के साथ काल और देश भी अवश्य साधारण कारण होते हैं। अतएव काल और क्षेत्र पर्यायो के कारण होने से यदि पर्यायो मे समाविष्ट कर लिए जाएँ तो मूल रूप से दो दृष्टियाँ ही रह जाती हैं—द्रव्यप्रधान दृष्टि—द्रव्यार्थिक और पर्याय-प्रधान दृष्टि—पर्यायार्थिक। पर्यायार्थिक नय के लिए आगमो मे प्रदेशार्थिक शब्द का प्रयोग भी किया गया है। एक अन्य प्रकार से भी नयो का विभाजन किया गया है—निश्चयनय और व्यवहारनय। जो दृष्टि स्व-आश्रित होती है, जिसमे पर की अपेक्षा नही रहती, वह निश्चय है और जो दृष्टि पर-आश्रित होती है, जिसमे पर की अपेक्षा रहती है, वह व्यवहारनय। नय एक प्रकार का विशेष दृष्टिकोण है, विचार करने की पद्धति है और अनेकान्तवाद का मूल आधार है। आगमो मे न्याय-शास्त्र समस्त वाद, कथा एव विवाद आदि का भी यथाप्रसग वर्णन आता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मूल आगमो मे और उसके निकटवर्ती व्याख्या साहित्य मे भी यथाप्रसग जैन-दर्शन के मूल तत्वो का निरूपण, विवेचन और विश्लेषण किया है।

नन्दीसूत्र का विषय

नन्दी और अनुयोगद्वार चूलिकासूत्र कहलाते हैं। चूलिका शब्द का प्रयोग उस अध्ययन अथवा ग्रन्थ के लिए होता है जिसमें अवशिष्ट विषयो का वर्णन अथवा वर्णित विषयो का स्पष्टीकरण किया जाता है। दशवैकालिक और महानिशीथ के सम्बन्ध मे इस प्रकार की चूलिकाएँ—चूलाएँ—चूडाएँ उपलब्ध हैं। इनमे मूल ग्रन्थ

के प्रयोजन अथवा विषय को दृष्टि मे रखते हुए ऐसी कुछ आवश्यक बातो पर प्रकाश डाला गया है जिनका समावेश आचार्य ग्रन्थ के किसी अध्ययन मे न कर सके। आजकल इस प्रकार का कार्य पुस्तक के अन्त मे परिशिष्ट जोड़कर सम्पन्न किया जाता है। नन्दी और अनुयोगद्वार भी आगमो के लिए परिशिष्ट का ही कार्य करते है। इतना ही नहीं, आगमो के अध्ययन के लिए ये भूमिका का भी काम देते हैं। यह कथन नन्दी की अपेक्षा अनुयोगद्वार के विषय मे अधिक सत्य है। नन्दी मे तो केवल ज्ञान का ही विवेचन किया गया है, जबकि अनुयोगद्वार मे आवश्यक सूत्र की व्याख्या के बहाने समग्र आगम की व्याख्या अभीष्ट है। अतएव उसमे प्राय आगमो के समस्त मूलभूत सिद्धान्तो का स्वरूप समझाते हुए विशिष्ट पारिभाषिक शब्दो का स्पष्टीकरण किया गया है जिनका ज्ञान आगमो के अध्ययन के लिए आवश्यक ही नही, अनिवार्य है। अनुयोगद्वारसूत्र समझ लेने के पश्चात् शायद ही कोई आगमिक परिभाषा ऐसी रह जाती है जिसे समझने मे जिज्ञासु पाठक को कठिनाई का सामना करना पड़े। यह चूलिका-सूत्र होते हुए भी एक प्रकार से समस्त आगमो की—अगम ज्ञान की नीव है और इसीलिए अपेक्षाकृत कठिन भी है।

नन्दीसूत्र मे पचज्ञान का विस्तार से वर्णन किया गया है। निर्युक्तिकार आदि आचार्यों ने नन्दी शब्द को ज्ञान का ही पर्याय माना है। सूत्रकार ने सर्वप्रथम ५० गाथाओ मे मगलाचरण किया है। तदनन्तर सूत्र के मूल विषय आभिनिबोधिक आदि पांच प्रकार के ज्ञान की चर्चा प्रारम्भ की है। पहले आचार्य ने ज्ञान के पाँच भेद किये है। तदनन्तर प्रकारान्तर से प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप दो भेद किये हैं। प्रत्यक्ष मे इन्द्रियप्रत्यक्ष और नोइन्द्रियप्रत्यक्ष के रूप मे पुन दो भेद किये है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष मे पांच भेद किये हैं और उसमे पाँच प्रकार की इन्द्रियो से होने वाले ज्ञान का समावेश है। इस प्रकार के ज्ञान को जैन न्यायशास्त्र मे साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा जाता है। नोइन्द्रियप्रत्यक्ष मे अवधि, मन पर्यय एव केवलज्ञान का समावेश है। परोक्ष ज्ञान दो प्रकार का है—आभिनिबोधिक और श्रुत। आभिनिबोधिक को मति भी कहते है। आभिनिबोधिक के श्रुतनिश्रित व अश्रुतनिश्रित रूप दो भेद हैं। श्रुतज्ञान के अक्षर, अनक्षर, सज्ञी, असज्ञी, सम्यक्, मिथ्या, सादि, अनादि, सावसान, निरवसान, गमिक, अगमिक, अगप्रविष्ट व अनगप्रविष्ट रूप चौदह भेद है।

नन्दीसूत्र की रचना गद्य व पद्य दोनो मे है। सूत्र का ग्रन्थमान लगभग ७०० श्लोक प्रमाण है। प्रस्तुत सूत्र मे प्रतिपादित विषय अन्य सूत्रो में भी उपलब्ध होते हैं। उदाहरण के लिए अवधि ज्ञान के विषय, सस्थान, भेद आदि पर प्रज्ञापनासूत्र के ३३वें पद मे प्रकाश डाला गया है। भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति) आदि सूत्रो मे विविध प्रकार के अज्ञान का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार मतिज्ञान का भी भगवती आदि सूत्रो मे वर्णन मिलता है। द्वादशागी श्रुत का परिचय समवायागसूत्र मे भी दिया गया है। किन्तु वह नन्दीसूत्र से कुछ भिन्न है। इसी प्रकार अन्यत्र भी कुछ बातो मे नन्दीसूत्र से भिन्नता एव विशेषता दृष्टिगोचर होती है।

मंगलाचरण

सर्वप्रथम सूत्रकार ने सामान्य रूप से अर्हत् को, तत्पश्चात् भगवान् महावीर को नमस्कार किया है। तदनन्तर जैन सघ, चौबीस जिन, ग्यारह गणधर, जिनप्रवचन तथा सुधर्म आदि स्थविरो को स्तुतिपूर्वक प्रणाम किया है।

जयइ जगजीव-जोणी-वियाणओ जगगुरू जगाणदो।
जगणाहो जगबधू, जयई जगप्पियामहो भयव।

जयइ सुआण पभवो, तित्थयराण अपच्छिमो जयइ ।
जयइ गुरू लोगाण, जयइ महप्पा महावीरो ॥

मगल के प्रसग से प्रस्तुत सूत्र मे आचार्य ने जो स्थविरावली-गुरु-शिष्य-परम्परा दी है, वह कल्पसूत्रीय स्थविरावली से भिन्न है। नन्दीसूत्र मे भगवान् महावीर के बाद की स्थविरावली इस प्रकार है—

१ सुधर्म
२ जम्बू
३ प्रभव
४ शय्यम्भव
५ यशोभद्र
६ सम्भूतविजय
७. भद्रबाहु
८ स्थूलभद्र
९ महागिरि
१० सुहस्ती
११ बलिस्सह
१२ स्वाति
१३ श्यामार्य
१४ शाण्डिल्य
१५ समुद्र
१६ मगु
१७ धर्म
१८ भद्रगुप्त
१९ वज्र
२० रक्षित
२१ नन्दिल (आनन्दिल)
२२ नागहस्ती
२३ रेवती नक्षत्र
२४ ब्रह्मदीपकसिंह
२५ स्कन्दिलाचार्य
२६ हिमवन्त
२७ नागार्जुन
२८ श्री गोविन्द
२९ भूतदिन्न
३० लोहित्य
३१ दूष्यगणी

श्रोता और सभा

मगलाचरण के रूप मे अर्हन् आदि की स्तुति करने के बाद सूत्रकार ने सूत्र का अर्थ ग्रहण करने की योग्यता रखने वाले श्रोता का चौदह दृष्टान्तो से वर्णन किया है। वे दृष्टान्त ये है—१ शैल और घन, २. कुटक अर्थात् घडा, ३ चालनी, ४ परिपूर्ण, ५ हस, ६ महिष, ७ मेष, ८ मशक, ९ जलौका, १० बिडाली, ११ जाहक, १२ गौ, १३ भेरी, १४ आभीरी। एतद्विषयक गाथा इस प्रकार है—

सेल-घण-कुडग-चालिणि, परिपुण्णग-हस महिस-मेसे य ।
मसग-जलूग-बिराली, जाहग-गो भेरी आभीरी ॥

इन दृष्टान्तो का टीकाकारो ने विशेष स्पष्टीकरण किया है।

श्रोताओ के समूह को सभा कहते है। सभा कितने प्रकार की होती है ? इस प्रश्न का विचार करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि सभा सक्षेप मे तीन प्रकार की होती है।—ज्ञायिका, अज्ञायिका और दुर्विदग्धा। जैसे हस पानी को छोडकर दूध पी जाता है उसी प्रकार गुणसम्पन्न पुरुष दोषो को छोडकर गुणो को ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार के पुरुषो की सभा ज्ञायिका-परिषद् कहलाती है। जो श्रोता, मृग, सिंह और कुक्कुट के बच्चो के समान प्रकृति से भोले होते हैं तथा असस्थापित रत्नो के समान किसी भी रूप मे स्थापित किये जा सकते हैं—किसी भी मार्ग मे लगाये जा सकते हैं, वे अज्ञायिक है। इस प्रकार के श्रोताओ की सभा अज्ञायिका कहलाती है। जिस प्रकार

कोई ग्रामीण पण्डित किसी भी विषय मे विद्वत्ता नही रखता और न अनादर के भय से किसी विद्वान् से कुछ पूछता ही है किन्तु केवल वातपूर्णवस्ति—वायु से भरी हुई मशक के समान लोगो से अपने पाडित्य की प्रशसा सुनकर फूलता रहता है उसी प्रकार जो लोग अपने आगे किसी को कुछ नही समझते, उनकी सभा दुर्विदग्धा कहलाती है।

ज्ञानवाद

इतनी भूमिका बाँधने के बाद सूत्रकार अपने मूल विषय पर आते हैं। वह विषय है ज्ञान। ज्ञान क्या है ? ज्ञान पाँच प्रकार का है—१ आभिनिबोधिकज्ञान, २ श्रुतज्ञान, ३ अवधिज्ञान, ४ मनपर्ययज्ञान और ५. केवलज्ञान। यह ज्ञान सक्षेप मे दो प्रकार का है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष का क्या स्वरूप है ? प्रत्यक्ष के पुन दो भेद हैं—इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और नोइन्द्रिय-प्रत्यक्ष। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष क्या है ? इन्द्रिय प्रत्यक्ष पाँच प्रकार का है—१. श्रोत्रेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, २ चक्षुरिन्द्रिय-प्रत्यक्ष, ३ घ्राणेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, ४ जिह्वेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, ५ स्पर्शेन्द्रिय-प्रत्यक्ष। नोइन्द्रिय-प्रत्यक्ष क्या है ? नोइन्द्रिय-प्रत्यक्ष तीन प्रकार का है—१. अवधिज्ञान-प्रत्यक्ष, २. मन पर्ययज्ञान-प्रत्यक्ष, ३ केवलज्ञान-प्रत्यक्ष।

सक्षेप मे नन्दीसूत्र मे ये ही विषय हैं। वस्तुत मुख्य विषय पञ्चज्ञान-वाद ही है। आगमिक पद्धति से यह प्रमाण का ही निरूपण है। जैन-दर्शन ज्ञान को प्रमाण मानता है, उस का विषय विभाजन तथा प्रतिपादन दो पद्धतियों से किया गया है—आगमिक-पद्धति और तर्क-पद्धति। नन्दीसूत्र मे, आवश्यकनिर्युक्ति मे और विशेषावश्यक भाष्य मे ज्ञानवाद का अत्यन्त विस्तार से वर्णन किया गया है। निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु, नन्दी-सूत्रकार देववाचक और भाष्यकार जिनभद्र क्षमाश्रमण आगमिक परम्परा के प्रसिद्ध एव समर्थ व्याख्याकार रहे हैं।

आगमो मे नन्दीसूत्र की परिगणना दो प्रकार से की जाती है—मूल सूत्रो मे तथा चूलिका सूत्रो मे। स्थानकवासी परम्परा की मान्यतानुसार मूल सूत्र चार हैं—उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, नन्दी और अनुयोगद्वार। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वारसूत्र को चूलिका सूत्र स्वीकार करती है। ये दोनो आगम समस्त आगमो मे चूलिका रूप रहे हैं। दोनो की रचना अत्यन्त सुन्दर, सरस एव व्यवस्थित है। विषय-निरूपण भी अत्यन्त गम्भीर है। भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से भी दोनो का आगमो मे अत्यन्त गौरवपूण स्थान है।

व्याख्या-साहित्य

आगमो के गम्भीर भावो को समझने के लिए आचार्यों ने समय-समय पर जो व्याख्या-ग्रन्थ लिखे है, वे हैं—निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका। इस विषय मे, मैं पीछे लिख आया हूँ। नन्दीसूत्र पर निर्युक्ति एव भाष्य—दोनो में से एक भी आज उपलब्ध नही है। चूर्णि एव अनेक सस्कृत टीकाएँ आज उपलब्ध हैं। चूर्णि बहुत विस्तृत नही है। आचार्य हरिभद्र कृत सस्कृत टीका, चूर्णि का ही अनुगमन करती है। आचार्य मलयगिरि कृत नन्दी टीका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। गम्भीर भावो को समझने के लिए इससे सुन्दर ग्रन्थ कोई व्याख्या नही है। आचार्य आत्मारामजी महाराज ने नन्दीसूत्र की हिन्दी भाषा मे एक सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की है। आचार्य हस्तीमलजी महाराज ने भी नन्दीसूत्र की हिन्दी व्याख्या प्रस्तुत की है। आचार्य घासीलालजी महाराज ने नन्दीसूत्र की सस्कृत, हिन्दी और गुजराती मे सुन्दर व्याख्या की है।

प्रस्तुत सम्पादन

नन्दीसूत्र का यह सुन्दर संस्करण ब्यावर से प्रकाशित आगम-ग्रन्थमाला की लड़ी की एक कड़ी है। अल्प काल मे ही वहाँ से एक के बाद एक यों अनेक आगम प्रकाशित हो चुके हैं। आचारांगसूत्र दो भागो मे तथा सूत्रकृतांगसूत्र भी दो भागो मे प्रकाशित हो चुका है। ज्ञातासूत्र, उपासकदशांगसूत्र अन्तकृद्दशांगसूत्र, अनुत्तरोपपातिकसूत्र और विपाकसूत्र भी प्रकाशित हो चुके हैं। नन्दीसूत्र आप के समक्ष है।

युवाचार्य श्री मिश्रीमलजी म० 'मधुकर' ने आगमो का अधुनातन बोली मे नवसस्करण करने की जो विशाल योजना अपने हाथो मे ली है, वह सचमुच एक भगीरथ कार्य है। यह कार्य जहाँ उनकी दूरदर्शिता, दृढ सकल्प और आगमो के प्रति अगाधभक्ति का सबल प्रतीक है, वहाँ साथ ही श्रमण सघ की युवाचार्यश्रीजी की अमर कीर्ति का कारण भी बनेगा। वे मेरे पुराने स्नेही मित्र है। उनका स्वभाव मधुर है व समाज को जोडकर, कार्य करने की उनकी अच्छी क्षमता है। उनके ज्ञान, प्रभाव और परिश्रम से सम्पूर्ण आगमो का प्रकाशन सभव हो सका तो समस्त स्थानकवासी जैनसमाज के लिए महान् गौरव का विषय सिद्ध होगा।

प्रस्तुत सस्करण की अपनी विशेषताएँ हैं—शुद्ध मूल पाठ, भावार्थ और फिर विवेचन। विवेचन न बहुत लम्बा है, और न बहुत सक्षिप्त ही। विवेचन मे, निर्युक्ति चूर्णि और सस्कृत टीकाओ का आधार लिया गया है। विषय गम्भीर होने पर भी व्याख्याकार ने उसे सरल एव सरस बनाने का भरसक प्रयास किया है। विवेचन सरल, सम्पादन सुन्दर और प्रकाशन आकर्षक है। अत विवेचक, सम्पादक एव प्रकाशक—तीनो धन्य-वाद के पात्र हैं। नन्दीसूत्र का स्वाध्याय केवल साध्वी-साधु ही नही करते, श्राविका-श्रावक भी करते हैं। नन्दी के स्वाध्याय से जीवन मे आनन्द तथा मगल की अमृत वर्षा होती है। ज्ञान के स्वाध्याय से ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम भी होता है। फिर ज्ञान की अभिवृद्धि होती है। ज्ञान निर्मल होता है। दर्शन विशुद्ध बनता है। चारित्र निर्दोष हो जाता है। तीनो की पूर्णता से निर्वाण का महा लाभ मिलता है। यही है, नन्दीसूत्र के स्वाध्याय की फलश्रुति। यह सूत्र अपने रचनाकाल से ही समाज मे अत्यन्त लोकप्रिय रहा है।

श्रमण सघ के भावी आचार्य पण्डित प्रवर मधुकरजी महाराज की सम्पादकता मे एव सरक्षकता मे आगम प्रकाशन का जो एक महान् कार्य हो रहा है, वह वस्तुत प्रशसनीय है। पूज्य अमोलकऋषिजी महाराज के आगम अत्यन्त सक्षिप्त थे, और आज वे उपलब्ध भी नही होते। पूज्य घासीलालजी महाराज के आगम अत्यन्त विस्तृत है, सामान्य पाठक की पहुच से परे हैं। श्री मधुकरजी के आगम नूतन शैली मे, नूतन भाषा मे और नूतन परिवेश मे प्रकाशित हो रहे है। यह एक महान् हर्ष का विषय है।

नन्दीसूत्र की व्याख्या एक साध्वी की लेखनी से हो रही है, यह एक और भी महान् प्रमोद का विषय है। साध्वीरत्न, महाविदुषी श्री उमरावकुवरजी 'अर्चना' जी स्थानकवासी समाज मे चिरविश्रुता हैं। नन्दीसूत्र का लेखन उनकी कीर्ति को अधिक व्यापक तथा समुज्ज्वल करेगा—इसमे जरा भी सन्देह नही। 'अर्चना' जी सस्कृत भाषा एव प्राकृत भाषा की विदुषी तो है ही, लेकिन उन्होने आगमो का भी गहन अध्ययन किया है, यह तथ्य इस लेखन से सिद्ध हो जाता है। मुझे आशा है, कि अनागत में वे अन्य आगमो की व्याख्या भी प्रस्तुत करेंगी। पण्डित प्रवर शोभाचन्द्रजी भारिल्ल ने इस सम्पादन मे पूरा सहयोग दिया है। सब के प्रयास का ही यह एक सुन्दर परिणाम समाज के सामने आया है। □□

विषयानुक्रम

□□

सिरिदेववायगविरइयं

नन्दीसुत्तं

श्रीदेववाचक-विरचित

नन्दीसूत्र

नन्दीसूत्र

अर्हत्स्तुति

१. जयइ जगजीवजोणी-वियाणओ जगगुरू जगाणंदो ।
जगणाहो जगबंधू जयइ जगप्पियामहो भयवं ॥

१—धर्मस्तिकाय आदि षड् द्रव्य रूप ससार के तथा जीवोत्पत्तिस्थानो के ज्ञाता, जगद्गुरु, भव्य जीवो के लिए आनन्दप्रदाता, स्थावर-जगम प्राणियो के नाथ, विश्वबन्धु, लोक में धर्मोत्पादक होने से ससार के पितामह स्वरूप अरिहन्त भगवान् सदा जयवन्त हैं, क्योंकि उनको कुछ भी जीतना अवशेष नही रहा ।

विवेचन—इस गाथा मे स्तुतिकर्त्ता के द्वारा सर्वप्रथम शासनेश भगवान् अरिहन्त की तथा सामान्य केवली की मगलाचरण के साथ स्तुति की गई है।

'जयइ' पद से यह सिद्ध होता है कि भगवान् उपसर्ग, परिषह, विषय तथा घातिकर्मसमूह के विजेता है। अतएव वे अरिहन्त पद को प्राप्त हुए हैं, और जिनेन्द्र भगवान् ही स्तुत्य और वन्दनीय हैं ।

जो अतीत काल मे एक पर्याय से दूसरे पर्याय को प्राप्त हुआ, वर्त्तमान मे हो रहा है और भविष्य मे होता रहेगा, वह जगत् कहलाता है । जगत् पचास्तिकायमय या षड्द्रव्यात्मक है । यहाँ जीव शब्द से त्रस-स्थावररूप समस्त ससारी प्राणी समझना चाहिए ।

'जीव'—पद यह बोध कराता है कि लोक मे आत्माएँ अनन्त हैं और तीन ही काल मे उनका अस्तित्व है ।

'जोणी'—पद का अर्थ है—कर्मबन्ध से युक्त जीवो के उत्पत्ति-स्थान । ये स्थान चौरासी लाख हैं । सक्षेप मे योनि के नौ भेद भी कहे गए हैं ।

'वियाणओ'—पद से अरिहन्त प्रभु की सर्वज्ञता सिद्ध होती है जिससे वे लोक, अलोक के भाव जानते हैं ।

'जगगुरू'—इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् जीवन और जगत् का रहस्य अपने शिष्य-समुदाय को दर्शाते हैं अर्थात् बताते हैं । 'गु' शब्द का अर्थ अधकार है और 'रु' का अर्थ उसे नष्ट करने वाला । जो शिष्य के अन्तर मे विद्यमान अज्ञानान्धकार को नष्ट करता है, वह 'गुरु' कहलाता है ।

'जगाणन्दो'—भगवान् जगत् के जीवो के लिए आनन्दप्रद हैं । 'जगत्' शब्द से यहाँ सज्ञी पचेन्द्रिय जीव समझना चाहिए, क्योकि इन्ही को भगवान् के दर्शन तथा देशनाश्रवण से आनन्द की प्राप्ति होती है ।

'जगणाहो'—प्रभु समस्त जीवों के योग-क्षेमकारी हैं। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति को योग और प्राप्त वस्तु की सुरक्षा को 'क्षेम' कहते हैं। भगवान् अप्राप्त सम्यग्दर्शन, सयम आदि को प्राप्त कराने वाले तथा प्राप्त की रक्षा करने वाले हैं, अत जगन्नाथ हैं।

'जगबन्धू'—इस विशेषण से ज्ञात होता है कि समस्त त्रस-स्थावर जीवो के रक्षक होने से अरिहन्त देव जगद्-बन्धु है। यहाँ 'जगत्' समस्त त्रस-स्थावर जीवो का वाचक है।

'जगप्पियामहो'—धर्म जगत् का पिता (रक्षक) है और भगवान् धर्म के जनक (प्रवर्त्तक) होने से जगत् के पितामह-तुल्य है। यहा भी 'जगत्' शब्द से प्राणिमात्र समझना चाहिए।

'भयव'—यह विशेषण भगवान् के अतिशयो का सूचक है। 'भग' शब्द मे छह अर्थ समाहित हैं—(१) समग्र ऐश्वर्य (२) त्रिलोकातिशायी रूप (३) त्रिलोक मे व्याप्त यश (४) तीन लोक को चमत्कृत करने वाली श्री (अनन्त आत्मिक समृद्धि) (५) अखण्ड धर्म और (६) पूर्ण पुरुषार्थ। इन छह पर जिसका पूर्ण अधिकार हो, उसे भगवान् कहते हैं।

महावीर-स्तुति

२--जयइ सुयाणं पभवो, तित्थयराणं अपच्छिमो जयइ।
जयइ गुरू लोगाण, जयइ महप्पा महावीरो॥

२—समग्र श्रुतज्ञान के मूलस्रोत, वर्त्तमान अवसर्पिणी काल के चौबीस तीर्थकरो मे अन्तिम तीर्थंकर, तीनों लोको के गुरु महात्मा महावीर सदा जयवन्त हैं, क्योकि उन्होने लोकहितार्थ धर्म-देशना दी और उनको विकार जीतना शेष नही रहा है।

विवेचन—प्रस्तुत गाथा मे भगवान् महावीर की स्तुति की गई है। भगवान् महावीर द्रव्य तथा भाव-श्रुत के उद्भव-स्थल है, क्योकि सर्वज्ञता प्राप्त करने के बाद भगवान् ने जो भी उपदेश दिया वह श्रोताओ के लिए श्रुतज्ञान मे परिणत हो गया।

यहा भगवान् को अन्तिम तीर्थकर, लोकगुरु और महात्मा कहा है।

३—भद्दं सव्वजगुज्जोयगस्स भद्दं जिणस्स वीरस्स।
भद्द सुराऽसुरणमसियस्स भद्द धुयरयस्स॥

३—विश्व मे ज्ञान का उद्योत करने वाले, राग-द्वेष रूप शत्रुओ के विजेता, देवो-दानवो द्वारा वन्दनीय, कर्म-रज से विमुक्त भगवान् महावीर का सदैव भद्र हो।

विवेचन—प्रस्तुत गाथा मे भगवान् महावीर के चार विशेषण आये हैं। चारो चरणो मे चार बार 'भद्द' शब्द का प्रयोग हुआ है। ज्ञानातिशय युक्त, कषाय-विजयी तथा सुरासुरो द्वारा वन्दित होने से वे कल्याणरूप हैं।

संघनगरस्तुति

४—गुण-भवणगहण! सुय-रयणभरिय! दंसण-विसुद्धरत्थागा।
संघनगर! भद्दं ते, अखण्ड—चारित्त-पागारा॥

४—उत्तर गुण रूपी भव्य भवनो से गहन-व्याप्त, श्रुत-शास्त्र-रूप रत्नो से पूरित, विशुद्ध सम्यक्त्व रूप स्वच्छ वीथियों से संयुक्त, अतिचार रहित मूल गुण रूप चारित्र के परकोटे से सुरक्षित, हे सघ-नगर! तुम्हारा कल्याण हो।

विवेचन—रचनाकार ने प्रस्तुत गाथा मे सघ का नगर के रूपक से आख्यान किया है। उत्तर गुणो को नगर के भवनो के रूप मे, श्रुत-सम्पादन को रत्नमय वैभव के रूप मे, विशुद्ध सम्यक्त्व को उसकी गलियो या सड़को के रूप मे तथा अखण्ड चारित्र को परकोटे के रूप मे वर्णित कर उन्होने उसके कल्याण-सवर्धन या विकास की कामना की है। इससे मालूम होता है कि सघ रूप नगर के प्रति स्तुतिकार के हृदय मे कितनी सहानुभूति, वात्सल्य, श्रद्धा और भक्ति थी।

संघ-चक्र की स्तुति

५—संजम-तव-तुंबारयस्स, नमो सम्मत्त-पारियल्लस्स।
अप्पडिचक्कस्स जओ, होउ सया संघ-चक्कस्स॥

५—सत्तरह प्रकार का सयम, संघ-चक्र का तुम्ब-नाभि है। छह प्रकार का बाह्य तप और छह प्रकार का आभ्यन्तर तप बारह आरक हैं, तथा सम्यक्त्व ही जिस चक्र का घेरा है अर्थात् परिधि है, ऐसे भावचक्र को नमस्कार हो, जो अतुलनीय है। उस सघ चक्र की सदा जय हो। यह सघ चक्र अर्थात् भावचक्र भाव-बन्धनो का सर्वथा विच्छेद करने वाला है, इसलिए नमस्कार करने योग्य है।

विवेचन—शस्त्रास्त्रो मे आदिकाल से ही चक्र की मुख्यता रही है। प्राचीन युग मे शत्रुओ का नाश करने वाला सबसे बडा अस्त्र चक्र था, जो अर्धचक्री और चक्रवर्त्ती के पास होता है। इससे ही वासुदेव प्रति-वासुदेव का घात करता है।

इस चक्र की बहुत विलक्षणता है। चक्रवर्त्ती को दिग्विजय करते समय यह मार्ग-दर्शन देता है। पूर्ण छह खण्डो को अपने अधीन किये बिना यह आयुधशाला मे प्रवेश नही करता, क्योंकि वह देवाधिष्ठित होता है। ठीक इसी प्रकार श्रीसघ-चक्र भी अपने अलौकिक गुणो से सम्पन्न है।

संघ-रथ की स्तुति

६—भद्दं सीलपडागूसियस्स, तव-नियम-तुरगजुत्तस्स।
सघ-रहस्स भगवओ, सज्झाय-सुनदिघोसस्स॥

६—अठारह सहस्र शीलाग रूप ऊंची पताकाएँ जिस पर फहरा रही हैं, तप और संयम रूप अश्व जिसमे जुते हुए हैं, पाँच प्रकार के स्वाध्याय (वाचना, पृच्छना, परावर्त्तना, अनुप्रेक्षा और धर्म-कथा) का मगलमय मधुर घोष जिससे निकल रहा है, ऐसे भगवान् संघ-रथ का कल्याण हो।

विवेचन—प्रस्तुत गाथा मे श्रीसंघ को रथ से उपमित किया गया है। जैसे रथ पर पताका फहराती है उसी प्रकार सघ शील रूपी ऊंची पताका से मडित है। रथ में सुन्दर घोड़े जुते रहते है, उसी प्रकार संघ रूपी रथ मे भी तप और नियम रूपी दो अश्व हैं तथा उसमे पाँच प्रकार के स्वाध्याय का मंगलघोष होता है।

पताका, अश्व और नंदीघोष इन तीनो को क्रमशः शील, तप-नियम और स्वाध्याय से उपमित किया है। जैसे रथ सुपथगामी होता है, उसी प्रकार संघ रूपी रथ भी मोक्ष-पथ का गामी है।

संघ-पद्म की स्तुति

७—कम्मरय-जलोह-विणिग्गयस्स, सुय-रयण-दीहनालस्स।
पंचमहव्वय-थिरकन्नियस्स, गुण-केसरालस्स॥

८—सावग-जण-महुअरि-परिवुडस्स, जिणसूरतेयबुद्धस्स।
संघ-पउमस्स भद्दं, समणगण-सहस्सपत्तस्स॥

७-८—जो संघ रूपी पद्म-कमल, कर्म-रज तथा जल-राशि से ऊपर उठा हुआ है—अलिप्त है, जिसका आधार श्रुतरत्नमय दीर्घ नाल है, पाँच महाव्रत जिसकी सुदृढ कर्णिकाएँ हैं, उत्तरगुण जिसका पराग है, जो भावुक जन रूपी मधुकरो—भवरो से घिरा हुआ है, तीर्थंकर रूप सूर्य के केवलज्ञान रूप तेज से विकसित है, श्रमणगण रूप हजार पांखुडी वाले उस संघ-पद्म का सदा कल्याण हो।

विवेचन—इन दोनो गाथाओ मे श्री संघ को कमल की उपमा से अलंकृत किया गया है। जैसे कमलो से सरोवर की शोभा बढ़ती है, वैसे ही श्रीसंघ से मनुष्यलोक की शोभा बढती है। पद्मवर के दीर्घ नाल होती है, श्रीसंघ भी श्रुत-रत्न रूप दीर्घनाल से युक्त है। पद्मवर की स्थिर कर्णिका है, श्रीसंघ-पद्म भी पंच-महाव्रत रूप स्थिर कर्णिका वाला है। पद्म सौरभ, पीत पराग तथा मकरन्द के कारण भ्रमर-भ्रमरी-समूह से घिरा होता है, वैसे ही श्रीसंघ मूल गुण रूप सौरभ से, उत्तर गुण रूपी पीत पराग से, आध्यात्मिक रस, एवं धर्म-प्रवचन से, आनन्दरस-रूप मकरन्द से युक्त है और श्रावकगण रूप भ्रमरो से परिवृत रहता है।

पद्मवर सूर्योदय होते ही विकसित हो जाता है, उसी प्रकार श्रीसंघ रूप पद्म भी तीर्थंकर-सूर्य के केवलज्ञान रूप तेज से विकसित होता है। पद्म, जल और कर्दम से अलिप्त रहता है तो श्रीसंघ रूप पद्म भी कर्मरज से अलिप्त रहता है। पद्मवर के सहस्रो पत्र होते हैं, इसी प्रकार श्रीसंघ रूप पद्म भी श्रमणगण रूप सहस्रो पत्रो से सुशोभित होता है।

इत्यादिक गुणो से युक्त श्रीसंघ रूप पद्म का कल्याण हो।

संघचन्द्र की स्तुति

९—तव-संजम-मय-लंछण! अकिरिय-राहुमुह दुद्धरिस! निच्चं।
जय संघचन्द! निम्मलसम्मत्त—विसुद्धजोण्हागा!॥

९—हे तप प्रधान! संयम रूप मृगचिह्नमय! अक्रियावाद रूप राहु के मुख से सदैव दुर्द्धर्ष! अतिचार रहित सम्यक्त्व रूप निर्मल चाँदनी से युक्त! हे संघचन्द्र! आप सदा जय को प्राप्त करे।

विवेचन—प्रस्तुत गाथा मे श्रीसंघ को चन्द्रमा की उपमा से अलंकृत किया गया है।

जैसे चन्द्रमा मृगचिह्न से अंकित है, सौम्य कान्ति से युक्त तथा गृह, नक्षत्र, तारो से घिरा हुआ होता है, इसी प्रकार श्रीसंघ भी तप, संयम, रूप चिह्न से युक्त है, नास्तिक व मिथ्यादृष्टि रूप

राहु से अग्रस्य अर्थात् ग्रसित नही होने वाला है, मिथ्यात्व-मल से रहित एव स्वच्छ निर्मल निरतिचार सम्यक्त्व रूप ज्योत्स्ना से रहित है। ऐसे सघ-चन्द्र की सदा जय विजय हो।

संघसूर्य की स्तुति

१०—परतित्थिय-गहपहनासगस्स, तवतेय-दित्तलेसस्स।
नाणुज्जोयस्स जए, भद्दं दमसंघ-सूरस्स॥

१०—प्रस्तुत गाथा मे श्रीसंघ को सूर्य की उपमा से उपमित किया गया है।

परतीर्थ अर्थात् एकान्तवादी, दुर्नय का आश्रय लेने वाले परवादी रूप ग्रहो की आभा को निस्तेज करने वाले, तप रूप तेज से सदैव देदीप्यमान, सम्यग्ज्ञान से उजागर, उपशम-प्रधान सघ रूप सूर्य का कल्याण हो।

विवेचन—स्तुतिकार ने यहाँ सघ को सूर्य से उपमित किया है। जैसे सूर्योदय होते ही अन्य सभी ग्रह प्रभाहीन हो जाते है, वैसे ही श्रीसघ रूपी सूर्य के सामने अन्य दर्शनकार, जो एकान्तवाद को लेकर चलते हैं, प्रभाहीन—निस्तेज हो जाते है। अत· साधक जीवो को चतुर्विध श्रीसघ-सूर्य से दूर नही रहना चाहिये। फिर अविद्या, अज्ञान तथा मिथ्यात्व का अन्धकार जीवन को कभी भी प्रभावित नही कर सकता। अत यह सघ-सूर्य कल्याण करने वाला है।

संघसमुद्र की स्तुति

११—भद्दं धिई-वेला-परिगयस्स, सज्झाय-जोग-मगरस्स।
अक्खोहस्स भगवओ, संघ-समुद्दस्स रुंदस्स॥

११—जो धृति अर्थात् मूल गुण तथा उत्तर गुणो से वृद्धिगत आत्मिक परिणाम रूप बढते हुए जल की वेला से परिव्याप्त है, जिसमे स्वाध्याय और शुभ योग रूप मगरमच्छ हैं, जो कर्मविदारण मे महाशक्तिशाली है, और परिषह, उपसर्ग होने पर भी निष्कप-निश्चल है, तथा समस्त ऐश्वर्य से सम्पन्न एव विस्तृत है, ऐसे सघ समुद्र का भद्र हो।

विवेचन—प्रस्तुत गाथा मे श्रीसघ को समुद्र से उपमित किया गया है। जैसे जलप्रवाह के बढने से समुद्र मे ऊर्मियाँ उठती है, और मगरमच्छ आदि जल-जन्तु उसमे विचरण करते हैं, वह अपनी मर्यादा में सदा स्थित रहता है। उसके उदर मे असख्य रत्नराशि समाहित है—तथा अनेक नदियों का समावेश होता रहता है। इसी प्रकार श्रीसघ रूप समुद्र मे भी क्षमा, श्रद्धा, भक्ति, सवेग-निर्वेग आदि सद्गुणो की लहरे उठती रहती है। श्रीसघ स्वाध्याय द्वारा कर्मों का संहार करता है और परिषहों एव उपसर्गो से क्षुब्ध नही होता।

श्रीसघ मे अनेक सद्गुण रूपी रत्न विद्यमान है। श्रीसघ आत्मिक गुणो से भी महान् है। समुद्र चन्द्रमा की ओर बढता है तो श्रीसघ भी मोक्ष की ओर अग्रसर होता है तथा अनन्त गुणो से गम्भीर है। ऐसे भगवान् श्रीसघ रूप समुद्र का कल्याण हो।

प्रस्तुत सूत्रगाथा मे स्वाध्याय को योग प्रतिपादित करके शास्त्रकार ने सूचित किया है कि स्वाध्याय चित्त की एकाग्रता का एक सबल साधन है और उससे चित्त की अप्रशस्त वृत्तियो का निरोध होता है।

संघ-महामन्दर-स्तुति

१२—सम्मद्दंसण-वरवइर,-दढ-रूढ-गाढावगाढपेढस्स ।
धम्म-वर-रयणमंडिय-चामीयर-मेहलागस्स ॥

१३—नियमूसियकणय-सिलायलुज्जलजलंत-चित्त-कूडस्स ।
नंदणवण-मणहरसुरभि-सीलगंधुद्धुमायस्स ॥

१४—जीवदया-सुन्दर कंद रुद्दरिय,—मुणिवर-मइंदइन्नस्स ।
हेउसयधाउपगलंत-रयणदित्तोसहिगुहस्स ॥

१५—संवरवर-जलपगलिय-उज्झरपविरायमाणहारस्स ।
सावगजण-पउररवंत-मोर नच्चंत कुहरस्स ॥

१६—विणयनयप्पवर मुणिवर फुरंत-विज्जुज्जलंतसिहरस्स ।
विविह-गुण-कप्परुक्खगा,—फलभरकुसुमाउलवणस्स ॥

१७—नाणवर-रयण-दिप्पंत,—कंतवेरुलिय-विमलचूलस्स ।
वंदामि विणयपणओ,—संघ-महामन्दरगिरिस्स ॥

१२-१७—सघमेरु की भूपीठिका सम्यग्दर्शन रूप श्रेष्ठ वज्रमयी है अर्थात् वज्रनिर्मित है। तत्वार्थ-श्रद्धान ही मोक्ष का प्रथम अग होने से सम्यक्-दर्शन ही उसकी सुदृढ़ आधार-शिला है। वह शकादि दूषण रूप विवरो से रहित है। प्रतिपल विशुद्ध अध्यवसायो से चिरतन है। तीव्र तत्त्व-विषयक अभिरुचि होने से ठोस है, सम्यक् बोध होने से जीव आदि नव तत्त्वो एव षड् द्रव्यो मे निमग्न होने के कारण गहरा है। उसमे उत्तर गुण रूप रत्न है और मूल गुण स्वर्ण मेखला है। उत्तर गुणो के अभाव मे मूल गुणो की महत्ता नही मानी जाती अत उत्तर गुण ही रत्न हैं, उनसे खचित मूल गुण रूप सुवर्ण-मेखला है, उससे सघ-मेरु अलकृत है।

सघ-मेरु के इन्द्रिय और नोइन्द्रिय का दमन रूप नियम ही उज्ज्वल स्वर्णमय शिलातल हैं। अशुभ अध्यवसायो से रहित प्रतिक्षण कर्म-कलिमल के धुलने से तथा उत्तरोत्तर सूत्र और अर्थ के स्मरण करने से उदात्त चित्त ही उन्नत कूट हैं एवं शील रूपी सौरभ से परिव्याप्त सतोषरूपी मनोहर नन्दनवन है। सघ-सुमेरु मे स्व-परकल्याण रूप जीव-दया ही सुन्दर कन्दराएँ हैं। वे कन्दराएँ कर्म-शत्रुओ को पराजित करने वाले तथा परवादी-मृगो पर विजयप्राप्त दुर्घर्ष तेजस्वी मुनिगण रूपी सिंहो से आकोर्ण हैं और कुबुद्धि के निरास से सैकड़ो अन्वय-व्यतिरेकी हेतु रूप धातुओ से सघ रूप सुमेरु भास्वर है तथा विशिष्ट क्षयोपशम भाव जिनसे झर रहा है ऐसी व्याख्यान-शाला रूप कन्दराएँ देदीप्यमान हो रही हैं।

सघ-मेरु मे आश्रवो का निरोध ही श्रेष्ठ जल है और सवर रूप जल के सतत प्रवहमान झरने ही शोभायमान हार हैं। तथा सघ-सुमेरु के श्रावकजन रूपी मयूरो के द्वारा आनन्द-विभोर होकर पंच परमेष्ठी की स्तुति एव स्वाध्याय रूप मधुर ध्वनि किये जाने से कदरा रूप प्रवचनस्थल मुखरित हैं।

विनय गुण से विनम्र उत्तम मुनिजन रूप विद्युत् की चमक से संघ-मेरु के आचार्य उपाध्याय रूप शिखर सुशोभित हो रहे हैं। सघ-सुमेरु मे विविध प्रकार के मूल और उत्तर गुणों से सम्पन्न मुनिवर ही कल्पवृक्ष हैं, जो धर्म रूप फलो से सम्पन्न हैं और नानाविध ऋद्धि-रूप फूलो से युक्त हैं। ऐसे मुनिवरो से गच्छ-रूप वन परिव्याप्त है।

जैसे मेरु पर्वत की कमनीय एव विमल वैडूर्यमयी चूला है, उसी प्रकार संघ की सम्यक्ज्ञान रूप श्रेष्ठ रत्न ही देदीप्यमान, मनोज्ञ, विमल वैडूर्यमयी चूलिका है। उस सघ रूप महामेरु गिरि के माहात्म्य को मै विनयपूर्वक नम्रता के साथ वन्दन करता हूँ।

विवेचन—प्रस्तुत गाथा मे स्तुतिकार ने श्रीसघ को मेरु पर्वत की उपमा से अलकृत किया है। जितनी विशेषताएँ मेरु पर्वत की हैं उतनी ही विशेषताएँ सघ रूपी सुमेरु की हैं। सभी साहित्यकारो ने सुमेरु पर्वत का माहात्म्य बताया है। मेरु पर्वत जम्बू द्वीप के मध्य भाग में स्थित है, जो एक हजार योजन पृथ्वी मे गहरा तथा निन्यानवे हजार योजन ऊँचा है। मूल मे उसका व्यास दस हजार योजन है। उस पर चार वन है—(१) भद्रशाल, (१) सौमनस वन (३) नन्दन-वन (४) और पाण्डुक वन। उसमे तीन कण्डक हैं—रजतमय, स्वर्णमय और विविध रत्नमय। यह पर्वत विश्व मे सब पर्वतों से ऊँचा है। उसकी चालीस योजन की चूलिका (चोटी) है।

मेरु पर्वत की वज्रमय पीठिका, स्वर्णमय मेखला तथा कनकमयी अनेक शिलाए हैं। दीप्तिमान उत्तु ग अनेक कूट हैं। सभी वनो मे नन्दन विलक्षण वन है, जिसमे अनेक कन्दराएँ हैं और कई प्रकार की धातुएँ है। इस प्रकार मेरु पर्वत विशिष्ट रत्नो का स्रोत है। अनेकानेक गुणकारी औषधियो से परिव्याप्त है। कुहरो मे अनेक पक्षियो के समूह हर्षनिनाद करते हुए कलरव करते हैं तथा मयूर नृत्य करते हैं। उसके ऊँचे-ऊँचे शिखर विद्युत् की प्रभा से दमक रहे है तथा उस पर वन-भाग कल्पवृक्षो से सुशोभित हो रहा है। वे कल्पवृक्ष सुरभित फूलो और फलो से युक्त हैं। इत्यादि विशेषताओ से महागिरिराज विराजमान है और वह अतुलनीय है। इसी पर्वतराज की उपमा से चतुर्विध सघ को उपमित किया गया है।

सघमेरु की पीठिका सम्यग्दर्शन है। स्वर्ण मेखला धर्म-रत्नो से मण्डित है तथा शम दम उपशम आदि नियमो की स्वर्ण-शिलाएँ है। पवित्र अध्यवसाय ही सघ मेरु के दीप्तिमान उत्तु ग कूट हैं। आगमो का अध्ययन, शील, सन्तोष इत्यादि अद्वितीय गुणो रूप नन्दनवन से श्रीसंघ मेरु परिवृत हो रहा है, जो मनुष्यो तथा देवो को भी सदा आनन्दित कर रहा है। नन्दनवन मे आकर देव भी प्रसन्न होते हैं।

संघ-सुमेरु प्रतिवादियो के कुतर्क युक्त असद्वाद का निराकरण रूप नानाविध धातुओ से सुशोभित है। श्रुतज्ञान रूप रत्नो से प्रकाशमान है तथा आमर्ष आदि २८ लब्धिरूप औषधियो से परिव्याप्त है।

वहाँ सवर के विशुद्ध जल के झरने निरन्तर बह रहे हैं। वे झरने मानो श्रीसघमेरु के गले मे सुशोभित हार हो, ऐसे लग रहे हैं। सघ-सुमेरु की प्रवचनशालाएँ जिनवाणी के गभीर घोष से गू ज रही हैं, जिसे सुनकर श्रावक-गण रूप मयूर प्रसन्नता से झूम उठते हैं।

विनय धर्म और नय-सरणि रूप विद्युत् से संघ-सुमेरु दमक रहा है। मूल गुणों एव उत्तर

गुणों से सम्पन्न मुनिजन कल्पवृक्ष के समान शोभायमान हो रहे है क्योकि वे सुख के हेतु एव कर्मफल के प्रदाता विविध प्रकार के योगजन्य लब्धिरूप सुपारिजात कुसुमो से परिव्याप्त हैं। इस प्रकार अलौकिक श्री से सघ-सुमेरु सुशोभित है।

प्रलयकाल के पवन से भी मेरु पर्वत कभी विचलित नही होता है। इसी प्रकार सघरूपी मेरु भी मिथ्या-दृष्टियों के द्वारा दिये गये उपसर्गों और परिषहो से विचलित नही होता। वह अत्यन्त मनोहारी और नयनाभिराम है।

अन्य प्रकार से संघमेरु की स्तुति

१८—गुण-रयणुज्जलकडयं, सील-सुगंधि-तव-मंडिउद्देसं।
सुय-बारसंग-सिहरं, संघमहामन्दरं वंदे॥

१८—सम्यग्ज्ञान-दर्शन और चारित्र गुण रूप रत्नो से सघमेरु का मध्यभाग देदीप्यमान है। इसकी उपत्यकाएँ अहिंसा, सत्य आदि पचशील की सुगध से सुरभित है और तप से शोभायमान हैं। द्वादशागश्रुत रूप उत्तु ग शिखर हैं। इत्यादि विशेषणो से सम्पन्न विलक्षण महामन्दर गिरिराज के सदृश सघ को मैं वन्दन करता हूँ।

विवेचन—प्रस्तुत गाथा मे सघ-मेरु को पूजनीय बनाने वाले चार विशेषण है—गुण, शील, तप और श्रुत। 'गुण' शब्द से मूल गुण उत्तर गुण जानने चाहिए।

'शील' शब्द से सदाचार व पूर्ण ब्रह्मचर्य, 'तप' शब्द से छह बाह्य और छह आभ्यन्तर तप समझना चाहिए तथा श्रुत शब्द से लोकोत्तर श्रुत। ये ही सघमेरु की विशेषताएँ हैं।

संघ-स्तुति विषयक उपसंहार

१९—नगर-रह-चक्क-पउमे, चन्दे सूरे समुद्द-मेरुम्मि।
जो उवमिज्जइ सययं, त सघगुणायरं वंदे॥

१९—नगर, रथ, चक्र, पद्म, चन्द्र, सूर्य, समुद्र, तथा मेरु, इन सब मे जो विशिष्ट गुण समाहित हैं, तदनुरूप श्रीसघ मे भी अलौकिक दिव्य गुण है। इसलिए सघ को सदैव इनसे उपमित किया है। सघ अनन्तानन्त गुणो का आगर है। ऐसे विशिष्ट गुणो से युक्त सघ को मै वन्दन करता हूँ।

विवेचन—प्रस्तुत गाथा मे आठ उपमाओ से श्रीसघ को उपमित करके सघ-स्तुति का उपसहार किया गया है। स्तुतिकार ने गाथा के अन्तिम चरण मे श्रद्धा से नतमस्तक हो श्रीसघ को वन्दन किया है। जो तद्रूप गुणो का आकर है वही भाव निक्षेप है। अत यहा नाम, स्थापना और द्रव्य रूप निक्षेप को छोड़कर केवल भाव निक्षेप ही वन्दनीय समझना चाहिए।

चतुर्विशति-जिन-स्तुति

२०—(वंदे) उसभं अजियं संभवमभिनंदण-सुमइ सुप्पभं सुपासं।
ससिपुप्फवंतसीयल-सिज्जंसं वासुपुज्जं च॥

२१—विमलमणंत य धम्मं संति कुंथुं अरं च मल्लि च।
मुणिसुव्वय नमि नेमिं पासं तह वद्धमाणं च ।।

२०-२१—ऋषभ, अजित, सम्भव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, (सुप्रभ) सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ (शशी), सुविधि (पुष्पदन्त), शीतल, श्रेयास, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शाति, कुंथु, अर, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि, (अरिष्टनेमि), पार्श्व और वर्द्धमान—श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन करता हूँ।

विवेचन—प्रस्तुत दो गाथाओ मे वर्त्तमान अवसर्पिणी काल के चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की गई है। पाच भरत तथा पाच ऐरावत—इन दस ही क्षेत्रो मे अनादि से काल-चक्र का अवसर्पण और उत्सर्पण होता चला आ रहा है। एक काल-चक्र के बारह आरे होते हैं। इनमें छह आरे अवसर्पिणी के और छह उत्सर्पिणी के होते हैं।

प्रत्येक अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी मे चौबीस-चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्त्ती, नौ बलदेव, नौ वासुदेव तथा नौ प्रति-वासुदेव इस प्रकार तिरेसठ शलाका-पुरुष होते हैं।

गणधरावलि

२२—पढमित्थ इंदभूई, बीए पुण होइ अग्गिभूइत्ति।
तइए य वाउभूई, तओ वियत्ते सुहम्मे य ।।
२३—मंडिय-मोरियपुत्ते, अकंपिए चेव अयलभाया य।
मेयज्जे य पहासे, गणहरा हुन्ति वीरस्स ।।

२२-२३—श्रमण भगवान् महावीर के गण-व्यवस्थापक ग्यारह गणधर हुए हैं, जो उनके प्रधान शिष्य थे। उनकी पवित्र नामावलि इस प्रकार है—(१) इन्द्रभूति, (२) अग्निभूति, (३) वायुभूति ये तीनो सहोदर भ्राता और गौतम गोत्र के थे। (४) व्यक्त, (५) सुधर्मा, (६) मण्डितपुत्र (७) मौर्यपुत्र, (८) अकम्पित, (९) अचलभ्राता, (१०) मेतार्य, (११) प्रभास।

विवेचन—ये ग्यारह गणधर भगवान् महावीर के प्रमुख शिष्य थे। भगवान् को वैशाख शुक्ला दशमी को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी। उस समय मध्यपापा नगरी मे सोमिल नामक ब्राह्मण ने अपने यज्ञ-समारोह मे इन ग्यारह ही महामहोपाध्यायो को उनके शिष्यो के साथ आमन्त्रित किया था।

उसी नगर के बाहर महासेन उद्यान मे भगवान् महावीर का पदार्पण हुआ। देवकृत समवसरण की ओर उमडती हुई जनता को देखकर सर्वप्रथम महामहोपाध्याय इन्द्रभूति और उनके पश्चात् अन्य सभी महामहोपाध्याय अपने अपने शिष्यो सहित अहकार और क्रोधावेश मे बारी-बारी से प्रतिद्वन्द्वी के रूप में भगवान् के समवसरण मे पहुँचे। सभी के मन मे जो सन्देह रहा हुआ था, उनके विना कहे ही उसे प्रकट करके सर्वज्ञ देव प्रभु महावीर ने उसका समाधान दिया। इससे प्रभावित होकर सभी ने भगवान् का शिष्यत्व स्वीकार किया। ये गणो की स्थापना करने वाले गणधर कहलाए। गण-गच्छ का कार्य-भार गणधरो के जिम्मे होता है।

'उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा' अर्थात् जगत् का प्रत्येक पदार्थ पर्यायदृष्टि से उत्पन्न और विनष्ट होता है तथा द्रव्यदृष्टि से ध्रुव नित्य-रहता है। इन तीन पदो से समस्त श्रुतार्थ को जान कर गणधर सूत्ररूप से द्वादशाग श्रुत की रचना करते है। वह श्रुत आज भी सासारिक जीवो पर महान् उपकार कर रहा है। अत· गणधर देव परमोपकारी महापुरुष हैं।

वीर–शासन की महिमा

२४—निव्वुइपहसासणयं, जयइ सया सव्वभावदेसणयं।
कुसमय-मय-नासणयं, जिणिंदवरवीरसासणयं ॥

२४—सम्यग्-ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप निर्वाण पथ का प्रदर्शक, जीवादि पदार्थों का अर्थात् सर्व भावों का प्ररूपक, और कुदर्शनो के अहकार का मर्दक जिनेन्द्र भगवान् का शासन सदा-सर्वदा जयवन्त है।

विवेचन—(१) जिन-शासन मुक्ति-पथ का प्रदर्शक है, (२) जिन प्रवचन सर्वभावो का प्रकाशक है, (३) जिन-शासन कुत्सित मान्यताओ का नाशक होने से सर्वोत्कृष्ट और सभी प्राणियो के लिए उपादेय है।

युग-प्रधान-स्थविरालिका-वन्दन

२५—सुहम्मं अग्गिवेसाणं, जंबू नामं च कासवं।
पभवं कच्चायणं वंदे, वच्छं सिज्जंभवं तहा ॥

२५—भगवान् महावीर के पट्टधर शिष्य (१) अग्निवेश्यायन गोत्रीय सुधर्मा स्वामी, (२) काश्यपगोत्रीय श्रीजम्बूस्वामी, (३) कात्यायनगोत्रीय श्रीप्रभव स्वामी तथा (४) वत्सगोत्रीय श्री शय्यम्भवाचार्य को मैं वन्दन करता हूँ।

विवेचन—उक्त तथा आगे की गाथाओ मे भगवान् के निर्वाण पद प्राप्त करने के पश्चात् गणाधिपति होने के कारण सुधर्मा स्वामी आदि कतिपय पट्टधर आचार्यों का अभिवादन किया गया है। यह स्थविरावली सुधर्मा स्वामी से प्रारम्भ होती है क्योंकि इनके सिवाय शेष गणधरो की शिष्यपरम्परा नही चली।

२६—जसभद्दं तुंगियं वंदे, संभूयं चेव माढरं।
भद्दबाहुं च पाइन्नं, थूलभद्दं च गोयमं ॥

२६—(५) तुंगिक गोत्रीय यशोभद्र को, (६) माढर गोत्रीय भद्रबाहु स्वामी को तथा (८) गौतम गोत्रीय स्थूलभद्र को वन्दन करता हूँ।

२७—एलावच्चसगोत्तं, वंदामि महागिरिं सुहत्थिं च।
तत्तो कोसिअ-गोत्तं, बहुलस्स सरिव्वयं वंदे ॥

२७—(९) एलापत्य गोत्रीय आचार्य महागिरि और (१०) सुहस्ती को वन्दन करता हूँ। तथा कौशिक-गोत्र वाले बहुल मुनि के समान वय वाले बलिस्सह को भी वन्दन करता हूँ।

(११) बलिस्सह उस युग के प्रधान आचार्य हुए हैं। दोनों यमल भ्राता तथा गुरुभ्राता होने से स्तुतिकार ने उन्हे बडी श्रद्धा से नमस्कार किया है।

२८—हारियगुत्तं साइं च वंदिमो हारियं च सामज्जं।
वंदे कोसियगोत्तं, संडिल्लं अज्जजीय-धरं॥

२८—(१२) हारीत गोत्रीय स्वाति को (१३) हारीत गोत्रीय श्रीश्यामार्य को तथा (१४) कौशिक गौत्रीय आर्य जीतधर शाण्डिल्य को वन्दन करता हूँ।

२९—ति-समुद्दखाय कित्तिं, दीव-समुद्देसु गहियपेयालं।
वंदे अज्जसमुद्दं, अक्खुभियसमुद्दगंभीरं॥

२९—पूर्व, दक्षिण और पश्चिम, इन तीनो दिशाओ मे, समुद्र पर्यन्त, प्रसिद्ध कीर्तिवाले, विविध द्वीप समुद्रो मे प्रामाणिकता प्राप्त अथवा द्वीपसागरप्रज्ञप्ति के विशिष्ट ज्ञाता, अक्षुब्ध समुद्र समान गंभीर (१५) आर्य समुद्र को वन्दन करता हूँ।

'ति-समुद्द-खाय-कित्ति'—इस पद से ध्वनित होता है कि भारतवर्ष की सीमा तीन दिशाओ मे समुद्र-पर्यन्त है।

३०—भणगं करग झरग, पभावगं णाणदंसणगुणाण।
वंदामि अज्जमंगुं, सुय-सागरपारगं धीरं॥

३०—सदैव श्रुत के अध्ययन-अध्यापन मे रत, शास्त्रोक्त क्रिया करने वाले, धर्म-ध्यान के ध्याता, ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि का उद्योत करने वाले तथा श्रुत-रूप सागर के पारगामी धीर (विशिष्ट बुद्धि से सुशोभित) (१६) आर्य मगु को वन्दन करता हूँ।

३१—वंदामि अज्जधम्मं, तत्तो वंदे य भद्दगुत्तं च।
तत्तो य अज्जवइरं, तवनियमगुणेहिं वइरसमं॥

३१—आचार्य (१७) आर्य धर्म को, फिर (१८) श्री भद्रगुप्त को वन्दन करता हूँ। पुन तप नियमादि गुणो से सम्पन्न वज्रवत् सुदृढ (१९) श्री आर्य वज्रस्वामी को वन्दन करता हूँ।

३२—वंदामि अज्जरक्खियखवणे, रक्खिय चरित्तसव्वस्से।
रयण-करंडगभूओ-अणुओगो रक्खिओ जेहिं॥

३२—जिन्होने स्वय के एव अन्य सभी सयमियो के चारित्र सर्वस्व की रक्षा की तथा जिन्होने रत्नो की पेटी के समान अनुयोग की रक्षा की, उन क्षपण-तपस्वीराज (२०) आचार्य श्री आर्य रक्षित को वन्दन करता हूँ।

३३—णाणम्मि दंसणम्मि य, तवविणए णिच्चकालमुज्जुत्तं।
अज्जं नंदिल-खमणं, सिरसा वंदे पसन्नमणं॥

ज्ञान, दर्शन, तप और विनयादि गुणो मे सर्वदा उद्यत, तथा राग-द्वेष विहीन प्रसन्नमना, अनेक गुणों से सम्पन्न आर्य (२१) नन्दिल क्षपण को सिर नमाकर वन्दन करता हूँ।

३४—वड्ढउ वायगवंसो, जसवंसो अज्जनागहत्थीणं ।
वागरण-करण-भंगिय-कम्मप्पमडीपहाणाणं ॥

३४—व्याकरण अर्थात् प्रश्नव्याकरण, अथवा सस्कृत तथा प्राकृत भाषा के शब्दानुशासन मे निपुण, पिण्डविशुद्धि आदि उत्तरक्रियाओ और भगो के ज्ञाता तथा कर्मप्रकृति की प्ररूपणा करने मे प्रधान, ऐसे आचार्य नन्दिलक्षपण के पट्टधर शिष्य (२२) आर्य नागहस्ती का वाचक वश मूर्तिमान् यशोवश की तरह अभिवृद्धि को प्राप्त हो ।

३५—जच्चजणधाउसमप्पहाणं, मद्दियकुवलय-निहाणं ।
वड्ढउ वायगवंसो, रेवइनक्खत्त-नामाणं ॥

३५—उत्तम जाति के अजन धातु के सदृश प्रभावोत्पादक, परिपक्व द्राक्षा और नील कमल अथवा नीलमणि के समान कातियुक्त (२३) आर्य रेवतिनक्षत्र का वाचक वश वृद्धि प्राप्त करे ।

३६—अयलपुरा णिक्खंते, कालिय-सुय-आणुओगिए धीरे ।
बंमद्दीवग-सीहे, वायग-पय-मुत्तम पत्ते ॥

३६—जो अचलपुर मे दीक्षित हुए, और कालिक श्रुत की व्याख्या—व्याख्यान मे अन्य आचार्यों से दक्ष तथा धीर थे, जो उत्तम वाचक पद को प्राप्त हुए, ऐसे ब्रह्मद्वीपिक शाखा से उपलक्षित (२४) आचार्य सिह को वन्दन करता हूँ ।

३७—जेसि इमो अणुओगो, पयरइ अज्जावि अड्ढ-भरहम्मि ।
बहुनयर-निग्गय-जसे, ते वंदे खंदिलायरिए ॥

३७—जिनका वर्तमान मे उपलब्ध यह अनुयोग आज भी दक्षिणार्द्ध भरतक्षेत्र मे प्रचलित है, तथा अनेकानेक नगरो मे जिनका सुयश फैला हुआ है, उन (२५) स्कन्दिलाचार्य को मैं वन्दन करता हूँ ।

३८—तत्तो हिमवंत-महंत-विक्कमे धिइ-परक्कममणंते ।
सज्झायमणंतधरे, हिमवंते वंदिमो सिरसा ॥

३८—स्कन्दिलाचार्य के पश्चात् हिमालय के सदृश विस्तृत क्षेत्र मे विचरण करनेवाले अतएव महान् विक्रमशाली, अनन्त धैर्यवान् और पराक्रमी, भाव की अपेक्षा से अनन्त स्वाध्याय के धारक (२६) आचार्य हिमवान् को मस्तक नमाकर वन्दन करता हूँ ।

३९—कालिय-सुय-अणुओगस्स धारए, धारए य पुव्वाणं ।
हिमवंत-खमासमणे वंदे णागज्जुणायरिए ॥

३९—जो कालिक सूत्र सम्बन्धी अनुयोग के धारक और उत्पाद आदि पूर्वों के धारक थे, महान् विशिष्ट ज्ञानी हिमवन्त क्षमाश्रमण को वन्दन करता हूँ । तत्पश्चात् (२७) श्री नागार्जुनाचार्य को वन्दन करता हूँ ।

४०—मिउ-मद्दव सम्पन्ने, अणुपुव्वी-वायगत्तणं पत्ते।
ओहसुयसमायारे, नागज्जुणवायए वंदे ॥

४०—जो अत्यन्त मृदु—कोमल मार्दव, आर्जव आदि भावो से सम्पन्न थे, जो अवस्था व चारित्रपर्याय के क्रम से वाचक पद को प्राप्त हुए तथा ओघश्रुत का समाचरण करने वाले थे, उन (२८) श्री नागार्जुन वाचक को वन्दन करता हूँ।

४१—गोविंदाणं पि नमो, अणुओगे विउलधारणिंदाणं।
णिच्चं खंतिदयाणं परूवणे दुल्लभिंदाणं ॥

४२—तत्तो य भूयदिन्नं, निच्चं तवसंजमे अनिव्विण्णं।
पंडियजण-सम्माणं, वंदामो संजमविहिण्णुं ॥

४१-४२—अनुयोग सम्बन्धी विपुल धारणा रखने वालो मे इन्द्र के समान (प्रधान), सदा क्षमा और दयादि की प्ररूपणा करने मे इन्द्र के लिए भी दुर्लभ ऐसे (२९) श्रीगोविन्दाचार्य को नमस्कार हो।

तत्पश्चात् तप-संयम की साधना-आराधना करते हुए, प्राणान्त उपसर्ग होने पर भी जो खेद से रहित विद्वद्-जनों से सम्मानित, सयम-विधि-उत्सर्ग और अपवाद मार्ग के परिज्ञाता थे, उन (३०) आचार्य भूतदिन्न को वन्दन करता हूँ।

४३—वर-कणग-तविय-चंपग-विमउल-वर-कमल-गब्भसरिवन्ने।
भविय-जण-हियय-दइए, दयागुणविसारए धीरे ॥

४४—अड्ढभरहप्पहाणे बहुविहसज्झाय-सुमुणिय-पहाणे।
अणुओगिय-वरवसभे नाइलकुल-वंसनंदिकरे ॥

४५—जगभूयहियपगब्भे, वंदेऽहं भूयदिन्नमायरिए।
भव-भय-वुच्छेयकरे, सीसे नागज्जुणरिसीणं ॥

४३-४४-४५—जिनके शरीर की कान्ति तपे हुए स्वर्ण के समान देदीप्यमान थी अथवा स्वर्णिम वर्ण वाले चम्पक पुष्प के समान थी या खिले हुए उत्तम जातीय कमल के गर्भ-पराग के तुल्य गौर वर्ण युक्त थी, जो भव्यो के हृदय-वल्लभ थे, जन-मानस मे करुणा भाव उत्पन्न करने मे तथा करुणा करने मे निपुण थे, धैर्यगुण सम्पन्न थे, दक्षिणार्द्ध भरत मे युग प्रधान, बहुविध स्वाध्याय के परिज्ञाता, सुयोग्य सयमी पुरुषो को यथा योग्य स्वाध्याय, ध्यान, वैयावृत्य आदि शुभ क्रियायो मे नियुक्तिकर्ता तथा नागेन्द्र कुल की परम्परा की अभिवृद्धि करने वाले थे, सभी प्राणियो को उपदेश देने मे निपुण और भव-भीति के विनाशक थे, उन आचार्य श्री नागार्जुन ऋषि के शिष्य भूतदिन्न को मैं वन्दन करता हूँ।

विवेचन—श्रीदेववाचक, आचार्य भूतदिन्न के परम श्रद्धालु थे। इसलिए आचार्य के शरीर का, गुणों का, लोकप्रियता का, गुरु का, कुल का, वश का और यश·कीर्ति का परिचय उपर्युक्त तीन गाथाओं मे दिया है। उनके विशिष्ट गुणों का दिग्दर्शन कराना ही वास्तविक रूप मे स्तुति कहलाती है।

४६—सुमुणिय-णिच्चाणिच्चं, सुमुणिय-सुत्तत्थधारयं वंदे ।
सब्भावुब्भावणया, तत्थं लोहिच्चणामाणं ॥

४६—नित्यानित्य रूप से द्रव्यो को समीचीन रूप से जानने वाले, सम्यक् प्रकार से समझे हुए सूत्र और अर्थ के धारक तथा सर्वज्ञ-प्ररूपित सद्भावो का यथाविधि प्रतिपादन करने वाले (३१) श्री लोहित्याचार्य को नमस्कार करता हूँ ।

४७—अत्थ-महत्थक्खाणिं, सुसमणवक्खाण-कहण-निव्वाणिं ।
पयईए महुरवाणिं, पयओ पणमामि दूसगणिं ॥

४७—शास्त्रो के अर्थ और महार्थ की खान के सदृश अर्थात् भाषा, विभाषा, वार्तिकादि से अनुयोग के व्याख्याकार, सुसाधुओं को आगमो की वाचना देते समय शिष्यो द्वारा पूछे हुए प्रश्नो का उत्तर देने मे सतोष व समाधि का अनुभव करने वाले, प्रकृति से मधुर, ऐसे आचार्य (३२) श्री दूष्यगणी को सम्मानपूर्वक वन्दन करता हूँ ।

४८—तव-नियम-सच्च-संजम-विणयज्जव-खंति-मद्दवरयाण ।
सीलगुणगद्दियाणं, अणुओग-जुगप्पहाणाणं ॥

४८ – वे दूष्यगणी तप, नियम, सत्य, सयम, विनय, आर्जव (सरलता), क्षमा, मार्दव (नम्रता) आदि श्रमणधर्म के सभी गुणो मे सलग्न रहने वाले, शील के गुणो से प्रख्यात और अनुयोग की व्याख्या करने में युगप्रधान थे । (ऐसे श्रीदूष्यगणि को वन्दन करता हूँ ।)

४९—सुकुमालकोमलतले, तेसिं पणमामि लक्खणपसत्थे ।
पाए पावयणीणं, पडिच्छिय-सएहिं पणिवइए ॥

४९—पूर्वकथित गुणो से युक्त, उन सभी युगप्रधान प्रवचनकार आचार्यों के प्रशस्त लक्षणो से सम्पन्न, सुकुमार, सुन्दर तलवे वाले और सैकडो प्रातीच्छिको के अर्थात् शिष्यो के द्वारा नमस्कृत, महान् प्रवचनकार श्री दूष्यगणि के पूज्य चरणो को प्रणाम करता हूं ।

विवेचन—जो साधु अपने गण के आचार्य से आज्ञा प्राप्त करके किसी दूसरे गण के आचार्य के समीप अनुयोग-सूत्रव्याख्यान श्रवण करने के लिए जाते हैं और उस गण के आचार्य उन्हे शिष्य के रूप में स्वीकार कर लेते हैं, वे प्रातीच्छिक शिष्य कहलाते हैं।

५० –जे अन्ने भगवंते, कालिय-सुय-आणुओगिए धीरे ।
ते पणमिऊण सिरसा, नाणस्स परूवणं वोच्छं ॥

५०—प्रस्तुत गाथाओ मे जिन अनुयोगधर स्थविरो और आचार्यों को वन्दन किया गया है, उनके अतिरिक्त अन्य जो भी कालिक सूत्रो के ज्ञाता और अनुयोगधर धीर आचार्य भगवन्त हुए हैं, उन सभी को प्रणाम करके (मैं देव वाचक) ज्ञान की प्ररूपणा करूं गा । □□

श्रोताओं के विविध प्रकार

५१—सेलघण-कुडग-चालिणी, परिपुण्णग-हंस-महिस-मेसे य ।
मसग-जलूग-बिराली, जाहग-गो-भेरि-आभीरी ॥

(५१)—(१) शैलघन--चिकना गोल पत्थर और पुष्करावर्त्त मेघ (२) कुटक—घड़ा (३) चालनी (४) परिपूर्णक, (५) हस (६) महिष (७) मेष (८) मशक (९) जलौक—जौक (१०) बिडाली—बिल्ली (११) जाहक (चूहे की जाति विशेष) (१२) गौ (१३) भेरी और (१४) आभीरी (भीलनी) इनके समान श्रोताजन होते है ।

विवेचन - शास्त्र का शुभारम्भ करने से पूर्व विघ्न-निवारण हेतु, मगल-स्वरूप अर्हत् आदि का कीर्तन करने के पश्चात् आगम-ज्ञान को श्रवण करने का अधिकारी कौन होता है ? और किस-प्रकार की परिषद् (श्रोतृसमूह) श्रवण करने योग्य होती है ? यह स्पष्ट करने के लिए चौदह दृष्टान्तो द्वारा श्रोताओ का वर्णन किया गया है ।

उत्तम वस्तु पाने का अधिकारी सुयोग्य व्यक्ति ही होता है । जो जितेन्द्रिय हो, उपहास नही करता हो, किसी का गुप्त रहस्य प्रकाशित नही करता हो, विशुद्ध चारित्रवान् हो, जो अतिचारी, अनाचारी न हो, क्षमाशील हो सदाचारी एव सत्य-प्रिय हो, ऐसे गुणों से युक्त व्यक्ति ही श्रुतज्ञान का लाभ करने का अधिकारी होता है । वही सुपात्र है । इन योग्यताओ मे यदि कुछ न्यूनता हो तो वह पात्र है ।

इन गुणो के विपरीत जो दुष्ट, मूढ एव हठी है, वह कुपात्र है । वह श्रुतज्ञान का अधिकारी नही हो सकता, क्योकि वह प्राय श्रुतज्ञान से दूसरो का ही नही अपितु अपना भी अहित करता है । यहा सूत्रकार ने श्रोताओ को चौदह उपमाओ द्वारा वर्णित किया है । यथा—

(१) **शैल-धन**—यहा शैल का अभिप्राय गोल मू ग के बराबर चिकना पत्थर है । घन पुष्करावर्त्त मेघ को कहा गया है । मुद्गशैल नामक पत्थर पर सात अहोरात्र पर्यन्त निरन्तर मूसलधार पानी वरसता रहे किन्तु वह पत्थर अन्दर से भीगता नही है । इसी प्रकार के श्रोता भी होते हैं, जो तीर्थंकर, श्रुतकेवलियो आदि के उपदेशो से भी सन्मार्ग पर नही आ सकते, तो भला सामान्य आचार्य व मुनियो के उपदेशो का उन पर क्या प्रभाव हो सकता है ! वे गोशालक आजीवक और जमाली के समान दुराग्रही होते हैं । भगवान् महावीर भी उनको सन्मार्गगामी नही बना सके ।

(२) **कुडग**—सस्कृत मे इसे 'कुटक' कहते हैं । कुटक का अर्थ होता है घडा । घडे दो प्रकार के होते हैं, कच्चे और पक्के । अग्नि से जो पकाया नहीं गया है, उस कच्चे घडे मे पानी नही ठहर सकता है । इसी प्रकार जो अबोध शिशु है, वह श्रुतज्ञान के सर्वथा अयोग्य है ।

पक्के घडे भी दो प्रकार के होते हैं —नये और पुराने । इनमे नवीन घट श्रेष्ठ हैं जिसमें डाला हुआ गर्म पानी भी कुछ समय मे शीतल हो जाता है, तथा कोई वस्तु जल्दी विकृत नही होती । इसी प्रकार लघु वय में दीक्षित मुनि में डाले हुए अच्छे संस्कार सुन्दर परिणाम लाते हैं ।

पुराने घडे भी दो प्रकार के होते हैं—एक पानी डाला हुआ और एक विना पानी डाला हुआ—कोरा। इसी प्रकार के श्रोता होते हैं जो युवावस्था होने पर मिथ्यात्व के कलिमल से लिप्त या अलिप्त होते हैं। जो अलिप्त हैं, ऐसे व्यक्ति ही योग्य श्रोता कहलाते है।

जो अन्य वस्तुओ से वासित हो गये है, ऐसे घडे भी दो प्रकार के होते हैं—सुगन्धित पदार्थों से वासित और दुर्गन्धित पदार्थों से वासित। इसी तरह श्रोता भी दो प्रकार के होते हैं। कोई सम्यग् ज्ञानादि गुणो से परिपूर्ण तथा दूसरे क्रोधादि कषायो से युक्त।

अर्थात् जिन श्रोताओ ने मिथ्यात्व, विषय, कषाय के सस्कारो को छोड दिया है, वे श्रुतज्ञान के अधिकारी है, और जिन्होने कुसस्कारो को नही छोडा वे अनधिकारी हैं।

(३) **चालनी**—जो श्रोता उत्तमोत्तम उपदेश व श्रुतज्ञान सुनकर तुरन्त ही भुला देते हैं, जैसे चालनी मे डाला हुआ पानी निकल जाता है। अथवा चालनी सार-सार को छोड देती है, निस्सार (तूसो को) को अपने अन्दर धारण कर रखती है, वैसे ही अयोग्य श्रोता गुणो को छोडकर अवगुणो को ही ग्रहण करते हैं। वे चालनी के समान श्रोता अयोग्य है।

(४) **परिपूर्णक**—जिससे दूध, पानी आदि पदार्थ छाने जाते है, वह छन्ना कहलाता है। वह भी सार को छोड देता है और कूडा-कचरा अपने मे रख लेता है। इसी प्रकार जो श्रोता अच्छाइयो को छोडकर बुराइयो को ग्रहण करते हैं, वे श्रुत के अनधिकारी हैं।

(५) **हंस**—हस के समान जो श्रोता केवल गुणग्राही होते है, वे श्रुतज्ञान के अधिकारी होते हैं। पक्षियो मे हंस श्रेष्ठ माना जाता है। यह पक्षी प्राय जलाशय मानसरोवर, गगा आदि के किनारे रहता है। इस पक्षी की यह विशेषता है कि मिश्रित दूध और पानी मे से भी यह दुग्धाश को ही ग्रहण करता है।

(६) **मेष**—मेढा या बकरी का स्वभाव अगले दोनो घुटने टेककर स्वच्छ जल पीने का है। वे पानी को गन्दा नही करते। इसी प्रकार जो श्रोता शास्त्रश्रवण करते समय एकाग्रचित रहते है, और गुरु को प्रसन्न रखते हैं, वातावरण को मलीन नही बनाते, वे शास्त्र-श्रवण के अधिकारी और सुपात्र होते हैं।

(७) **महिष**—भैंसा जलाशय में घुसकर स्वच्छ पानी को गन्दा बना देता है और जल मे मूत्र-गोबर भी कर देता है। वह न तो स्वय स्वच्छ पानी पीता है और न अपने साथियो को स्वच्छ जल पीने देता है। इसी प्रकार कुछेक श्रोता भैसे के तुल्य होते है। जब आचार्य भगवान् शास्त्र-वाचना दे रहे हो, उस समय न तो स्वय एकाग्रता से सुनते है, न दूसरो को सुनने देते है। वे हँसी-मश्करी, कानाफूसी, कुतर्क तथा वितण्डावाद मे पडकर अमूल्य समय नष्ट करते हैं। ऐसे श्रोता श्रुतज्ञानी के अधिकारी नही हैं।

(८) **मशक**—डाँस-मच्छरो का स्वभाव मधुर राग सुनाकर शरीर पर डक मारने का है। वैसे ही जो श्रोतागण गुरु की निन्दा करके उन्हे कष्ट पहुंचाते हैं, वे अविनीत होते है। वे अयोग्य हैं।

(९) **जलौका**—जिस प्रकार जलौका अर्थात् जौक मनुष्य के शरीर मे फोडे आदि से पीडित स्थान पर लगाने से वहां के दूषित रक्त को ही पीती है, शुद्ध रक्त को नही, इसी प्रकार कुबुद्धि श्रोता

आचार्य आदि के सद्गुणों को व आगम ज्ञान को छोडकर दुर्गुणो को ग्रहण करते हैं। ऐसे व्यक्ति श्रुतज्ञान के अधिकारी नही होते।

(१०) **बिडाली**—बिल्ली स्वभावत दूध दही आदि पदार्थों को पात्र से नीचे गिराकर चाटती है अर्थात् धूलियुक्त पदार्थों का आहार करती है। इसी तरह कई एक श्रोता गुरु से साक्षात् ज्ञान नही लेते, किन्तु इधर-उधर से सुन सुनाकर अथवा पढकर सत्यासत्य का भेद समझे बिना ही ग्रहण करते रहते हैं। वे श्रोता बिल्ली के समान होते हैं और श्रुतज्ञान के पात्र नही होते।

(११) **जाहक**—एक जानवर है। दूध-दही आदि खाद्य पदार्थ जहां है, वही पहुच कर वह थोडा-थोडा खाता है और बीच-बीच मे अपनी बगले चाटता जाता है। इसी प्रकार जो शिष्य पूर्व-गृहीत सूत्रार्थ को पक्का करके नवीन सूत्रार्थ ग्रहण करते है वे श्रोता जाहक के समान आगम ज्ञान के अधिकारो होते है।

(१२) **गौ**—गौ का उदाहरण इस प्रकार है—किसी यजमान ने चार ब्राह्मणो को एक दुधारू गाय दान मे दी। उन चारो ने गाय को न कभी घास दिया न पानी पिलाया, यह सोचकर कि यह मेरे अकेले की तो है नही। वे दूध दोहने के लिए पात्र लेकर आ धमकते थे। आखिर भूखी गाय कब तक दूध देती और जीवित रहती? परिणामस्वरूप भूख-प्यास से पीडित गाय ने एक दिन दम तोड दिया।

ठीक इसी प्रकार के कोई-कोई श्रोता होते हैं, जो सोचते हैं कि गुरुजी मेरे अकेले के तो हैं नही फिर क्यो मैं उनकी सेवा करू? ऐसा सोच कर वे गुरुदेव की सेवा तो करते नही हैं और उपदेश सुनने व ज्ञान सीखने के लिए तत्पर हो जाते हैं। वे श्रुतज्ञान के अधिकारी नही हैं।

इसके विपरीत दूसरा उदाहरण है—एक श्रेष्ठी (सेठ) ने चार ब्राह्मणो को एक ही गाय दी। वे बडी तन्मयता से उसे दाना-पानी देते, उसकी सेवा करते और उससे खूब दूध प्राप्त करके प्रसन्न होते।

इसी प्रकार विनीत श्रोता गुरु को सेवा द्वारा प्रसन्न करके ज्ञान रूपी दुग्ध ग्रहण करते है। वे वास्तव मे ज्ञान के अधिकारी हैं और रत्नत्रय की आराधना करके अजर-अमर हो सकते हैं।

(१३) **भेरी**—एक समय सौधर्माधिपति ने अपनी देवसभा मे प्रशसा के शब्दो मे श्रीकृष्ण की दो विशेषताए बताईं—एक गुण-ग्राहकता और दूसरी नीच युद्ध से परे रहना।

एक देव उनको परीक्षा लेने के विचार से मध्यलोक मे आया। उसने सडे हुए काले कुत्ते का रूप बनाया और जिस रास्ते से कृष्ण जाने वाले थे, उसी रास्ते पर मृतकवत् पड गया। उसके शरीर से तीव्र दुर्गन्ध आ रही थी। उसी राज-पथ से श्रीकृष्ण भगवान् अरिष्टनेमि के दर्शनार्थ निकले। कुत्ते के शरीर की असह्य दुर्गन्ध से सारी सेना घबरा उठी और द्रुतगति से पथ बदलकर आगे बढने लगी। किन्तु श्रीकृष्ण ने औदारिक देह का स्वभाव समझ कर बिना घृणा किए, कुत्ते को देखकर कहा—'देखो तो सही, इस कुत्ते के काले शरीर मे सफेद, स्वच्छ और चमकीले दात कितने सुन्दर दिखाई देते हैं! मानो मरकत मणि के पात्र मे मोतियो की कतार हो।' देव श्रीकृष्ण की इस अद्भुत गुणग्राहकता को जानकर नतमस्तक हो गया। तत्पश्चात् श्रीकृष्ण भगवान् अरिष्टनेमि के दर्शनार्थ द्वारका नगरी के बाहर उद्यान में पहुचे।

कुछ समय पश्चात् वही देव फिर परीक्षा लेने आ गया और अश्वशाला मे से श्रीकृष्ण के एक उत्तम अश्व को लेकर भाग गया। सैनिको के पीछा करने पर भी वह हाथ नही आया। अन्त मे श्रीकृष्ण स्वय घोडा छुडाने के लिए गये। तब अपहरणकर्त्ता देवता ने कहा—'आप मेरे साथ युद्ध करके ही अश्व ले जा सकते हैं।'

श्रीकृष्ण ने कहा—'युद्ध कई प्रकार के होते है, मल्लयुद्ध, मुष्ठि-युद्ध, दृष्टि-युद्ध आदि। तुम कौन-सा युद्ध करना चाहते हो ?'

उनसे कहा—'मैं पीठयुद्ध करना चाहता हू। आपकी भी पीठ हो और मेरी भी पीठ हो।'

उत्तर मे श्रीकृष्ण ने कहा—'ऐसा घृणित व नीच युद्ध करना मेरे गौरव के विरुद्ध है, भले तू अश्व ले जा।' यह सुनकर देव हर्षान्वित होकर अपने असली रूप मे वस्त्राभूषणो से अलकृत होकर, श्रीकृष्ण के चरणो मे नतमस्तक हो गया। इसने इन्द्र द्वारा की गई प्रशसा को स्वीकार किया। वरदानस्वरूप देव ने एक दिव्य भेरी भेट में दी। उसने कहा—इसे छह-छह महीने बाद बजाने से इसमे से सजल मेघ जैसी ध्वनि उत्पन्न होगी। जो भी इसकी ध्वनि को सुनेगा उसे छह महीने तक रोग नही होगा। उसका पूर्वोत्पन्न रोग नष्ट हो जायगा। इसकी ध्वनि बारह योजन तक सुनाई देगी।' यह कहकर देव स्वस्थान को चला गया।

कुछ समय पश्चात् ही द्वारका मे रोग फैला और भेरी बजाई गई। जहा तक उसकी आवाज पहुचो वहा तक के सभी रोगी स्वस्थ हो गए। श्रीकृष्ण ने भेरी अपने विश्वासपात्र सेवक को सौप दी और सारी विधि समझा दी। एक बार एक धनाढ्य गभीर रोग से पीडित होकर और कृष्णजी की भेरी की महिमा सुनकर द्वारका आया। दुर्भाग्य से उसके द्वारका पहुचने से एक दिन पूर्व ही भेरीवादन हो चुका था। वह सोच-विचार मे पड़ गया—भेरी छह महीने बाद बजेगी और तब तक मेरे प्राण-पखेरू उड जायेंगे। सोचते-सोचते अचानक उसे सूझा—'यदि भेरी की ध्वनि सुनने से रोग नष्ट हो सकता है तो उसके एक टुकडे को घिस कर पीने से भी रोग नष्ट हो सकता है।' आखिर उसने भेरीवादक को रिश्वत देकर एक टुकडा प्राप्त कर लिया। उसे घिस कर पीने से वह नीरोग हो गया। मगर भेरी-वादक को रिश्वत लेने का चस्का लग गया। दूसरो को भी वह भेरी काट-काट कर टुकडे देने लगा। काटे हुए टुकडो के स्थान पर वह दूसरे टुकडे जोड देता था। परिणाम यह हुआ कि वह दिव्य भेरी गरीब की गुदडी बन गई। उसका रोगशमन का सामर्थ्य भी नष्ट हो गया। बारह योजन तक—सम्पूर्ण द्वारका मे उसकी ध्वनि भी सुनाई न देती।

श्रीकृष्ण को जब सारा रहस्य ज्ञात हुआ तो कृष्णजी ने भेरीवादक को दण्डित किया तथा जनहित की दृष्टि से तेला करके पुन· देव से भेरी प्राप्त की और विश्वस्त सेवक को दी। यथाज्ञा छह महीने बाद ही भेरी के बजने से जनता लाभान्वित होने लगी।

इस दृष्टान्त का भावार्थ इस प्रकार है—आर्य क्षेत्र रूप द्वारका नगरी है, तीर्थंकर रूप कृष्ण वासुदेव हैं, पुण्य रूप देव हैं। भेरी तुल्य जिनवाणी है। भेरीवादक के रूप में साधु और कर्म रूप रोग है।

इसी प्रकार जो श्रोता या शिष्य आचार्य द्वारा प्रदत्त सूत्रार्थ को छिपाते हैं या उसे बदलते हैं, मिथ्या प्ररूपणा करते हैं, वे अनन्त ससारी होते हैं। किन्तु जो जिन वचनानुसार आचरण करते

हैं, वे मोक्ष के अनन्त सुखों के अधिकारी होते है । जैसे श्रीकृष्ण का विश्वासी सेवक पारितोषिक पाता है और दूसरा निकाला जाता है।

(१४) **अहीर दम्पती**—एक अहीरदम्पती बैलगाडी मे घृत के घड़े भरकर शहर मे बेचने के लिए घीमण्डी में आया । वह गाडी से घड़े उतारने लगा और अहीरनी नीचे खडी होकर लेने लगी। दोनों मे से किसी की असावधानी के कारण घडा हाथ से छूट गया और घी जमीन मे मिट्टी से लिप्त हो गया । इस पर दोनो झगडने लगे । वाद-विवाद बढ़ता गया । बहुत सारा घी अग्राह्य हो गया, कुछ जानवर चट कर गये । जो कुछ बचा उसे बेचने मे काफी विलब हो गया । अत. सायकाल वे दु.खी और परेशान होकर घर लौटे । किन्तु मार्ग मे चोरो ने लूट लिया, मुश्किल से जान बचा कर घर पहुचे ।

इसके विपरीत दूसरा अहीरदम्पती घृत के घडे गाडी मे भरकर शहर में बेचने हेतु आया । असावधानी से घडा हाथ से छूट गया, किन्तु दोनो अपनी-अपनी असावधानी स्वीकार कर, गिरे हुए घी को अविलम्ब समेटने लगे । घी बेच कर सूर्यास्त होने से पहले-पहले ही वे सकुशल घर पहुचे गये ।

उपर्युक्त दोनों उदाहरण अयोग्य और योग्य श्रोताओ पर घटित किये गये हैं । एक श्रोता आचार्य के कथन पर क्लेश करके श्रुतज्ञान रूप घृत को खो बैठता है, वह श्रुतज्ञान का अधिकारी नही हो सकता । दूसरा, आचार्य द्वारा ज्ञानदान प्राप्त करते समय भूल हो जाने पर अविलम्ब क्षमा-याचना कर लेता है तथा उन्हे सतुष्ट करके पुन सूत्रार्थ ग्रहण करता है । वही श्रुतज्ञान का अधिकारी कहलाता है । □□

परिषद् के तीन प्रकार

५२—सा समासओ तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—जाणिया, अजाणिया, दुव्वियड्ढा।
जाणिया जहा—

> **खीरमिव जहा हंसा, जे घुट्टंति इह गुरु-गुण-समिद्धा।**
> **दोसे अ विवज्जंति, त जाणसु जाणिय परिस॥**

५२—वह परिषद् (श्रोताओ का समूह) तीन प्रकार की कही गई है। (१) विज्ञपरिषद् (२) अविज्ञपरिषद् और दुर्विदग्ध परिषद्।

विज्ञ—ज्ञायिका परिषद् का लक्षण इस प्रकार है—

जैसे उत्तम जाति के राजहस पानी को छोडकर दूध का पान करते है, वैसे ही गुणसम्पन्न श्रोता दोषो को छोडकर गुणो को ग्रहण करते हैं। हे शिष्य! इसे ही ज्ञायिका परिषद् (समझदारो का समूह) समझना चाहिए।

५३—अजाणिया जहा—

> **जा होइ पगइमहुरा, मियछावय-सीह-कुक्कुडय-भूआ।**
> **रयणमिव असंठविआ अजाणिया सा भवे परिसा॥**

५३—अज्ञायिका परिषद् का स्वरूप इस प्रकार है—जो श्रोता मृग, शेर और कुक्कुट के अबोध शिशुओ के सदृश स्वभाव से मधुर, भद्र हृदय, भोले-भाले होते हैं, उन्हे जैसी शिक्षा दी जाए वे उसे ग्रहण कर लेते है। वे (खान से निकले) रत्न की तरह असस्कृत होते हैं। रत्नो को चाहे जैसा बनाया जा सकता है। ऐसे ही अनभिज्ञ श्रोताओ मे यथेष्ट सस्कार डाले जा सकते हैं। हे शिष्य! ऐसे अबोध जनो के समूह को अज्ञायिका परिषद जानो।

५४—दुव्वियड्ढा जहा—

> **न य कत्थई निम्माओ, न य पुच्छइ परिभवस्स दोसेण।**
> **वत्थिव्व वायपुण्णो, फुट्टइ गामिल्लय विअड्ढो॥**

५४—दुर्विदग्धा परिषद् का लक्षण—जिस प्रकार अल्पज्ञ पडित ज्ञान मे अपूर्ण होता है, किन्तु अपमान के भय से किसी विद्वान् से कुछ पूछता नही। फिर भी अपनी प्रशसा सुनकर मिथ्याभिमान से वस्ति-मशक की तरह फूला हुआ रहता है। इस प्रकार के जो लोग है, उनकी सभा को, हे शिष्य! दुर्विदग्धा सभा समझना।

विवेचन—आगम का प्रतिपादन करते समय अनुयोगाचार्य को पहले परिषद् की परीक्षा करनी चाहिए, क्योंकि श्रोता विभिन्न स्वभाव के होते हैं। इसीलिए सभा के तीन भेद किए हैं—

(१) जिस परिषद् मे तत्त्वजिज्ञासु, गुणज्ञ, बुद्धिमान् सम्यग्दृष्टि, विवेकवान्, बिनीत, शात, सुशिक्षित, आस्थावान्, आत्मान्वेषी आदि गुणो से सम्पन्न श्रोता हो वह विज्ञपरिषद् कहलाती है। विज्ञपरिषद् ही सर्वोत्तम परिषद् है।

(२) जो श्रोता पशु-पक्षियो के अबोध बच्चो की भाँति सरलहृदय तथा मत-मतान्तरो की कलुषित भावनाओ से रहित होते है, उन्हे आसानी से सन्मार्गगामी, सयमी, विद्वान्, एव सद्गुण-सम्पन्न बनाया जा सकता है, क्योकि उनमे कुसस्कार नही होते। ऐसे सरलहृदय श्रोताओ की परिषद् को अविज्ञ परिषद् कहते है।

(३) जो अभिमानी, अविनीत, दुराग्रही और वस्तुत मूढ हो फिर भी अपने आपको पडित समझते हो, लोगो से अपने पाडित्य की झूठी प्रशसा सुनकर वायु मे पूरित मशक की तरह फूल उठते हो, ऐसे श्रोताओ के समूह को दुर्विदग्धा परिषद् समझना चाहिये।

उपर्युक्त परिषदो मे विज्ञपरिषद् अनुयोग के लिए सर्वथा पात्र है। दूसरी भी पात्र है किन्तु तीसरी दुर्विदग्धा परिषद् ज्ञान देने के लिए अयोग्य है।

इसी तथ्य को ध्यान मे रखते हुए शास्त्रकार ने श्रोताओ की परिषद् का पहले वर्णन किया है। □□

ज्ञान के पांच प्रकार

१—नाणं पंचविहं पण्णत्तं, तंजहा—

(१) आभिणिबोहियणनाणं, (२) सुयनाणं, (३) ओहिनाणं, (४) मण-पज्जवनाणं (५) केवलनाणं ।

१—ज्ञान पाच प्रकार का प्रतिपादित किया गया है । जैसे—(१) आभिनिबोधिकज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मन पर्यवज्ञान, (५) केवलज्ञान ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे ज्ञान के भेदो का वर्णन किया गया है। यद्यपि भगवत्स्तुति, गणधरावली और स्थविरावलिका के द्वारा मगलाचरण किया जा चुका है, तदपि नन्दी शास्त्र का आद्य सूत्र मंगलाचरण के रूप मे प्रतिपादन किया है ।

ज्ञान-नय की दृष्टि से ज्ञान मोक्ष का मुख्य अग है । ज्ञान और दर्शन आत्मा के निज गुण हैं अर्थात् असाधारण गुण हैं । विशुद्ध दशा मे आत्मा परिपूर्ण ज्ञाता द्रष्टा होता है । ज्ञान के पूर्ण विकास को मोक्ष कहते हैं । अत. ज्ञान मगलरूप होने से इसका यहाँ प्रतिपादन किया गया है ।

ज्ञान शब्द का अर्थ—जिसके द्वारा तत्त्व का यथार्थ स्वरूप जाना जाए, जो ज्ञेय को जानता है अथवा जानना ज्ञान कहलाता है। ज्ञान शब्द की व्युत्पत्ति अनुयोगद्वार सूत्र मे इस प्रकार की गई है—

"ज्ञातिर्ज्ञानं, कृत्यलुटो बहुलम् (पा ३ । ३ । ११३) इति वचनात् भावसाधन', ज्ञायते-परिच्छिद्यते वस्त्व-नेनास्मादस्मिन्वेति वा ज्ञानं, जानाति-स्वविषय परिच्छिनत्तीति वा ज्ञान, ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमक्षयजन्यो जीवस्तत्त्वभूतो, बोध इत्यर्थ ।"

नन्दीसूत्र के वृत्तिकार ने जिज्ञासुओं के सुगम बोध के लिए ज्ञान शब्द का केवल भाव-साधन और कारणसाधन ही स्वीकार किया है, जैसे कि—'ज्ञातिर्ज्ञान' अथवा 'ज्ञायते परिच्छिद्यते वस्त्वनेनेति ज्ञानम् ।' इसका तात्पर्य पहले आ चुका है, अर्थात् जानना ज्ञान है अथवा जिसके द्वारा जाना जाए वह ज्ञान है ।

साराश यह है कि आत्मा को ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय अथवा क्षयोपशम से तत्त्वबोध होता है, वही ज्ञान है । ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से होने वाला केवलज्ञान क्षायिक है और उसके क्षयोपशम से होने वाले शेष चार क्षायोपशमिक है । अत ज्ञान के कुल पाँच भेद हैं ।

'पण्णत्त' के अर्थ—इस पद के संस्कृत मे चार रूप होते है—(१) प्रज्ञप्त (२) प्राज्ञाप्त (३) प्राज्ञात्त और (४) प्रज्ञाप्तम् ।

(१) प्रज्ञप्त अर्थात् तीर्थंकर भगवन् ने अर्थ रूप मे प्रतिपादन किया और उसे गणधरो ने सूत्र रूप मे गूँथा ।

(२) प्राज्ञाप्त अर्थात् जिस अर्थ को गणधरो ने प्राज्ञो—सर्वज्ञ तीर्थंकरों—से आप्त-प्राप्त-उपलब्ध किया।

(३) प्राज्ञात्त—प्राज्ञों-गणधरों द्वारा तीर्थंकरो से ग्रहण किया अर्थ 'प्राज्ञात्त' कहलाता है।

(४) प्रज्ञाप्तं —प्रज्ञा अर्थात् अपने प्रखर बुद्धिबल से प्राप्त किया अर्थ 'प्रज्ञाप्त' कहलाता है। 'पण्णत्त' कहकर सूत्रकार ने बताया है कि यह कथन मैं अपनी बुद्धि या कल्पना से नही कर रहा हूँ। तीर्थंकर भगवान् ने जो प्रतिपादन किया, उसी अर्थ को मैं कहता हूँ।

ज्ञान के पांच भेदो का स्वरूप—(१) आभिनिबोधिक ज्ञान—आत्मा द्वारा प्रत्यक्ष अर्थात् सामने आये हुए पदार्थों को जान लेने वाले ज्ञान को आभिनिबोधिक ज्ञान कहते हैं। अर्थात् जो ज्ञान पांच इन्द्रियो और मन के द्वारा उत्पन्न हो, उसे अभिनिबोधिक ज्ञान या मतिज्ञान कहते हैं।

(२) श्रुतज्ञान —किसी भी शब्द का श्रवण करने पर वाच्य-वाचकभाव सबध के आधार से अर्थ की जो उपलब्धि होती है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान भी मन और इन्द्रियो के निमित्त से उत्पन्न होता है किन्तु फिर भी इसके उत्पन्न होने में इन्द्रियो की अपेक्षा मन की मुख्यता होती है, अत इसे मन का विषय माना गया है।

(३) अवधिज्ञान—यह ज्ञान इन्द्रिय और मन की अपेक्षा न रखता हुआ केवल आत्मा के द्वारा ही रूपी-मूर्त पदार्थों का साक्षात् कर लेता है। यह मात्र रूपी द्रव्यों को प्रत्यक्ष करने की क्षमता रखता है, अरूपी को नही। यही इसकी अवधि—मर्यादा है। अथवा 'अव' का अर्थ है—नीचे-नीचे, 'धि' का अर्थ जानना है। जो ज्ञान अन्य दिशाओ की अपेक्षा अधोदिशा मे अधिक जानता है, वह अवधिज्ञान कहलाता है। दूसरे शब्दो मे, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा को लेकर यह ज्ञान मूर्त्त द्रव्यो को प्रत्यक्ष करने की शक्ति रखता है।

(४) मन·पर्यवज्ञान —समनस्क, अर्थात् सज्ञी जीवो के मन के पर्यायो को जिस ज्ञान से जाना जाता है उसे मन पर्यवज्ञान कहते है। प्रश्न उठता है—"मन की पर्यायें किसे कहा जाय ?" उत्तर है—जब भाव-मन किसी भी वस्तु का चिन्तन करता है तब उस चिन्तनीय वस्तु के अनुसार चिन्तन कार्य मे रत द्रव्य-मन भी भिन्न-भिन्न प्रकार की आकृतियाँ धारण करता है और वे आकृतियाँ ही यहाँ मन की पर्याय कहलाती है।

मन पर्यवज्ञान मन और उसकी पर्यायो का ज्ञान तो साक्षात् कर लेता है किन्तु चिन्तनीय पदार्थ को वह अनुमान के द्वारा ही जानता है, प्रत्यक्ष नही।

(५) केवलज्ञान—'केवल' शब्द के एक, असहाय, विशुद्ध, प्रतिपूर्ण, अनन्त और निरावरण, अर्थ होते हैं। इनकी व्याख्या निम्न प्रकार से की जाती है—

एक—जिस ज्ञान के उत्पन्न होने पर क्षयोपशम-जन्य ज्ञान उसी एक मे विलीन हो जाएँ और केवल एक ही शेष बचे, उसे केवलज्ञान कहते हैं।

असहाय—जो ज्ञान मन, इन्द्रिय, देह, अथवा किसी भी अन्य वैज्ञानिक यन्त्र की सहायता के बिना रूपी-अरूपी, मूर्त्त-अमूर्त्त त्रैकालिक सभी ज्ञेयो को हस्तामलक की तरह प्रत्यक्ष करने की क्षमता रखता है उसे केवलज्ञान कहते हैं।

विशुद्ध—चार क्षायोपशमिक ज्ञान शुद्ध हो सकते हैं किन्तु विशुद्ध नही। विशुद्ध एक केवलज्ञान ही होता है। क्योंकि वह शुद्ध आत्मा का स्वरूप है।

प्रतिपूर्ण—क्षायोपशमिक ज्ञान किसी पदार्थ की सर्व पर्यायो को नही जान सकते किन्तु जो ज्ञान सर्व द्रव्यो की समस्त पर्यायो को जानने वाला होता है उसे प्रतिपूर्ण कहा जा सकता है।

अनन्त—जो ज्ञान अन्य समस्त ज्ञानो से श्रेष्ठतम, अनन्तानन्त पदार्थों को जानने की शक्ति रखने वाला तथा उत्पन्न होने पर फिर कभी नष्ट न होने वाला होता है उसे ही केवलज्ञान कहते हैं।

निरावरण—केवलज्ञान, घाति कर्मों के सम्पूर्ण क्षय से उत्पन्न होता है,अतएव वह निरावरण है।

क्षायोपशमिक ज्ञानो के साथ राग-द्वेष, क्रोध, लोभ एव मोह आदि का अश विद्यमान रहता है किन्तु केवलज्ञान इन सबसे सर्वथा रहित, पूर्ण विशुद्ध होता है।

उपर्युक्त पांच प्रकार के ज्ञानो मे पहले दो ज्ञान परोक्ष हैं और अन्तिम तीन प्रत्यक्ष।

श्रुतज्ञान के दो प्रकार हैं—(१) अर्थश्रुत एव (२) सूत्रश्रुत। अरिहन्त केवलज्ञानियो के द्वारा अर्थश्रुत प्ररूपित होता है तथा अरिहन्तो के उन्ही प्रवचनो को गणधर देव सूत्ररूप मे गुम्फित करते हैं। तब वह श्रुत सूत्र कहलाने लगता है। कहा भी है--

"अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवत्तेइ।"

अर्थ का प्रतिपादन अरिहन्त करते हैं तथा शासनहित के लिए गणधर उस अर्थ को सूत्ररूप मे गूथते हैं। सूत्रागम में भाव और अर्थ तीर्थंकरो के होते है, शब्द गणधरो के।

प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण

**२—तं समासओ दुविहं पण्णत्त,
तं जहा—पच्चक्खं च परोक्खं च ।।**

२—ज्ञान पाँच प्रकार का होने पर भी सक्षिप्त मे दो प्रकार से वर्णित है, यथा (१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष।

विवेचन—अक्ष जीव या आत्मा को कहते हैं। जो ज्ञान आत्मा के प्रति साक्षात् हो अर्थात् सीधा आत्मा से उत्पन्न हो, जिसके लिए इन्द्रियादि किसी माध्यम की अपेक्षा न हो, वह प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है।

अवधिज्ञान और मन.पर्यवज्ञान, ये दोनो ज्ञान देश (विकल) प्रत्यक्ष कहलाते हैं। केवलज्ञान सर्वप्रत्यक्ष है, क्योकि समस्त रूपी-अरूपी पदार्थ उसके विषय हैं। जो ज्ञान इन्द्रिय और मन आदि की सहायता से होता है, वह परोक्ष कहलाता है।

ज्ञानों की क्रमव्यवस्था—पाच ज्ञानो मे सर्वप्रथम मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का निर्देश किया है। इसका कारण यह है कि ये दोनो ज्ञान सम्यक् या मिथ्या रूप में, न्यूनाधिक मात्रा मे समस्त ससारी जीवो को सदैव प्राप्त रहते हैं। सबसे अधिक अविकसित निगोदिया जीवो मे भी अक्षर का

अनन्तवा भाग ज्ञान प्रकट रहता है। इसके अतिरिक्त इन दोनो ज्ञानो के होने पर ही शेष ज्ञान होते हैं। अतएव इन दोनों का सर्वप्रथम निर्देश किया गया है।

दोनो मे भी पहले मतिज्ञान के उल्लेख का कारण यह है कि श्रुतज्ञान, मतिज्ञानपूर्वक ही होता है।

मतिज्ञान-श्रुतज्ञान के पश्चात् अवधिज्ञान का निर्देश करने का हेतु यह है कि इन दोनों के साथ अवधिज्ञान की कई बातों में समानता है। यथा—जैसे मिथ्यात्व के उदय से मतिज्ञान और श्रुत-ज्ञान मिथ्यारूप मे परिणत होते हैं, वैसे ही अवधिज्ञान भी मिथ्यारूप में परिणत हो जाता है।

इसके अतिरिक्त कभी-कभी, जब कोई विभगज्ञानी, सम्यग्दृष्टि होता है तब तीनो ज्ञान एक ही साथ उत्पन्न होते हैं, अर्थात् सम्यक् रूप के परिणत होते हैं।

जैसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की लब्धि की अपेक्षा छयासठ सागरोपम से किंचित् अधिक स्थिति है, अवधिज्ञान की भी इतनी ही स्थिति है। इन समानताओं के कारण मति-श्रुत के अनन्तर अवधिज्ञान का निर्देश किया गया है।

अवधिज्ञान के पश्चात् मन पर्यवज्ञान का निर्देश इस कारण किया गया है कि दोनो मे प्रत्यक्षत्व की समानता है। जैसे अवधिज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष है, विकल है तथा क्षयोपशमजन्य है, उसी प्रकार मन पर्यवज्ञान भी है।

केवलज्ञान सबके अन्त मे प्राप्त होता है, अतएव उसका निर्देश अन्त मे किया गया है।

प्रत्यक्ष के भेद

३—से किं तं पच्चक्खं ? पच्चक्खं दुविहं पण्णत्तं,
तं जहा—इंदियपच्चक्खं च णोइंदियपच्चक्खं च।

३—प्रश्न—प्रत्यक्ष ज्ञान क्या है ?

उत्तर—प्रत्यक्षज्ञान के दो भेद है, यथा—

(१) इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और (२) नोइन्द्रिय-प्रत्यक्ष।

विवेचन—इन्द्रिय आत्मा की वैभाविक परिणति है। इन्द्रिय के भी दो भेद हैं—(१) द्रव्येन्द्रिय (२) भावेन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय के भी दो प्रकार होते है—(१) निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय और (२) उपकरण द्रव्येन्द्रिय।

निर्वृत्ति का अर्थ है—रचना, जो बाह्य और आभ्यतर के भेद से दो प्रकार की है। बाह्य निर्वृत्ति इन्द्रियो के आकार मे पुद्गलो की रचना है तथा आभ्यतर निर्वृत्ति से इन्द्रियो के आकार मे आत्मप्रदेशो का सस्थान। उपकरण का अर्थ है—सहायक या साधन। बाह्य और आभ्यतर निर्वृत्ति की शक्ति-विशेष को उपकरणेन्द्रिय कहते है। साराश यह है कि इन्द्रिय की आकृति निर्वृत्ति है तथा उनकी विशिष्ट पौद्गलिक शक्ति को उपकरण कहते हैं। सर्व जीवों की द्रव्येन्द्रियो की बाह्य आकृतियों मे भिन्नता पाई जाती है किन्तु आभ्यन्तर निर्वृत्ति-इन्द्रिय सभी जीवो की समान होती है। प्रज्ञापनासूत्र के पन्द्रहवें पद मे कहा गया है—

श्रोत्रेन्द्रिय का सस्थान कदम्ब पुष्प के समान, चक्षुरिन्द्रिय का सस्थान मसूर और चन्द्र के समान गोल, घ्राणेन्द्रिय का आकार अतिमुक्तक के समान, रसनेन्द्रिय का सस्थान क्षुरप्र (खुरपा) के समान और स्पर्शनेन्द्रिय का सस्थान नाना प्रकार का होता है। अत आभ्यन्तर निर्वृत्ति सबकी समान ही होती है। आभ्यन्तर निर्वृत्ति से उपकरणेन्द्रिय की शक्ति विशिष्ट होती है।

भावेन्द्रिय के दो प्रकार हैं—लब्धि और उपयोग। मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होने वाले एक प्रकार के आत्मिक परिणाम को लब्धि कहते हैं। तथा शब्द, रूप आदि विषयो का सामान्य एव विशेष प्रकार से जो बोध होता है, उस बोध-रूप व्यापार को उपयोग-इन्द्रिय कहते हैं। स्मरणीय है कि इन्द्रियप्रत्यक्ष मे द्रव्य और भाव दोनो प्रकार की इन्द्रियो का ग्रहण होता है और एक का भी अभाव होने पर इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की उत्पत्ति नही हो सकती।

नो-इंदियपच्चक्ख—इस पद मे 'नो' शब्द सर्वनिषेधवाची है। नोइन्द्रिय मन का नाम भी है। अत. जो प्रत्यक्ष इन्द्रिय मन तथा आलोक आदि बाह्य साधनो की अपेक्षा नही रखता, जिसका सीधा सम्बन्ध आत्मा से हो, उसे नोइन्द्रिय-प्रत्यक्ष कहते हैं।

'से' यह निपात शब्द मगधदेशीय है, जिसका अर्थ 'अथ' होता है।

इन्द्रियप्रत्यक्ष ज्ञान का कथन लौकिक व्यवहार की अपेक्षा से किया गया है, परमार्थ की अपेक्षा से नही। क्योकि लोक मे यही कहने की प्रथा है—"मैने आँखो से प्रत्यक्ष देखा है।" इसी को साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं, जैसे कि—

'यदिन्द्रियाश्रितमपरव्यवधानरहित ज्ञानमुदयते तल्लोके प्रत्यक्षमिति व्यवहृतम्, अपर-धूमादिलिङ्गनिरपेक्षतया साक्षादिन्द्रियमधिकृत्य प्रवर्तनात्।" इससे भी उक्त कथन की पुष्टि होती है।

यहाँ एक बात विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करती है। वह यह कि प्रश्न किया गया है कि प्रत्यक्ष किसे कहते हैं ? किन्तु उत्तर मे उसके भेद बतलाए गए है। इसका क्या कारण है ? उत्तर यह है कि यहाँ प्रत्यक्षज्ञान का स्वरूप बतलाना अभीष्ट है। किसी भी वस्तु का स्वरूप बतलाने की अनेक पद्धतिया होती हैं। कही लक्षण द्वारा, कही उसके स्वामी द्वारा, कही क्षेत्रादि द्वारा, और कही भेदो के द्वारा वस्तु का स्वरूप प्रदर्शित किया जाता है। यहा और आगे भी अनेक स्थलो पर भेदो द्वारा स्वरूप प्रदर्शित करने की शैली अपनाई गई है। आगम मे यह स्वीकृत परिपाटी है। जैसे लक्षण द्वारा वस्तु का स्वरूप समझा जा सकता है, उसी प्रकार भेदो द्वारा भी समझा जा सकता है।

सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष के प्रकार

४—से किं तं इंदिय पच्चक्खं ? इंदियपच्चक्खं पंचविहं पण्णत्तं, त जहा—(१) सोइंदिय-पच्चक्खं, (२) चक्खिंदिय पच्चक्खं, (३) घाणिंदियपच्चक्खं, (४) रसनेंदियपच्चक्खं, (५) फासिं-दियपच्चक्खं। से त्तं इंदियपच्चक्खं।

४—प्रश्न—भगवन् ! इन्द्रियप्रत्यक्ष ज्ञान किसे कहते है ?

उत्तर—इन्द्रियप्रत्यक्ष पाँच प्रकार का है। यथा—

(१) श्रोत्रेन्द्रिय प्रत्यक्ष—जो कान से होता है।

(२) चक्षुरिन्द्रिय प्रत्यक्ष—जो आँख से होता है।
(३) घ्राणेन्द्रिय प्रत्यक्ष—जो नाक से होता है।
(४) जिह्वेन्द्रिय प्रत्यक्ष—जो जिह्वा से होता है।
(५) स्पर्शनेन्द्रिय प्रत्यक्ष—जो त्वचा से होता है।

विवेचन—श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द है। शब्द दो प्रकार का होता है, 'ध्वन्यात्मक' और 'वर्णात्मक'। दोनो से ही ज्ञान उत्पन्न होता है। इसी प्रकार चक्षु का विषय रूप है। घ्राणेन्द्रिय का गन्ध, रसनेन्द्रिय का रस एव स्पर्शनेन्द्रिय का विषय स्पर्श है।

यहाँ एक शका उत्पन्न हो सकती है कि स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और नेत्र, इस क्रम को छोडकर श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय इत्यादि क्रम से इन्द्रियो का निर्देश क्यो किया गया है? इस शका के उत्तर मे बताया गया है कि इसके दो कारण हैं। एक कारण तो पूर्वानुपूर्वी और पश्चादनुपूर्वी दिखलाने के लिए सूत्रकार ने उत्क्रम की पद्धति अपनाई है। दूसरा कारण यह है कि जिस जीव मे क्षयोपशम और पुण्य अधिक होता है वह पचेन्द्रिय बनता है, उससे न्यून हो तो चतुरिन्द्रिय बनता है। इसी क्रम से जब पुण्य और क्षयोपशम सर्वथा न्यून होता है तब जीव एकेन्द्रिय होता है। अभिप्राय यह है कि जब क्षयोपशम और पुण्य को मुख्यता दी जाती है तब उत्क्रम से इन्द्रियो की गणना प्रारम्भ होती है और जब जाति की अपेक्षा से गणना की जाती है तब पहले स्पर्शन, रसन आदि क्रम को सूत्रकार अपनाते हैं। पाँचो इन्द्रियाँ और छठा मन, ये सभी श्रुतज्ञान में निमित्त हैं किन्तु श्रोत्रेन्द्रिय श्रुतज्ञान मे मुख्य कारण है। अत सर्वप्रथम श्रोत्रेन्द्रिय का नाम निर्देश किया गया है।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष के तीन भेद

५—से किं तं नोइंदियपच्चक्खं?

नोइंदियपच्चक्ख तिविह पण्णत्त, तं जहा—(१) ओहिणाणपच्चक्खं (२) मणपज्जवणाणपच्चक्खं (३) केवलणाणपच्चक्ख।

५—शिष्य के द्वारा प्रश्न किया गया—भगवन्! बिना इन्द्रिय एव मन आदि बाह्य निमित्त की सहायता के साक्षात् आत्मा से होने वाला नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष क्या है?

उत्तर—नोइन्द्रियज्ञान तीन प्रकार का है—(१) अवधिज्ञानप्रत्यक्ष (२) मन पर्यवज्ञानप्रत्यक्ष (३) केवलज्ञानप्रत्यक्ष।

६—से किं तं ओहिणाणपच्चक्खं? ओहिणाणपच्चक्खं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—भवपच्चतियं च खओवसमियं च।

६—प्रश्न—भगवन्! अवधिज्ञान प्रत्यक्ष क्या है?

उत्तर—अवधिज्ञान के दो भेद है—(१) भवप्रत्ययिक (२) क्षायोपशमिक।

७—दोण्हं भवपच्चतियं, तंजहा—देवाणं च णेरतियाणं च।

७—प्रश्न—भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान किन्हें होता है?

उत्तर—भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान देवो एव नारको को होता है ।

८—दोण्हं खओवसमियं, त जहा—मणुस्साणं च पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं च । को हेऊ खाओसमियं ?

तयावरणिज्जाणं कम्माणं उदिण्णाणं खएणं, अणुदिण्णाण उवसमेण ओहिणाणं समुप्पज्जति ।

८—प्रश्न—भगवन् ! क्षायोपशमिक अवधिज्ञान किनको होता है ?

उत्तर—क्षायोपशमिक अवधिज्ञान दो को होता है– मनुष्यो को तथा पचेन्द्रिय तिर्यञ्चो को होता है ।

शिष्य ने पुन प्रश्न किया—भगवन् ! क्षायोपशमिक अवधिज्ञान की उत्पत्ति का हेतु क्या है ? गुरुदेव ने उत्तर दिया—जो कर्म अवधिज्ञान मे रुकावट उत्पन्न करने वाले (अवधिज्ञानावरणीय) हैं, उनमे से उदयगत का क्षय होने से तथा अनुदित कर्मों का उपशम होने से जो उत्पन्न होता है, वह क्षायोपशमिक अवधिज्ञान कहलाता है ।

विवेचन—मन और इन्द्रियो की सहायता के बिना उत्पन्न होने वाले नोइन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान के तीन भेद बताए गए हैं—अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान एव केवलज्ञान ।

अवधिज्ञान भवप्रत्ययिक एव क्षायोपशमिक, इस प्रकार दो तरह का होता है । भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान जन्म लेते ही प्रकट होता है, जिसके लिए सयम, तप अथवा अनुष्ठानादि की आवश्यकता नही होती । किन्तु क्षायोपशमिक अवधिज्ञान इन सभी की सहायता से उत्पन्न होता है ।

अवधिज्ञान के स्वामी चारो गति के जीव होते है । भवप्रत्यक्ष अवधिज्ञान देवो और नारको को तथा क्षायोपशमिक अवधिज्ञान मनुष्यो एव तिर्यञ्चो को होता है । उसे *'गुणप्रत्यय'* भी कहते हैं ।

शका की जाती है—अवधिज्ञान क्षायोपशमिक भाव मे परिगणित है तो फिर नारको और देवो को भव के कारण से कैसे कहा गया ?

समाधान—वस्तुत अवधिज्ञान क्षायोपशमिक भाव मे ही है । नारको और देवो को भी क्षयोपशम से ही अवधिज्ञान होता है, किन्तु उस क्षयोपशम मे नारकभव और देवभव प्रधान कारण होता है, अर्थात् इन भवो के निमित्त से नारको और देवो को अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम हो ही जाता है । इस कारण उनका अवधिज्ञान, भवप्रत्यय कहलाता है । यथा—पक्षियो की उडान-शक्ति जन्म-सिद्ध है, किन्तु मनुष्य बिना वायुयान, जघाचरण अथवा विद्याचरण लब्धि के गगन मे गति नही कर सकता ।

अवधिज्ञान के छह भेद

९—अहवा गुणपडिवण्णस्स अणगारस्स ओहिणाणं समुप्पज्जति । तं समासओ छव्विहं पण्णत्त, त जहा—

(१) आणुगामियं (२) अणाणुगामियं (३) वड्ढमाणयं (४) हायमाणयं (५) पडिवाति (६) अपडिवाति ।

९—ज्ञान, दर्शन एव चारित्ररूप गुण-सम्पन्न मुनि को जो क्षायोपशमिक अवधिज्ञान समुत्पन्न होता है, वह सक्षेप में छह प्रकार का है। यथा—

(१) आनुगामिक—जो साथ चलता है।
(२) अनानुगामिक—जो साथ नही चलता।
(३) वर्द्धमान—जो वृद्धि पाता जाता है।
(४) हीयमान—जो क्षीण होता जाता है।
(५) प्रतिपातिक—जो एकदम लुप्त हो जाता है।
(५) अप्रतिपातिक—जो लुप्त नही होता।

विवेचन—मूलगुण और उत्तरगुणो से सम्पन्न अनगार को जो अवधिज्ञान उत्पन्न होता है उसके छह प्रकार सक्षिप्त मे कहे गए हैं—

(१) आनुगामिक—जैसे चलते हुए पुरुष के साथ नेत्र, सूर्य के साथ आतप तथा चन्द्र के साथ चादनी बनी रहती है, इसी प्रकार आनुगामिक अवधिज्ञान भी जहा कही अवधिज्ञानी जाता है, उसके साथ विद्यमान रहता है, साथ-साथ जाता है।

(२) अनानुगामिक—जो साथ न चलता हो किन्तु जिस स्थान पर उत्पन्न हुआ हो उसी स्थान पर स्थित होकर पदार्थों को देख सकता हो, वह अनानुगामिक अवधिज्ञान कहलाता है। जैसे दीपक जहाँ स्थित हो वही से वह प्रकाश प्रदान करता है पर किसी भी प्राणी के साथ नही चलता। यह ज्ञान क्षेत्ररूप बाह्य निमित्त से उत्पन्न होता है, अतएव ज्ञानी जब अन्यत्र जाता है तब वह क्षेत्ररूप निमित्त नही रहता, इस कारण वह लुप्त हो जाता है।

(३) वर्द्धमानक—जैसे-जैसे अग्नि मे ईंधन डाला जाता है वैसे-वैसे वह अधिकाधिक वृद्धिगत होती है तथा उसका प्रकाश भी बढता जाता है। इसी प्रकार ज्यो-ज्यो परिणामो मे विशुद्धि बढती जाती है त्यो-त्यो अवधिज्ञान भी वृद्धिप्राप्त होता जाता है। इसीलिए इसे वर्द्धमानक अवधिज्ञान कहते है।

(४) हीयमानक—जिस प्रकार ईधन की निरन्तर कमी से अग्नि प्रतिक्षण मन्द होती जाती है, उसी प्रकार सक्लिष्ट परिणामो के बढ़ते जाने पर अवधिज्ञान भी हीन, हीनतर एव हीनतम होता चला जाता है।

(५) प्रतिपातिक—जिस प्रकार तेल के न रहने पर दीपक प्रकाश देकर सर्वथा बुझ जाता है, उसी प्रकार प्रतिपातिक अवधिज्ञान भी दीपक के समान ही युगपत् नष्ट हो जाता है।

(६) अप्रतिपातिक—जो अवधिज्ञान, केवलज्ञान उत्पन्न होने से पूर्व नहीं जाता है अर्थात् पतनशील नही होता इसे अप्रतिपातिक कहते है।

आनुगामिक अवधिज्ञान

१०—से किं तं आणुगामियं ओहिणाणं?

आणुगामियं ओहिणाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—अंतगयं च मज्झगयं च।

से किं तं अंतगयं? अंतगयं तिविहं पण्णत्तं, तं जहा—

(१) पुरओ अंतगयं (२) मग्गओ अंतगयं (३) पासतो अंतगयं।

से किं तं पुरतो अंतगयं ? पुरतो अंतगयं से जहानामए केइ पुरिसे उक्कं वा चडुलियं वा अलायं वा मणिं वा जोइं वा पईवं वा पुरओ काउं परिकड्ढेमाणे परिकड्ढेमाणे गच्छेज्जा, से त्तं पुरओ अंतगयं।

से किं तं मग्गओ अंतगयं ? से जहानामए केइ पुरिसे उक्कं वा चडुलियं वा आलायं वा मणिं वा पईवं वा जोइं वा मग्गओ काउं अणुकड्ढेमाणे अणुकड्ढेमाणे गच्छिज्जा, से तं मग्गओ अंतगयं।

से किं तं पासओ अंतगयं ? पासओ अन्तगयं—से जहानामए केइ पुरिसे उक्कं वा चडुलियं वा अलायं वा मणिं वा पईवं वा जोइं वा पासओ काउं परिकड्ढेमाणे परिकड्ढेमाणे गच्छिज्जा, से त पासओ अंतगयं। से त्तं अन्तगयं।

से किं तं मज्झगयं ? से जहानामए केइ पुरिसे उक्कं वा चडुलिय वा अलायं वा मणिं वा पईवं वा जोइं वा मत्थए काउं गरच्छेज्जा। से त्त मज्झगयं।

१०—शिष्य ने प्रश्न किया—भगवन् ! वह आनुगामिक अवधिज्ञान कितने प्रकार का है ?

गुरु ने उत्तर दिया—आनुगामिक अवधिज्ञान दो प्रकार का है। यथा—(१) अन्तगत (२) मध्यगत।

प्रश्न—अन्तगत अवधिज्ञान कौनसा है ?

उत्तर—अन्तगत अवधिज्ञान तीन प्रकार का है—(१) पुरत.अन्तगत—आगे से अन्तगत (२) मार्गत अन्तगत—पीछे से अन्तगत (३) पार्श्वत अन्तगत—पार्श्व से अन्तगत।

प्रश्न—आगे से अन्तगत अवधिज्ञान कैसा है।

उत्तर—जैसे कोई व्यक्ति दीपिका, घासफूस की पूलिका अथवा जलते हुए काष्ठ, मणि, प्रदीप या किसी पात्र मे प्रज्वलित अग्नि रखकर हाथ अथवा दण्ड से उसे आगे करके क्रमश आगे चलता है और उक्त पदार्थों द्वारा हुए प्रकाश से मार्ग मे स्थित वस्तुओ को देखता जाता है। इसी प्रकार पुरत - अन्तगत अवधिज्ञान भी आगे के प्रदेश में प्रकाश करता हुआ साथ-साथ चलता है।

प्रश्न—मार्गत अन्तगत अवधिज्ञान किस प्रकार का है ?

उत्तर—जैसे कोई व्यक्ति उल्का, तृणपूलिका, अग्रभग से जलते हुए काष्ठ, मणि, प्रदीप एव ज्योति को हाथ या किसी दण्ड द्वारा पीछे करके उक्त वस्तुओ के प्रकाश से पीछे-स्थित पदार्थों को देखता हुआ चलता है, उसी प्रकार जो ज्ञान पीछे के प्रदेश को प्रकाशित करता है वह मार्गत अन्तगत अवधिज्ञान कहलाता है।

प्रश्न—पार्श्व से अन्तगत अवधिज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर—पार्श्वतो अन्तगत अवधिज्ञान इस प्रकार जाना जा सकता है—जैसे कोई पुरुष दीपिका, चटुली, अग्रभाग से जलते हुए काठ को, मणि, प्रदीप या अग्नि को पार्श्वभाग से परिकर्षण करते (खीचते) हुए चलता है, इसी प्रकार यह अवधिज्ञान पार्श्ववर्त्ती पदार्थों का ज्ञान कराता हुआ आत्मा के साथ-साथ चलता है। उसे ही पार्श्वतो अन्तगत अवधिज्ञान कहते हैं। कोई-कोई अवधिज्ञान क्षयोपशम की विचित्रता से एक पार्श्व के पदार्थों को ही प्रकाशित करता है, कोई-कोई दोनो पार्श्व के पदार्थों को।

यह अन्तगत अवधिज्ञान का कथन हुआ। तत्पश्चात् शिष्य ने पुन प्रश्न किया—भगवन् ! मध्यगत अवधिज्ञान कौन सा है ?

गुरु ने उत्तर दिया—भद्र ! जैसे कोई पुरुष उल्का, तृणों की पूलिका, अग्रभग में प्रज्वलित काठ को, मणि को या प्रदीप को अथवा शरावादि में रखी हुई अग्नि को मस्तक पर रखकर चलता है। वह पुरुष उपर्युक्त प्रकाश के द्वारा सर्व दिशाओं में स्थित पदार्थों को देखते हुए चलता है। इसी प्रकार चारो ओर के पदार्थों का ज्ञान कराते हुए जो ज्ञान ज्ञाता के साथ चलता है उसे मध्यगत अवधिज्ञान कहा गया है।

विवेचन—यहाँ सूत्रकार ने आनुगामिक अवधिज्ञान और उसके भेदो का वर्णन किया है। आत्मा को जिस स्थान एव भव मे अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ हो यदि वह स्थानान्तर होने पर भी तथा दूसरे भव मे भी आत्मा के साथ चला जाए तो उसे आनुगामिक अवधिज्ञान कहते हैं। इसके दो भेद हैं—अन्तगत और मध्यगत। यहाँ 'अन्त' शब्द पर्यत का वाची है। यथा—'वनान्ते' अर्थात् वन के किसी छोर में। इसी प्रकार अन्तवर्त्ती आत्म-प्रदेशो के किसी भाग मे विशिष्ट क्षयोपशम होने पर ज्ञान उत्पन्न होता है उसे अन्तगत अवधिज्ञान कहते है। कहा है—"अन्तगतम् आत्मप्रदेशाना पर्यन्ते स्थितमन्तगतम्।" जैसे गवाक्ष जाली आदि के द्वार से बाहर आती हुई प्रदीप की प्रभा प्रकाश करती है, वैसे अवधिज्ञान की समुज्ज्वल किरणे स्पर्द्धकरूप छिद्रों से बाह्य जगत् को प्रकाशित करती है। एक जीव के सख्यात तथा असख्यात स्पर्द्धक होते हैं। उनका स्वरूप विचित्र प्रकार का होता है।

आत्मप्रदेशो के आखिरी भाग मे जो अवधिज्ञान उत्पन्न होता है उसके अनेक प्रकार है। कोई आगे की दिशा को प्रकाशित करता है, कोई पीछे की, कोई दाईं और कोई वाईं दिशा को। कोई इनसे विलक्षण मध्यगत अवधिज्ञान होता है, जो सभी दिशाओ को प्रकाशित करता है।

अन्तगत और मध्यगत में विशेषता

११—अन्तगयस्स मज्झगयस्स य को पइविसेसो ? पुरओ अंतगएणं ओहिनाणेण पुरओ चेव संखेज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा जोयणाणि जाणइ पासइ, मग्गओ अंतगएणं ओहिनाणेणं मग्गओ चेव संखेज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा जोयणाणि जाणइ पासइ, पासओ अंतगएणं ओहिणाणेणं पासओ चेव संखेज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा जोयणाइं जाणइ पासइ, मज्झगएणं ओहिणाणेणं सव्वओ समंता संखेज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा जोयणाइं जाणइ पासइ। से त्तं आणुगामियं ओहिणाणं।

११—शिष्य द्वारा प्रश्न—अन्तगत और मध्यगत अवधिज्ञान मे क्या अन्तर है ?

उत्तर—पुरत अवधिज्ञान से ज्ञाता सामने सख्यात अथवा असंख्यात योजनो में स्थित रूपी द्रव्यो को जानता है और सामान्य ग्राहक आत्मा से देखता है।

मार्ग से—पीछे से अन्तगत अवधिज्ञान द्वारा पीछे से सख्यात अथवा असख्यात योजनो मे स्थित द्रव्यों को विशेष रूप से जानता है, तथा सामान्य रूप से देखता है।

पार्श्वत· अन्तगत अवधिज्ञान से पार्श्व (बगल) में स्थित द्रव्यों को संख्यात अथवा असख्यात योजनों तक विशेष रूप मे जानता व सामान्य रूप से देखता है। इस प्रकार आनुगामिक अवधिज्ञान का वर्णन किया गया है।

विवेचन—सूत्रकार ने अन्तगत और मध्यगत अवधिज्ञान मे रहे हुए अन्तर को विस्तृत रूप से बताया है। अवधिज्ञान का विषय रूपी पदार्थ है। वह ऊँचे-नीचे तथा तिर्छे—सभी दिशाओं में विशेष व सामान्य रूप से देख व जान सकता है।

मध्यगत अवधिज्ञान देवो, नारको एव तीर्थकरो को निश्चित रूप से होता है, तिर्यंचो को केवल अन्तगत हो सकता है किन्तु मनुष्यो को अन्तगत तथा मध्यगत दोनो ही प्रकार का आनुगामिक अवधिज्ञान हो सकता है। प्रज्ञापनासूत्र के तेतीसवे पद मे बताया गया है—नारकी, भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवो को सर्वत अवधिज्ञान होता है, पचेन्द्रिय तियञ्चो को देशत' एव मनुष्यो को देशत. एव सर्वत दोनो प्रकार का अवधिज्ञान हो सकता है।

सूत्र मे सख्यात व असख्यात योजनो का प्रमाण भी बताया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि अवधिज्ञान के असख्य भेद है।

रत्नप्रभा के नारकों को जघन्य साढे तीन कोस उत्कृष्ट चार कोस, शर्करप्रभा मे नारको को जघन्य तीन और उत्कृष्ट साढे तीन कोस, बालुकाप्रभा मे नारको को जघन्य अढाई कोस, उत्कृष्ट तीन कोस, पक प्रभा मे नारको को जघन्य दो कोस और उत्कृष्ट अढ़ाई कोस, धूमप्रभा मे नारको को जघन्य डेढ कोम और उत्कृष्ट दो कोस, तम प्रभा मे जघन्य एक कोस एव उत्कृष्ट डेढ कोस तथा सातवी तमस्तमा पृथ्वी के नारकियो को जघन्य आधा कोस एव उत्कृष्ट एक कोस प्रमाण अवधिज्ञान होता है।

असुरकुमारो को जघन्य २५ योजन तथा उत्कृष्ट असख्यात द्वीप-समुद्रो को जानने वाला, नागकुमारो से लेकर स्तनितकुमारो तक और वाणव्यन्तर देवो को जघन्य २५ योजन तथा उत्कृष्ट सख्यात द्वीप-समुद्रों को विषय करने वाला अवधिज्ञान होता है। ज्योतिष्क देवो को जघन्य तथा उत्कृष्ट सख्यात योजन तक जानने वाला अवधिज्ञान होता है। सौधर्मकल्प के देवो का अवधिज्ञान जघन्य अगुल के असख्यातवे भाग क्षेत्र को, उत्कृष्ट रत्नप्रभा के नीचे के चरमान्त को विषय करने वाला अवधिज्ञान होता है। वे तिरछे लोक मे असख्यात द्वीप-समुद्रो को और ऊँची दिशा मे अपने कल्प के विमानो को ध्वजा तक जानते-देखते है।

अनानुगामिक अवधिज्ञान

१२—से किं तं अणाणुगामिय ओहिणाणं! अणाणुगामियं ओहिणाण से जहाणामए केइ पुरिसे एग महंतं जोइट्ठाणं काउं तस्सेव जोइट्ठाणस्स परिपेरतेहिं परिपरतेहिं परिघोलेमाणे परिघोलेमाणे तमेव जोइट्ठाणं पासइ, अण्णत्थगए ण पासइ, एवामेव अणाणुगामिय ओहिणाणं जत्थेव समुप्पज्जइ तत्थेव संखेज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा, संबद्धाणि वा असंबद्धाणि वा जोयणाइं जाणइ पासइ, अण्णत्थगए ण पासइ। से त्तं अणाणुगामियं ओहिणाणं।

१२—प्रश्न—भगवन्! अनानुगामिक अवधिज्ञान किस प्रकार का है?

उत्तर—अनानुगामिक अवधिज्ञान वह है—जैसे कोई भी नाम वाला व्यक्ति एक बहुत बड़ा अग्नि का स्थान बनाकर उसमे अग्नि को प्रज्वलित करके उस अग्नि के चारो ओर सभी दिशा-विदिशाओ मे घूमता है तथा उस ज्योति से प्रकाशित क्षेत्र को ही देखता है, अन्यत्र न जानता है और न देखता है। इसी प्रकार अनानुगामिक अवधिज्ञान जिस क्षेत्र में उत्पन्न होता है, उसी क्षेत्र मे स्थित होकर सख्यात एव असख्यात योजन तक, स्वावगाढ क्षेत्र से सम्बधित तथा असम्बधित द्रव्यों को जानता व देखता है। अन्यत्र जाने पर नही देखता। इसी को अनानुगामिक अवधिज्ञान कहते हैं।

विवेचन—अनानुगामिक अवधिज्ञान वह होता है जिसके द्वारा ज्ञानप्राप्त आत्मा जिस भव मे या जिस स्थान पर उत्पन्न हुआ हो, उसी क्षेत्र मे या उसी भव मे रहते हुए सख्यात या असख्यात योजनो तक रूपी पदार्थों को जान व देख सकता है किन्तु अन्यत्र चले जाने पर जान और देख नही सकता। उदाहरणार्थ जिस प्रकार कोई व्यक्ति किसी बडे ज्योति-स्थान के समीप बैठकर या उसके चारों ओर घूमकर ज्योति के द्वारा प्रकाशित पदार्थों को देख सकता है किन्तु उस स्थान से उठकर अन्यत्र चले जाने पर वहाँ ज्योति न होने से किसी पदार्थ को देख या जान नही पाता।

सूत्र मे 'सबद्ध' एव 'असबद्ध' शब्द आए है। उनका प्रयोजन यह है कि स्वावगाढ क्षेत्र से लेकर निरन्तर—लगातार पदार्थ जाने जाते हैं वे सम्बद्ध कहलाते है तथा जिन पदार्थों के बीच मे अन्तराल होता है वे असम्बद्ध कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम मे बहुत विचित्रता होती है, अतएव कोई अनानुगामिक अवधिज्ञान जहाँ तक जानता है वहाँ तक निरन्तर—लगातार जानता है और कोई-कोई बीच मे अन्तर करके जानता है। जैसे—कुछ दूर तक जानता है, आगे कुछ दूर तक नही जानता और फिर उससे आगे के पदार्थों को जानता है—इस प्रकार बीच-बीच में व्यवधान करके जानता है।

वर्द्धमान अवधिज्ञान

१३—से किं तं वड्ढमाणयं ओहिणाण ?

वड्ढमाणयं ओहिनाणं पसत्थेसु अज्झवसाणट्ठाणेसु वट्टमाणस्स वट्टमाणचरित्तस्स विसुज्झमाणस्स विसुज्झमाणचरित्तस्स सव्वओ समता ओही वड्ढइ।

१३—प्रश्न—गुरुदेव ! वर्द्धमान अवधिज्ञान किस प्रकार का है ?

उत्तर—अध्यवसायस्थानो या विचारो के विशुद्ध एव प्रशस्त होने पर और चारित्र की वृद्धि होने पर तथा विशुद्धमान चारित्र के द्वारा मल-कलङ्क से रहित होने पर आत्मा का ज्ञान दिशाओ एव विदिशाओ मे चारो ओर बढता है उसे वर्द्धमान अवधिज्ञान कहते है।

विवेचन—जिस अवधिज्ञानी के आत्म-परिणाम विशुद्ध से विशुद्धतर होते जाते है, उसका अवधिज्ञान भी उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता जाता है। वर्द्धमानक अवधिज्ञान अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत और सर्वविरत को भी होता है। सूत्रकार ने 'विसुज्झमाणस्स' पद से चतुर्थ गुणस्थानवर्ती को तथा 'विसुज्झमाणचरित्तस्स' पद से देशविरत और सर्वविरत को इस ज्ञान का वृद्धिगत होना सूचित किया है।

अवधिज्ञान का जघन्य क्षेत्र

१४—जावतिया तिसमयाहारगस्स सुहुमस्स पणगजीवस्स।
ओगाहणा जहन्ना, ओहीखेत्तं जहन्नं तु।

१४—तीन समय के आहारक सूक्ष्म-निगोद के जीव की जितनी जघन्य अर्थात् कम से कम अवगाहना होती है—(दूसरे शब्दो मे शरीर की लम्बाई जितनी कम से कम होती है) उतने परिमाण में जघन्य अवधिज्ञान का क्षेत्र है।

विवेचन—आगम में 'पणग' अर्थात् पनक शब्द नीलन-फूलन (निगोद) के लिए आया है। सूत्रकार ने बताया है कि सूक्ष्म पनक जीव का शरीर तीन समय आहार लेने पर जितना क्षेत्र अवगाढ़ करता है उतना जघन्य अवधिज्ञान का क्षेत्र होता है।

निगोद के दो प्रकार होते हैं—(१) सूक्ष्म, (२) बादर। प्रस्तुत सूत्र मे 'सूक्ष्म निगोद' को ग्रहण किया गया है—'सुहुमस्स पणगजीवस्स'। सूक्ष्म निगोद उसे कहते हैं जहा एक शरीर में अनन्त जीव होते है। ये जीव चर्म-चक्षुओ से दिखाई नही देते, किसी के भी मारने से मर नही सकते तथा सूक्ष्म निगोद के एक शरीर मे रहते हुए वे अनन्त जीव अन्तर्मुहूर्त से अधिक आयु नही पाते। कुछ तो अपर्याप्त अवस्था मे ही मर जाते हैं तथा कुछ पर्याप्त होने पर।

एक आवलिका असख्यात समय की होती है तथा दो सौ छप्पन आवलिकाओ का एक 'खड्डाग भव' (क्षुल्लक-क्षुद्र भव) होता है। यदि निगोद के जीव अपर्याप्त अवस्था मे निरन्तर काल करते रहे तो एक मुहूर्त मे वे ६५५३६ बार जन्म-मरण करते हैं। इस अवस्था मे उन्हे वहा असख्यातकाल बीत जाता है।

कल्पना करने से जाना जा सकता है कि निगोद के अनन्त जीव पहले समय मे ही सूक्ष्म शरीर के योग्य पुद्गलो का सर्वबन्ध करे, दूसरे समय में देशबन्ध करे, तीसरे समय मे शरीरपरिमाण क्षेत्र रोके, ठीक उतने ही क्षेत्र मे स्थित पुद्गल जघन्य अवधिज्ञान का विषय हो सकते हैं। पहले और दूसरे समय का बना हुआ शरीर अतिसूक्ष्म होने के कारण अवधिज्ञान का जघन्य विषय नही बतलाया गया है तथा चौथे समय मे वह शरीर अपेक्षाकृत स्थूल हो जाता है, इसीलिए सूत्रकार ने तीसरे समय के आहारक निगोदीय शरीर का ही उल्लेख किया है।

आत्मा असख्यात प्रदेशी है। उन प्रदेशो का सकोच एव विस्तार कार्मणयोग से होता है। ये प्रदेश इतने सकुचित हो जाते हैं कि वे सूक्ष्म निगोदीय जीव के शरीर मे रह सकते है तथा जब विस्तार को प्राप्त होते हैं तो पूरे लोकाकाश को व्याप्त कर सकते है।

जब आत्मा कार्मण शरीर छोडकर सिद्धत्व को प्राप्त कर लेती है तब उन प्रदेशो मे सकोच या विस्तार नही होता। क्योकि कार्मण शरीर के अभाव मे कार्मण-योग नही हो सकता है। आत्मप्रदेशो मे सकोच तथा विस्तार सशरीरी जीवो मे ही होता है। सबसे अधिक सूक्ष्म शरीर 'पनक' जीवो का होता है।

अवधिज्ञान का उत्कृष्ट क्षेत्र

१५—सव्वबहु अगणिजीवा णिरंतरं जत्तियं भरेज्जंसु।
खेत्तं सव्वदिसागं परमोहीखेत्त निद्दिट्ठं॥

१५—समस्त सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त अग्निकाय के सर्वाधिक जीव सर्वदिशाओ मे निरन्तर जितना क्षेत्र परिपूर्ण करे, उतना ही क्षेत्र परमावधिज्ञान का निर्दिष्ट किया गया है।

विवेचन—उक्त गाथा मे सूत्रकार ने अवधिज्ञान के उत्कृष्ट विषय का प्रतिपादन किया है। पाँच स्थवरो मे सबसे कम तेजस्काय के जीव हैं, क्योकि अग्नि के जीव सीमित क्षेत्र मे ही पाये जाते है। सूक्ष्म सम्पूर्ण लोक मे तथा बादर अढाई द्वीप मे होते है।

तेजस्काय के जीव चार प्रकार के होते हैं। (१) पर्याप्त तथा अपर्याप्त सूक्ष्म तथा (२) पर्याप्त एव अपर्याप्त बादर। इन चारो मे से प्रत्येक मे असख्यातासख्यात जीव होते हैं। इन जीवो की उत्कृष्ट सख्या तीर्थङ्कर भगवान् अजितनाथ के समय मे हुई थी। यदि उन जीवो मे से प्रत्येक जीव को उसकी अवगाहना के अनुसार आकाशप्रदेशो पर लगातार रखा जाए और उनकी श्रेणी बनाई जाए तो वह श्रेणी इतनी लम्बी होगी कि लोकाकाश से भी आगे अलोकाकाश मे पहुँच जाएगी। उस श्रेणी को सब ओर घुमाया जाय तो उसकी परिधि मे लोकाकाश जितने अलोकाकाश के असख्यात खण्डो का समावेश हो जायगा। इस प्रकार उन जीवो के द्वारा जितना क्षेत्र भरे उतना क्षेत्र परम-अवधिज्ञान का विषय है।

यद्यपि समस्त अग्निकाय के जीवो की श्रेणी-सूची कभी किसी ने बनाई नही है और न उसका बनना सम्भव ही है। आलोकाकाश में कोई मूर्त्त पदार्थ भी नही है जिसे अवधिज्ञानी जाने। किन्तु परमावधिज्ञान का सामर्थ्य प्रदर्शित करने के लिए यह मात्र कल्पना की गई है।

अवधिज्ञान का मध्यम क्षेत्र

१६—अंगुलमावलियाणं भागमसखेज्ज दोसु संखेज्जा।
अगुलमावलियंतो आवलिया अंगुलपुहुत्तं ॥

१६—क्षेत्र और काल के आश्रित-अवधिज्ञानी यदि क्षेत्र से अगुल (उत्सेध या प्रामाणागुल) के असख्यातवे भाग को जानता है तो काल से भी आवलिका के असख्यातवे भाग को जानता है। इसी प्रकार यदि क्षेत्र से अगुल के सख्यातवे भाग को जानता है तो काल से भी आवलिका का सख्यातवाँ भाग जान सकता है। यदि अगुलप्रमाण क्षेत्र देखे तो काल से आवलिका से कुछ कम देखे और यदि सम्पूर्ण आवलिका प्रमाण काल देखे तो क्षेत्र से अगुलपृथक्त्व प्रमाण अर्थात् २ से ९ अगुल पर्यन्त देखे।

१७—हत्थम्मि मुहुत्तंतो दिवसंतो गाउयम्मि बोद्धव्वो।
जोयण दिवसपुहुत्तं पक्खतो पण्णवीसाओ ॥

१७—यदि क्षेत्र से एकहस्तपर्यंत देखे तो काल से एक मुहूर्त से कुछ न्यून देखे और काल से दिन से कुछ कम देखे तो क्षेत्र से एक गव्यूति अर्थात् कोस परिमाण देखता है, ऐसा जानना चाहिए। यदि क्षेत्र से योजन परिमाण अर्थात् चार कोस परिमित देखता है तो काल से दिवस पृथक्त्व—दो से नौ दिन तक देखता है। यदि काल से किञ्चित् न्यून पक्ष देखे तो क्षेत्र से पच्चीस योजन पर्यन्त देखता है अर्थात् जानता है।

१८—भरहम्मि अद्धमासो जंबुद्दीवम्मि साहिओ मासो।
वासं च मणुयलोए वासपुहुत्तं च रुयगम्मि ॥

१८—यदि क्षेत्र से सम्पूर्ण भरतक्षेत्र को देखे तो काल से अर्धमास परिमित भूत, भविष्यत् एव वर्तमान, तीनों कालों को जाने। यदि क्षेत्र से जम्बूद्वीप पर्यन्त देखता है तो काल से एक मास से भी अधिक देखता है। यदि क्षेत्र से मनुष्यलोक परिमाण क्षेत्र देखे तो काल से एक वर्ष पर्यन्त भूत, भविष्य

एव वर्तमान काल देखता है। यदि क्षेत्र से रुचक क्षेत्र पर्यन्त देखता है तो काल से पृथक्त्व (दो से लेकर नौ वर्ष तक) भूत और भविष्यत् काल को जानता है।

१९—संखेज्जम्मि उ काले दीव-समुद्दा वि होंति संखेज्जा।
कालम्मि असंखेज्जे दीव-समुद्दा उ भइयव्वा॥

१९—अवधिज्ञानी यदि काल से सख्यात काल को जाने तो क्षेत्र से भी सख्यात द्वीप-समुद्र पर्यन्त जानता है और असख्यात काल जानने पर क्षेत्र से द्वीपो एव समुद्रो की भजना जाननी चाहिए अर्थात् संख्यात अथवा असख्यात द्वीप-समुद्र जानता है।

२०—काले चउण्ह वुड्ढी कालो भइयव्वु खेत्तवुड्ढीए।
वुड्ढीए दव्व-पज्जव भइयव्वा खेत्त-काला उ॥

२०—काल की वृद्धि होने पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव चारो की अवश्य वृद्धि होती है। क्षेत्र की वृद्धि होने पर काल की भजना है। अर्थात् काल की वृद्धि हो सकती है और नही भी हो सकती। द्रव्य और पर्याय की वृद्धि होने पर क्षेत्र और काल भजनीय होते है अर्थात् वृद्धि पाते भी हैं और नही भी पाते है।

२१—सुहुमो य होइ कालो तत्तो सुहुमयरयं हवइ खेत्तं।
अंगुलसेढीमेत्ते ओसप्पिणिओ असखेज्जा॥
से त्तं वड्ढमाणयं ओहिणाणं।

२१—काल सूक्ष्म होता है किन्तु क्षेत्र उससे भी सूक्ष्म अर्थात् सूक्ष्मतर होता है, क्योकि एक अगुलमात्र श्रेणी रूप क्षेत्र मे आकाश के प्रदेश असंख्यात अवसर्पिणियो के समय जितने होते है। यह वर्द्धमानक अवधिज्ञान का वर्णन है।

विवेचन—क्षेत्र और काल मे कौन किससे सूक्ष्म है? सूत्रकार ने स्वय ही इसका उत्तर देते हुए कहा है—काल सूक्ष्म है किन्तु वह क्षेत्र की अपेक्षा से स्थूल है। क्षेत्र काल की अपेक्षा से सूक्ष्म है क्योकि प्रमाणागुल बाहल्य-विष्कम्भ श्रेणी मे आकाश प्रदेश इतने है कि यदि उन प्रदेशो का प्रतिसमय अपहरण किया जाय तो निर्लेप होने मे असख्यात अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी काल व्यतीत हो जाएँ। क्षेत्र के एक-एक आकाशप्रदेश पर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध अवस्थित है। द्रव्य की अपेक्षा भाव सूक्ष्म है, क्योकि उन स्कन्धो मे अनन्त परमाणु रहे हुए है और प्रत्येक परमाणु मे वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की अपेक्षा से अनन्त पर्याये वर्तमान हैं। काल, क्षेत्र, द्रव्य और भाव ये क्रमश. सूक्ष्मतर है।

अवधिज्ञानी रूपी द्रव्यो को ही जान सकता है, अरूपी को विषय नही करता। अतएव मूलपाठ मे जहाँ क्षेत्र और काल को जानना कहा गया है वहाँ उतने क्षेत्र और काल मे अवस्थित रूपी द्रव्य समझना चाहिए, क्योकि क्षेत्र और काल अरूपी हैं।

परमावधिज्ञान केवलज्ञान होने से अन्तर्मुहूर्त पहले उत्पन्न होता है। उसमे परमाणु को भी विषय करने की शक्ति है। इस प्रकार उत्कृष्ट अवधिज्ञान का विषय वर्णन किया गया है फिर भी

जिज्ञासुओं को समझने में आसानी रहे, इसलिए एक तालिका भी काल और क्षेत्र को समझने के लिए दी जा रही है—

क्षेत्र	काल
१ एक अंगुल का असंख्यातवा भाग देखे	एक आवलिका का असंख्यातवाँ भाग देखे।
२ अंगुल का संख्यातवा भाग देखे	आवलिका का संख्यातवां भाग देखे।
३ एक अंगुल	आवलिका से कुछ न्यून।
४ पृथक्त्व अंगुल	एक आवलिका।
५ एक हस्त	एक मुहूर्त से कुछ न्यून।
६ एक कोस	एक दिवस से कुछ न्यून।
७ एक योजन	पृथक्त्व दिवस।
८ पच्चीस योजन	एक पक्ष से कुछ न्यून।
९ भरतक्षेत्र	अर्द्ध मास।
१० जम्बूद्वीप	एक मास से कुछ अधिक।
११ अढाई द्वीप	एक वर्ष।
१२ रुचक द्वीप	पृथक्त्व वर्ष।
१३ संख्यात द्वीप	संख्यात काल।
१४ संख्यात व असंख्यात द्वीप एवं समुद्रों की भजना	पल्योपमादि असंख्यात काल।

हीयमान अवधिज्ञान

२२—**से किं तं हीयमाणयं ओहिणाणं ?**

हीयमाणयं ओहिणाणं अप्पसत्थेहिं अज्झवसायट्ठाणेहिं वट्टमाणस्स, वट्टमाणचरित्तस्स, संकिलिस्समाणस्स, संकिलिस्समाणचरित्तस्स सव्वओ समंता ओही परिहीयते। से त्तं हीयमाणयं ओहिणाणं।

२२—शिष्य ने प्रश्न किया—भगवन् ! हीयमान अवधिज्ञान किस प्रकार का है ?

आचार्य ने उत्तर दिया—अप्रशस्त-विचारों मे वर्तने वाले अविरति सम्यक्दृष्टि जीव तथा अप्रशस्त अध्यवसाय मे वर्त्तमान देशविरति और सर्वविरति-चारित्र वाला श्रावक या साधु जब अशुभ विचारों से संक्लेश को प्राप्त होता है तथा उसके चारित्र मे संक्लेश होता है तब सब ओर से तथा सब प्रकार से अवधिज्ञान का पूर्व अवस्था से ह्रास होता है। इस प्रकार हानि को प्राप्त होते हुए अवधिज्ञान को हीयमान अवधिज्ञान कहते हैं।

विवेचन—जब साधक के चारित्रमोहनीय कर्मों का उदय होता है तब आत्मा मे अशुभ विचार आते हैं। जब सर्वविरत, देशविरत या अविरत-सम्यग्दृष्टि संक्लिष्टपरिणामी हो जाते है तब उनको

प्राप्त अवधिज्ञान ह्रास को प्राप्त होने लगता है। सारांश यह है कि अप्रशस्त योग एवं सक्लेश, ये दोनो ही ज्ञान के विरोधी अथवा बाधक हैं।

प्रतिपाति अवधिज्ञान

२३—से कि तं पडिवाति ओहिणाणं ?

पडिवाति ओहिणाणं जण्णं जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं वा संखेज्जतिभागं वा, वालग्गं वा वालग्गपुहुत्तं वा, लिक्खं वा लिक्खपुहुत्तं वा, जूयं वा जूयपुहुत्तं वा, जवं वा जवपुहुत्तं वा, अंगुलं वा अंगुलपुहुत्तं वा, पायं वा पायपुहुत्तं वा, वियत्थिं वा वियत्थिपुहुत्तं वा, रयणिं वा रयणिपुहुत्तं वा, कुच्छिं वा कुच्छिपुहुत्तं वा, धणुयं वा धणुयपुहुत्तं वा, गाउयं वा गाउयपुहुत्तं वा, जोयणं वा जोयणपुहुत्तं वा, जोयणसयं वा जोयणसयपुहुत्तं वा, जोयणसहस्सं वा जोयणसहस्सपुहुत्तं वा, जोयणसतसहस्सं वा जोयणसतसहस्सपुहुत्तं वा, जोयणकोडिं वा जोयणकोडिपुहुत्तं वा, जोयणकोडाकोडिं वा जोयण-कोडाकोडिपुहुत्तं वा उक्कोसेण लोगं वा पासित्ता ण पडिवएज्जा। से त्तं पडिवातिओहिणाणं।

२३—प्रश्न—प्रतिपाति अवधिज्ञान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—प्रतिपाति अवधिज्ञान, जघन्य रूप से अगुल के असख्यातवे भाग को अथवा सख्यातवे भाग को, इसी प्रकार बालाग्र या बालाग्रपृथक्त्व, लीख या लीख पृथक्त्व, यूका—जूँ या यूकापृथक्त्व, यव—जौ या यवपृथक्त्व, अगुल या अंगुलपृथक्त्व, पाद या पादपृथक्त्व, अथवा वितस्ति (विलात) या वितस्तिपृथक्त्व, रत्नि-हाथ परिमाण या रत्निपृथक्त्व, कुक्षि—दो हस्तपरिमाण या कुक्षिपृथक्त्व, धनुष-चार हाथ परिमाण या धनुषपृथक्त्व, कोस—क्रोश या कोसपृथक्त्व, योजन या योजनपृथक्त्व, योजनशत (सौ योजन) या योजनशत पृथक्त्व, योजन-सहस्र—एक हजार योजन या सहस्रपृथक्त्व, लाख योजन अथवा लाखयोजनपृथक्त्व, योजनकोटि—एक करोड योजन या योजन कोटि-पृथक्त्व, योजन कोटिकोटि या योजन कोटाकोटिपृथक्त्व, सख्यात योजन या सख्यातपृथक्त्व योजन, असख्यात या असख्यातपृथक्त्व योजन अथवा उत्कृष्ट रूप से सम्पूर्ण लोक को देखकर जो ज्ञान नष्ट हो जाता है उसे प्रातिपाति अवधिज्ञान कहा गया है।

विवेचन—प्रातिपाति का अर्थ है गिरने वाला अथवा पतित होने वाला। पतन तीन प्रकार से होता है। (१) सम्यक्त्व से (२) चारित्र से (३) उत्पन्न हुए विशिष्ट ज्ञान से। प्रातिपाति अवधिज्ञान जघन्य अगुल के असख्यातवे भाग को और उत्कृष्ट सम्पूर्ण लोक तक को विषय करके पतन को प्राप्त हो जाता है। शेष मध्यम प्रतिपाति के अनेक प्रकार हैं।

जैसे तेल एवं वर्तिका के होते हुए भी वायु के झोंके से दीपक एकदम बुझ जाता है इसी प्रकार प्रतिपाति अवधिज्ञान का ह्रास धीरे-धीरे नही होता अपितु वह किसी भी क्षण एकदम लुप्त हो जाता है।

अप्रतिपाति अवधिज्ञान

२५—से कि तं अपडिवाति ओहिणाणं ?

अपडिवाति ओहिणाणं जेणं अलोगस्स एगमवि आगासपदेसं पासेज्जा तेण परं अपडिवाति ओहिणाणं। से त्तं अपडिवाति ओहिणाणं।

२४--प्रश्न---अप्रतिपाति अवधिज्ञान किस प्रकार का है।

उत्तर---जिस ज्ञान से ज्ञाता अलोक के एक भी आकाश-प्रदेश को जानता है---देखता है, वह अप्रतिपाति अर्थात् न गिरने वाला अवधिज्ञान कहलाता है। यह अप्रतिपाति अवधिज्ञान का स्वरूप है।

विवेचन--जैसे कोई महापराक्रमी पुरुष अपने समस्त शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके निष्कटक राज्य करता है, ठीक इसी प्रकार अप्रतिपाति अवधिज्ञानी केवलज्ञानरूप राज्य-श्री को अवश्य प्राप्त करके त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ बन जाता है। यह ज्ञान बारहवे गुणस्थान के अन्त तक स्थायी रहता है, क्योकि तेरहवे गुणस्थान के प्रथम समय मे केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

इस प्रकार अवधिज्ञान के छह भेदो का वर्णन समाप्त हुआ।

द्रव्यादि क्रम से अवधिज्ञान का निरूपण

२५ त समासओ चउव्विह पण्णत्त, त जहा---दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ।

तत्थ दव्वओ ण ओहिणाणी जहण्णेण अणताणि रूविदव्वाइं जाणइ पासइ, उक्कोसेण सव्वाइं रूविदव्वाइं जाणइ पासइ।

खेत्तओ ण ओहिणाणी जहण्णेण अगुलस्स असखेज्जाइ अलोए लोयमेत्ताइ खंडाइं जाणइ पासइ।

कालओ णं ओहिणाणी जहण्णेण आवलियाए असंखेज्जतिभाग जाणइ पासइ, उक्कोसेणं असखेज्जाओ उस्सप्पिणीओ अवसप्पिणीओ अतीत च अणागत च काल जाणइ पासइ।

भावओ ण ओहिणाणी जहण्णेण अणंते भावे जाणइ पासइ, उक्कोसेण वि अणते भावे जाणइ पासइ, सव्वभावाणमणंतभागं जाणइ पासइ।

२५- अवधिज्ञान सक्षिप्त मे चार प्रकार से प्रतिपादित किया गया है। यथा---द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से।

(१) द्रव्य से--अवधिज्ञानी जघन्यत ---कम से कम अनन्त रूपी द्रव्यो को जानता और देखता है। उत्कृष्ट रूप से समस्त रूपी द्रव्यो को जानता-देखता है।

(२) क्षेत्र से -अवधिज्ञानी जघन्यत अगुल के असख्यातवे भागमात्र को जानता-देखता है। उत्कृष्ट अलोक मे लोकपरिमित असख्यात खण्डो को जानता-देखता है।

(३) काल से -अवधिज्ञान जघन्य-- एक आवलिका के असख्यातवे भाग काल को जानता-देखता है। उत्कृष्ट- अतीत और अनागत---असख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी परिमाण काल को जानता व देखता है।

(४) भाव से-- अवधिज्ञानी जघन्यत अनन्त भावो को जानता-देखता है और उत्कृष्ट भी अनन्त भावो को जानता-देखता है। किन्तु सर्व भावो के अनन्तवे भाग को ही जानता-देखता है।

विवेचन- भाव से जघन्य और उत्कृष्ट रूप से अनन्त भावो---पर्यायो को जानना कहा गया है किन्तु उत्कृष्ट पद मे जघन्य की अपेक्षा अनन्तगुणी पर्यायो का जानना समझना चाहिए। अवधि-

ज्ञानी पुद्‌गल की अनन्त पर्यायो को जानता व देखता है, किन्तु सर्वपर्यायो को नही। वह सर्व द्रव्यो को जानता व देखता है पर सर्वपर्याय उसका विषय नही है।

अवधिज्ञानविषयक उपसंहार

२६—ओहीभवपच्चतिओ, गुणपच्चतिओ य वण्णिओ एसो।
तस्स य बहू वियप्पा, दव्वे खेत्ते य काले य।।

से त्तं ओहिणाणं।

२६—यह अवधिज्ञान भवप्रत्ययिक और गुणप्रत्ययिक दो प्रकार से कहा गया है। और उसके भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप से बहुत-से विकल्प (भेद-प्रभेद) होते हैं।

विवेचन—पूर्वोक्त गाथाओ से अवधिज्ञान के भेदो के विषय में तथा उनमे से भी प्रत्येक के विकल्पो का निर्देश किया गया है।

गाथा मे आए हुए 'य' शब्द से भाव अर्थात् पर्याय ग्रहण करना चाहिए।

अबाह्य-बाह्य अवधिज्ञान

२७—नेरइय-देव-तित्थकरा य ओहिस्सऽबाहिरा हुंति।
पासंति सव्वओ खलु सेसा देसेण पासंति।।

से त्तं ओहिणाणपच्चक्खं।

२७—नारक, देव एव तीर्थंकर अवधिज्ञान से युक्त (अबाह्य) ही होते हैं और वे सब दिशाओ तथा विदिशाओ मे देखते हैं। शेष अर्थात् इनके सिवाय मनुष्य एवं तिर्यंच ही देश से देखते है। इस प्रकार प्रत्यक्ष अवधिज्ञान का वर्णन सम्पूर्ण हुआ।

विवेचन—गाथा मे बताया गया है कि नैरयिक, देव और तीर्थंकर, इनको निश्चय ही अवधिज्ञान होता है। दूसरी विशेषता इनमे यह है कि इन तीनो को जो अवधिज्ञान होता है, वह सर्व दिशाओ और विदिशाओ विषयक होता है। शेष मनुष्य व तिर्यंच ही देश से प्रत्यक्ष करते है। तात्पर्य यह है कि नारक देव और तीर्थंकर अवधिज्ञान से बाहर नही होते, इसके दो अर्थ होते हैं। प्रथम यह कि इन्हे अवश्य ही जन्मसिद्ध अवधिज्ञान होता है। दूसरा अर्थ यह कि ये अपने अवधिज्ञान द्वारा प्रकाशित क्षेत्र के भीतर ही रहते है, क्योकि इनका अवधिज्ञान सभी दिशा-विदिशाओ को प्रकाशित करता है। शेष मनुष्यो और तिर्यंचो के लिए यह नियम नही है। शेष मनुष्य और तिर्यंच अवधिज्ञान से कोई अबाह्य होते है और कोई बाह्य भी होते है, अर्थात् उन्हे दोनो प्रकार का ज्ञान हो सकता है।

देव और नारकी आजीवन अवधिज्ञान से बाह्य रहते है, किन्तु तीर्थंकर छद्मस्थकाल तक ही अवधिज्ञान से अबाह्य होते हैं। तीर्थंकर बनने वाली आत्मा यदि देवलोक से या लोकान्तिक देवलोको मे से च्यवकर आई है तो वह विपुल अवधिज्ञान लेकर आती है और यदि वह पहले, दूसरे एव तीसरे नरक से आती है तो अवधिज्ञान उतना ही रहता है जितना तत्रस्थ नारकी

मे होता है, किन्तु वह अवधिज्ञान अप्रतिपाति होता है। इस प्रकार अवधिज्ञान का निरूपण सम्पन्न हुआ।

मनःपर्यवज्ञान

२८ –से किं त मणपज्जवनाणं ? मणपज्जवणाणे णं भंते! कि मणुस्साणं उपपज्जइ अमणुस्साणं ?

गोयमा ! मणुस्साण, णो अमणुस्साण।

२८—प्रश्न—भते ! मन पर्यवज्ञान का स्वरूप क्या है ? यह ज्ञान मनुष्यो को उत्पन्न होता है या अमनुष्यो को ? (देव नारक और तिर्यंचो को ?)।

भगवान् ने उत्तर दिया—हे गौतम ! मन पर्यवज्ञान मनुष्यो को ही उत्पन्न होता है, अमनुष्यो को नही।

विवेचन—सूत्रकार अवधिज्ञान के पश्चात् अब मन पर्यवज्ञान का अधिकारी कौन हो सकता है, इसका विवेचन प्रश्न और उत्तर के रूप मे करते हैं। प्रश्न किया जा सकता है कि जिन नही किंतु जिन-सदृश गणधरो मे प्रमुख गौतम स्वामी को यह शका कैसे हो सकती है कि मन:पर्यवज्ञान किसको होता है ?

उत्तर यह है कि प्रश्न कई कारणो से किये जाते है। यथा—जिज्ञासा का समाधान करने के लिए, विवाद करने के लिए, किसी ज्ञानी की परीक्षा करने के लिए अथवा अपनी विद्वत्ता सिद्ध करने के लिए भी। किन्तु गौतम स्वामी के लिए इनमे से कोई भी कारण सभाव्य नही हो सकता था। वे चार ज्ञान के धारक, पूर्ण निरभिमान एव विनीत थे। अत उनके प्रश्न पूछने के निम्न कारण हो सकते है। जैसे—अपने अवगत विषय को स्पष्ट करने के लिये, अन्य लोगो की शका के निवारण हेतु, उपस्थित अनेक शिष्यो के सशय के निवारणार्थ, लोगो को ज्ञान हो तथा उनकी अभिरुचि सयम-साधना एव तप मे बढे। यह दृष्टिकोण ही गौतम स्वामी के प्रश्न पूछने मे सभव है।

इससे यह भी परिलक्षित होता है कि आत्मज्ञानी गुरु के सान्निध्य का लाभ लेते हुए निकटस्थ शिष्य को अति विनम्रता से ज्ञानार्जन करते रहना चाहिए।

२९—जइ मणुस्साणं, कि सम्मुच्छिम-मणुस्साण गब्भवक्कतिय-मणुस्साण ?

गोयमा ! नो समुच्छिम-मणुस्साण, गब्भवक्कतिय-मणुस्साण उपपज्जइ।

२९—यदि मनुष्यो को उत्पन्न होता है तो क्या सम्मूर्छिम मनुष्यो को या गर्भव्युत्क्रान्तिक (गर्भज) मनुष्यो को उत्पन्न होता है ?

उत्तर—गौतम ! सम्मूर्छिम मनुष्यो को नही, गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यो को ही उत्पन्न होता है।

विवेचन—भगवान् ने गौतम स्वामी को बताया कि मन पर्यवज्ञान गर्भज मनुष्यो को ही होता है। गर्भज वे होते है जो माता पिता के सयोग से उत्पन्न हो। सम्मूर्छिम मनुष्य को यह ज्ञान नही होता। सम्मूर्छिम वे कहलाते हैं जो निम्नलिखित चौदह स्थानो मे उत्पन्न हो, यथा—गर्भज मनुष्यो के मल, मूत्र, श्लेष्म, नाक का मैल, वमन, पित्त, रक्त-राध, वीर्य, शोणित मे तथा आर्द्र हुए

शुष्क शुक्रपुद्गलो मे, स्त्री-पुरुष के सयोग मे, शव मे, नगर तथा गाव की गदी नालियो मे तथा अन्य सभी अशुचि स्थानो मे समूर्छिम मनुष्य उत्पन्न होते है । समूर्छिमो की अवगाहना अगुल के असख्यातवे भाग मात्र की ही होती हैं । वे मनरहित, मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी, सभी प्रकार से अपर्याप्त होते है । उनकी आयु सिर्फ अन्तर्मुहूर्त की होती है, अत चारित्र का अभाव होने से इन्हे मन पर्यवज्ञान नही होता ।

३०—जइ गब्भवक्कतियमणुस्साण कि कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, अकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साण, अतरदीवगगब्भवक्कतियमणुस्साण ? गोयमा ! कम्मभूमगगब्भवक्कतियमणुस्साण, णो अकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं णो अंतरदीवगगब्भवक्कतियमणुस्साणं ।

३०—यदि गर्भज मनुष्यो को मन पर्यवज्ञान होता है तो क्या कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यो को होता है, अकर्मभूमिज गर्भज मनुष्यो को होता है अथवा अन्तरद्वीपज गर्भज मनुष्यो को होता है ?

उत्तर--गौतम ! कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यो को ही मन पर्यवज्ञान उत्पन्न होता है, अकर्मभूमिज गर्भज और अन्तरद्वीपज गर्भज मनुष्यो को नही होता ।

विवेचन—जहा असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, कला, शिल्प, राजनीति एव चार तीर्थों की प्रवृत्ति हो वह कर्मभूमि कहलाती है । ३० अकर्मभूमि और ५६ अतरद्वीप अकर्मभूमि या भोगभूमि कहलाते हैं । अकर्मभूमिज मानवो का जीवनयापन कल्पवृक्षो पर निर्भर होता है । इनका विस्तृत वर्णन जीवाभिगम सूत्र मे किया गया है ।

३१— जइ कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय मणुमस्साण किं संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कतिय-मणुमस्साणं असंखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय मण्णुस्साण ?

गोयमा ! सखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कतिय-मणुस्साण, णो असखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कतिय-मणुस्साणं ।

३१—प्रश्न—यदि कर्मभूमिज मनुष्यो को मन पर्यवज्ञान उत्पन्न होता है तो क्या सख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यो को होता है अथवा असख्यात वर्ष की आयु प्राप्त कर्मभूमिज मनुष्यो को होता है ?

उत्तर—गौतम ! सख्यात वर्ष की आयु वाले गर्भज मनुष्यो को ही उत्पन्न होता है, असख्यात वर्ष की आयुष्य प्राप्त कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यो को नही होता ।

विवेचन—गर्भज मनुष्य सख्यात एव असख्यात वर्ष की आयु वाले, अर्थात् दो प्रकार के होते है । सख्यात वर्ष की आयु से यहाँ तात्पर्य है, जिसकी आयु कम से कम ९ वर्ष की और उत्कृष्ट करोड पूर्व की हो । इससे अधिक आयु वाला असख्यात वर्ष की आयु प्राप्त कहलाता है तथा मन पर्यवज्ञान प्राप्त नही कर सकता ।

३२—जइ सखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साण, किं पज्जत्तगसखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कतिय-मणुस्साणं ।

अपज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साण ?

गोयमा ! पज्जत्तग-सखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतियमणुस्साणं, णो अपज्जत्तग-सखेज्ज-वासाउयकम्मभूमग-गब्भवक्कंतियमणुस्साणं ।

३२—यदि सख्यातवर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यो को होता है तो क्या पर्याप्त सख्यातवर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज मनुष्यो को या असख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यो को होता है ?

उत्तर—गौतम ! पर्याप्त सख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यो को होता है, अपर्याप्त को नही ।

विवेचन —पर्याप्त एव अपर्याप्त—सख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज, गर्भज मनुष्य दो प्रकार के होते हैं, (१) पर्याप्त (२) अपर्याप्त ।

पर्याप्त—कर्मप्रकृति के उदय से मनुष्य स्वयोग्य पर्याप्तियो को पूर्ण करे वह पर्याप्त कहलाता है ।

अपर्याप्त —कर्म के उदय से स्वयोग्य पर्याप्तियो को जो पूर्ण न कर सके उसे अपर्याप्त कहते है ।

जीव की शक्ति-विशेष की पूर्णता पर्याप्ति कहलाती है । पर्याप्तियाँ छ है । वे इस प्रकार है—

(१) आहार-पर्याप्ति - जिस शक्ति से जीव आहार के योग्य बाह्य पुद्गलो को ग्रहण करके उन्हे वर्ण, रस आदि रूप मे बदलता है उसकी पूर्णता को आहारपर्याप्ति कहते है ।

(२) शरीरपर्याप्ति—जिस शक्ति द्वारा रस, रूप मे परिणत आहार को अस्थि, मास मज्जा एव शुक्र-शोणित आदि मे परिणत किया जाता है उसकी पूर्णता को शरीरपर्याप्ति कहते है ।

(३) इन्द्रियपर्याप्ति—इन्द्रियो के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करके अनाभोगनिर्वर्तित योग-शक्ति द्वारा उन्हे इन्द्रिय रूप मे परिणत करने की शक्ति की पूर्णता को इन्द्रियपर्याप्ति कहते है ।

(४) श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति– उच्छ्वास के योग्य पुद्गलो को जिस शक्ति के द्वारा ग्रहण करके छोडा जाता है, उसकी पूर्ति को श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति कहते है ।

(५) भाषापर्याप्ति—जिस शक्ति के द्वारा आत्मा भाषावर्गणा के पुद्गलो को ग्रहण करके भाषा के रूप मे परिणत करता और छोडता है उसकी पूर्णता को भाषापर्याप्ति कहते है ।

(६) मन पर्याप्ति—जिस शक्ति के द्वारा मनोवर्गणा के पुद्गलो को ग्रहण करके, उन्हे मन के रूप मे परिणत करता है उसकी पूर्णता को मन पर्याप्ति कहते हैं । मन पुद्गलो के अवलम्बन से ही जीव मनन-सकल्प-विकल्प करता है ।

आहारपर्याप्ति एक ही समय मे पूर्ण हो जाती है । एकेन्द्रिय मे प्रथम की चार पर्याप्तियाँ होती हैं । विकलेन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय मे पाँच पर्याप्तियाँ पाई जाती है, मन नही । सज्ञी मनुष्य मे छ. पर्याप्तियाँ होती है । ध्यान मे रखने की आवश्यकता है कि जिस जीव मे जितनी पर्याप्तियाँ पाई जाती हैं, वे सब हो तो उसे पर्याप्त कहते है । जब तक उनमे से न्यून हो तब तक वह अपर्याप्त कहा

जाता है। प्रथम आहार पर्याप्ति को छोडकर शेष पर्याप्तियो की समाप्ति अन्तर्मुहूर्त्त मे होती है। जो पर्याप्त होते हैं वे ही मनुष्य मन पर्यवज्ञान को प्राप्त कर सकते है।

३३—जइ पज्जत्तगसखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, किं सम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतियमणुस्साणं, मिच्छदिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साण, सम्मामिच्छदिट्ठि-पज्जत्तग-सखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साण ?

गोयमा ! सम्मद्दिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साण, णो मिच्छद्दिट्ठिपज्जत्तग-सखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतियमणुसाण, णो सम्मामिच्छद्दिट्ठिपज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतियमणुस्साण।

३३—यदि मन पर्यवज्ञान पर्याप्त, सख्यात वर्ष की आयु वाले, कर्मभूमिज, गर्भज, मनुष्यो को होता है तो क्या वह सम्यक्‌दृष्टि, पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले, कर्मभूमिज-गर्भज मनुष्यो को होता है, मिथ्यादृष्टि पर्याप्त, सख्यात वर्ष की आयुवाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यो को होता है। अथवा मिश्रदृष्टि पर्याप्त सख्येय वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यो को उत्पन्न होता है ?

उत्तर—सम्यग्‌दृष्टि पर्याप्त सख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यो को होता है। मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यो को नही होता।

विवेचन—सम्यक्‌दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि के लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) सम्यक्‌दृष्टि—सम्यक्‌दृष्टि उसे कहते हैं जो आत्मा के, सत्य के तथा जिनप्ररूपित तत्त्व के सम्मुख हो। सक्षेप मे, जिसको तत्त्वो पर सम्यक् श्रद्धा हो।

(२) मिथ्यादृष्टि—मिथ्यादृष्टि वह कहलाता है जिसकी जिन-प्ररूपित तत्त्वो पर श्रद्धा न हो और जो आत्मबोध एव सत्य से विमुख हो।

(३) मिश्रदृष्टि—मिश्रदर्शनमोहनीय कर्म के उदय से जिसकी दृष्टि किसी पदार्थ का यथार्थ निर्णय अथवा निषेध करने मे समक्ष न हो, जो सत्य को न ग्रहण कर सकता हो, न त्याग कर सकता हो, और जो मोक्ष के उपाय एव बध के हेतुओ को समान मानता हो तथा जीवादि पदार्थों पर न श्रद्धा रखता हो और न ही अश्रद्धा करता हो, ऐसी मिश्रित श्रद्धा वाला जीव मिश्रदृष्टि कहलाता है। यथा—कोई व्यक्ति रंग की एकरूपता देखकर सोने व पीतल मे भेद न कर पाता हो।

३४—जइ सम्मद्दिट्ठि-पज्जत्तग-सखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतियमणुस्साणं, किं सजय-सम्म-दिट्ठि-पज्जत्तग-सखेज्जवासाउय-कम्मभूमग- गब्भवक्कंतिय-मणुस्साण, असजय-सम्मद्दिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जावासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, संजया-संजय-सम्मद्दिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साण ?

गोयमा ! संजय-सम्मद्दिट्ठि-पज्जत्तग-सखेज्ज-वासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साण,

णो असंजय-सम्मद्दिट्ठि-पज्जत्तगा-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं,णो संजया-संजय-सम्मद्दिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साण ।

३४—प्रश्न—यदि सम्यग्दृष्टि पर्याप्त, सख्यावर्ष की ग्रायु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को होता है, तो क्या सयत—सयमी सम्यग्दृष्टि पर्याप्त सख्यात वर्ष की ग्रायु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यो को होता है, अथवा असयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्त सख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यो को होता है या सयतासयत—देशविरति सम्यग्दृष्टि पर्याप्त सख्यात वर्ष की आयु वाले कर्म-भूमिज गर्भज मनुष्यो को होता है ?

उत्तर—गौतम ! सयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्त सख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यो को उत्पन्न होता है । असयत और सयतासयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्त सख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यो को नही होता ।

विवेचन—इन प्रश्नोत्तरो मे सयत, असयत और सयतासयत जीवो के विषय मे उल्लेख किया गया है । इनके लक्षण निम्न प्रकार हैं—

संयत—जो सर्वविरत हैं तथा चारित्रमोहनीय कर्म के क्षय अथवा क्षयोपशम से जिन्हे सर्व-विरति चारित्र की प्राप्ति हो गई है, वे सयत कहलाते है ।

असंयत—जो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती हो, जिनके अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से—देश-विरति न हो उन्हे अविरत या असयत सम्यग्दृष्टि कहते है ।

संयतासंयत—सयतासयत सम्यग्दृष्टि मनुष्य श्रावक होते हैं । श्रावको को हिंसा आदि पाच आश्रवो का अश रूप से त्याग होता है, सम्पूर्ण रूप से नही ।

सयतादि को क्रमश. विरत, अविरत और विरताविरत तथा पच्चक्खाणी, अपच्चक्खाणी एव पच्चक्खाणापच्चक्खाणी भी कहते हैं ।

अभिप्राय यह है कि सयत या सर्वविरत मनुष्यो को ही मन पर्यवज्ञान उत्पन्न हो सकता है, असयत और सयतासयत सम्यक्दृष्टि मनुष्य इस ज्ञान के पात्र नही हैं ।

३५—जइ संजय-सम्मद्दिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जावासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं किं पमत्तसजय-सम्मद्दिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्ज वासाउयकम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साण किं अप्पमत्त-सजय-सम्मद्दिट्ठि-पज्जत्तग-सखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं ?

गोयमा ! अप्पमत्तसजय-सम्मद्दिट्ठि-पज्जत्तग - सखेज्जवासाउय - कम्मभूमग - गब्भवक्कतिय-मणुस्साण, णो पमत्तसंजय-सम्मद्दिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कतिय-मणुस्साणं ।

३५—प्रश्न—यदि सयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्त सख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यो को उत्पन्न होता है तो क्या प्रमत्त सयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्त सख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यो को होता है या अप्रमत्त सयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्त सख्यातवर्ष-आयुष्क कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यो को ?

उत्तर—गौतम ! अप्रमत्त सयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्तक सख्यातवर्ष की आयुवाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यो को होता है, प्रमत्त को नही ।

विवेचन—इस सूत्र मे गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है कि– भगवन् ! अगर सयत को ही मन -पर्यवज्ञान उत्पन्न होता है तो सयत भी प्रमत्त एव अप्रमत्त के भेद से दो प्रकार के होते है। इनमे से कौन इस ज्ञान का अधिकारी है ? भगवान् ने उत्तर दिया– अप्रमत्त सयत ही इस ज्ञान का अधिकारी है।

अप्रमत्तसयत—जो सातवे आदि गुणस्थानो मे पहुँचा हुआ हो, जो निद्रा आदि प्रमादो मे अतीत हो चुका हो, जिसके परिणाम सयत मे वृद्धिगत हो रहे हो ऐसे मुनि को अप्रमत्तसयत कहते हैं।

प्रमत्तसयत—जो सज्वलन कषाय, निद्रा, विकथा आदि प्रमाद मे प्रवर्तते है उन्हे प्रमत्तसयत कहते है। ऐसे मुनि मन पर्यवज्ञान के अधिकारी नही होते।

३६—जइ अप्पमत्तसजय-सम्मद्दिट्ठि-पज्जत्तग-सखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कतिय-मणुस्साण, किं इड्ढिपत्त-अप्पमत्तसजय-सम्मद्दिट्ठि-पज्जत्तग-सखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कतिय-मणुस्साण, अणिड्ढिपत्त-अप्पमत्तसंजय-सम्मद्दिट्ठि-पज्जत्तग-सखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कतिय-मणुस्साण।

गोयमा ! इड्ढिपत्त-अप्पमत्तसजय-सम्मद्दिट्ठिपज्जत्तग-सखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कतिय-मणुस्साण, णो अणिड्ढिपत्त-अप्पमत्तसजय-सम्मद्दिट्ठि-पज्जत्तग-सखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कतिय-मणुस्साण मणपज्जवणाण-समुप्पज्जइ।

३६—प्रश्न– यदि अप्रमत्तसयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्त सख्यात वर्ष की आयु वाले, कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यो को मन पर्यवज्ञान उत्पन्न होता है तो क्या ऋद्धिप्राप्त—लब्धिधारी अप्रमत्तसयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्त सख्यात वर्षायु-कर्मभूमिज-गर्भज मनुष्यो को होता है अथवा लब्धिरहित अप्रमत्त सयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्त सख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यो को होता है ?

उत्तर—गौतम ! ऋद्धिप्राप्त अप्रमादी सम्यग्दृष्टि पर्याप्त सख्यात की वर्ष आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यो को मन पर्यवज्ञान की प्राप्ति होती है। ऋद्धिरहित अप्रमादी सम्यग्दृष्टि पर्याप्त सख्यातवर्ष की आयु वाले कर्मभूमि मे पैदा हुए गर्भज मनुष्यो को मन पर्यवज्ञान की प्राप्ति नही होती।

विवेचन—ऋद्धिप्राप्त जो अप्रमत्त आत्मार्थी मुनि अतिशायिनी बुद्धि से सम्पन्न हो तथा अवधिज्ञान, पूर्वगतज्ञान, आहारकलब्धि, वैक्रियलब्धि, तेजोलेश्या, विद्याचरण, जघाचारण आदि अनेक लब्धियो मे से किन्ही लब्धियो से युक्त हो, उन्हे ऋद्धिप्राप्त कहते है। कुछ लब्धियाँ औदयिक भाव मे, कुछ क्षायोपशमिक भाव मे और कुछ क्षायिक भाव मे होती हैं। ऐसी विशिष्ट लब्धियाँ सयम एव तपरूपी कष्टसाध्य साधना से प्राप्त होती हैं। विशिष्ट लब्धि प्राप्त एव ऋद्धि-सम्पन्न मुनि को ही मन पर्यवज्ञान उत्पन्न होता है।

अनृद्धिप्राप्त– अप्रमत्त होने पर भी जिन सयतो को कोई विशिष्ट लब्धियाँ प्राप्त नही होती उन्हे अनृद्धिप्राप्त अप्रमत्त सयत कहते हैं। ये मन पर्यवज्ञान के अधिकारी नही होते।

३७—तं च दुविहं उप्पज्जइ, तंजहा—उज्जुमती य विउलमती य।

तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा—दव्वओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ।

तत्थ दव्वओ णं उज्जुमती अणंते अणंतपदेसिए खंधे जाणइ पासइ, ते चेव विउलमती अब्भहियतराए, विउलतराए, विसुद्धतराए, वितिमिरतराए जाणइ पासइ।

खित्तओ णं—उज्जुमई जयन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइ भागं, उक्कोसेणं अहे जाव इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उवरिमहेट्ठिल्ले खुड्डगपयरे, उड्ढं जाव जोइसस्स उवरिमतले, तिरियं जाव अंतोमणुस्सखित्ते अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु, पन्नरससु कम्मभूमिसु, तीसाए अकम्मभूमिसु, छप्पन्नाए अंतरदीवगेसु सन्निपंचिंदियाणं पज्जत्तयाण मणोगए भावे जाणइ पासइ, तं चेव विउलमई अड्ढाइज्जेहिमंगुलेहिं अब्भहियतरं, विउलतरागं विसुद्धतरागं वितिमिरतरागं खेत्तं जाणइ पासइ।

कालओ णं उज्जुमई जहन्नेणं पलिओवमस्स असंखिज्जइभागं उक्कोसएणवि पलिओवमस्स असंखिज्जइभागं अतीयमणागय वा कालं जाणइ पासइ, त चेव विउलमई अब्भहियतरागं विसुद्धतरागं, वितिमिरतराग जाणइ पासइ।

भावओ णं—उज्जुमई अणंते भावे जाणइ पासइ, सव्वभावाणं अणंतभागं जाणइ पासइ, त चेव विउलमई विसुद्धतरागं वितिमिरतरागं जाणइ पासइ।

३७—मन पर्यवज्ञान दो प्रकार से उत्पन्न होता है। यथा—(१) ऋजुमति (२) विपुलमति।

दो प्रकार का होता हुआ भी यह विषय-विभाग की अपेक्षा चार प्रकार से है। यथा—(१) द्रव्य से (२) क्षेत्र से (३) काल से (४) भाव से।

(१) द्रव्य से—ऋजुमति अनन्त अनन्तप्रदेशिक स्कन्धो को विशेष तथा सामान्य रूप से जानता व देखता है, और विपुलमति उन्ही स्कन्धो को कुछ अधिक विपुल, विशुद्ध और निर्मल रूप से जानता व देखता है।

(२) क्षेत्र से—ऋजुमति जघन्य अगुल के असख्यातवे भाग मात्र क्षेत्र को तथा उत्कर्ष से नीचे, इस रत्नप्रभा पृथ्वी के उपरितन-अधस्तन क्षुल्लक प्रतर को और ऊँचे ज्योतिषचक्र के उपरितल पर्यंत और तिरछे लोक मे मनुष्य क्षेत्र के अन्दर अढाई द्वीप समुद्र पर्यंत, पन्द्रह कर्मभूमियो, तीस अकर्मभूमियो और छप्पन अन्तरद्वीपो मे वर्तमान सज्ञिपचेन्द्रिय पर्याप्त जीवो के मनोगत भावो को जानता व देखता है। और उन्ही भावो को विपुलमति अढाई अगुल अधिक विपुल, विशुद्ध और निर्मलतर तिमिररहित क्षेत्र को जानता व देखता है।

(३) काल से—ऋजुमति जघन्य पल्योपम के असख्यातवे भाग को और उत्कृष्ट भी पल्योपम के असख्यातवे भाग भूत और भविष्यत् काल को जानता व देखता है। उसी काल को विपुलमनि उससे कुछ अधिक, विपुल, विशुद्ध और वितिमिर अर्थात् सुस्पष्ट जानता व देखता है।

(४) भाव से—ऋजुमति अनन्त भावो को जानता व देखता है, परन्तु सब भावो के अनन्तवें भाग को ही जानता व देखता है। उन्ही भावो को विपुलमति कुछ अधिक, विपुल, विशुद्ध और निर्मल रूप से जानता व देखता है।

विवेचन—मन:पर्यवज्ञान के दो भेद—(१) ऋजुमति—जो अपने विषय का सामान्य रूप से प्रत्यक्ष करता है।

(२) विपुलमति—वह कहलाता है जो अपने विषय को विशेष रूप से प्रत्यक्ष करता है।

अब मन पर्यवज्ञान के विषय का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है।

(१) द्रव्यत —मन पर्यवज्ञानी मनोवर्गणा के मनरूप में परिणत अनन्त प्रदेशी स्कन्धो की पर्यायों को स्पष्ट रूप से देखता व जानता है।

जैनागम मे कही भी मन पर्याय दर्शन का विधान नही है, फिर भी मूल पाठ मे 'जाणइ' के साथ 'पासइ' अर्थात् देखता है, ऐसा कहा जाता है। इसका तात्पर्य क्या है? इस सबध मे अनेक आचार्यों ने अनेक अभिमत व्यक्त किए हैं। किन्ही का कथन है कि मन पर्यायज्ञानी अवधिदर्शन से देखता है, किन्तु यह समाधान सगत नही है, क्योकि किसी-किसी मन पर्यायज्ञानी को अवधिदर्शन-अवधिज्ञान होते ही नही हैं। किसी का मन्तव्य है कि मन पर्यवज्ञान ईहाज्ञानपूर्वक होता है। कोई उसे अचक्षुदर्शनपूर्वक मानते हैं तो कोई प्रज्ञापना सूत्र मे प्रतिपादित पश्यत्तापूर्वक स्वीकार करते है। विशेषावश्यक भाष्य मे इस विषय की विस्तारपूर्वक मीमासा की गई है। जिज्ञासु जन उसका अवलोकन करे। प्रस्तुत मे टीकाकार मलयगिरि ने लिखा है कि मन पर्यायज्ञान मनरूप परिणत पुद्गलस्कन्धो को प्रत्यक्ष जानता है और मन द्वारा चिन्तित बाह्य पदार्थों को अनुमान से जानता है। भाष्यकार और चूर्णिकार का भी यही अभिमत है। इसी अपेक्षा से 'पासइ' शब्द का प्रयोग किया गया है। दूसरा समाधान टीकाकार ने यह किया है कि ज्ञान एक होने पर भी क्षयोपशम की विचित्रता के कारण उसका उपयोग अनेकविध हो सकता है। अतएव विशिष्टतर मनोद्रव्यो के पर्यायो को जानने की अपेक्षा 'जाणइ' कहा है, और सामान्य मनोद्रव्यो को जानने की अपेक्षा 'पासइ' शब्द का प्रयोग किया गया है।

(२) क्षेत्रत —लोक के मध्यभाग मे अवस्थित आठ रुचक प्रदेशो से छह दिशाएँ और चार विदिशाएँ प्रवृत्त होती हैं। मानुषोत्तर पर्वत, जो कुण्डलाकार है उसके अन्तर्गत अढाई द्वीप और दो समुद्र हैं। उसे समयक्षेत्र भी कहते हैं। इसकी लम्बाई-चौडाई ४५ लाख योजन की है। मन पर्यवज्ञानी समयक्षेत्र मे रहने वाले समनस्क जीवो के मन की पर्यायो को जानता व देखता है तथा विमला दिशा में सूर्य-चन्द्र, ग्रह-नक्षत्रादि मे रहने वाले देवो के तथा भद्रशाल वन मे रहने वाले संज्ञी जीवो के मन की पर्यायो को भी प्रत्यक्ष करता है। वह नीचे पुष्कलावती विजय के अन्तर्गत ग्राम नगरो मे रहने वाले सज्ञी मनुष्यो और तिर्यंचों के मनोगत भावो को भी भलीभाँति जानता है। मन की पर्याय ही मन पर्याय ज्ञान का विषय है।

(३) कालत.—मन.पर्यवज्ञानी केवल वर्तमान को ही नही अपितु अतीतकाल मे पल्योपम के असंख्यातवे काल पर्यंत तथा इतना ही भविष्यत्काल को अर्थात् मन की जिन पर्यायो को हुए पल्योपम का असंख्यातवां भाग हो गया है और जो मन की भविष्यकाल मे पर्यायें होगी, जिनकी अवधि पल्योपम के असंख्यातवें भाग की है, उतने भूत और भविष्य-काल को वर्तमान काल की तरह भलीभाँति जानता व देखता है।

(४) भावत —मन पर्यवज्ञान का जितना क्षेत्र बताया जा चुका है, उसके अन्तर्गत जो समनस्क जीव है वे सख्यात ही हो सकते हैं, असख्यात नही । जबकि समनस्क जीव चारो गतियो में असख्यात हैं, उन सबके मन की पर्यायो को नही जानता । मन का प्रत्यय अवधिज्ञानी भी कर सकता है किन्तु मन की पर्यायो को मन पर्यायज्ञानी सूक्ष्मतापूर्वक, अधिक विशुद्ध रूप से प्रत्यय जानता व देखता है ।

यहाँ एक शका होती है कि अवधिज्ञान का विषय रूपी है और मन पर्यायज्ञान का विषय भी तो रूपी है फिर अवधिज्ञानी मन पर्यवज्ञानी की तरह मन को तथा मन की पर्यायो को क्यो नही जानता ?

शका का समाधान यह है कि अवधिज्ञानी मन को व उसकी पर्यायो को भी प्रत्यक्ष कर सकता है किन्तु उसमे झलकते हुए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को प्रत्यक्ष नही कर सकता । जैसे टेलीग्राफ की टिक-टिक कोई भी कानो से सुन सकता है किन्तु उसके पीछे क्या आशय है, इसे टेलीग्राफ पर काम करने वाले व्यक्ति ही जान पाते हैं ।

एक दूसरी शका और भी उत्पन्न होती है कि ज्ञान अरूपी और अमूर्त है जबकि मन पर्यव-ज्ञान का विषय रूपी है, ऐसी स्थिति मे वह मनोगत भावो को कैसे जान सकता है और कैसे प्रत्यक्ष कर सकता है ?

इसका समाधान यह है कि क्षायोपशमिक भाव मे जो ज्ञान होता है वह एकान्त रूप से अरूपी नही होता कथचित् रूपी भी होता है । निश्चय रूप से अरूपी ज्ञान क्षायिक भाव मे ही होता है । जैसे औदयिक भाव मे जीव कथंचित् रूपी होता है, वैसे ही क्षायोपशमिक ज्ञान भी कथचित् रूपी होता है, सर्वथा अरूपी नही ।

एक उदाहरण से इस बात को समझा जा सकता है । जैसे—विद्वान् व्यक्ति भाषा को सुनकर कहने वाले के भावो को भी समझ लेता है उसी प्रकार विभिन्न निमित्तो से भाव समझे जा सकते हैं, क्योकि क्षायोपशमिक भाव सर्वथा अरूपी नही होता ।

ऋजुमति विपुलमति में अन्तर

ऋजुमति और विपुलमति मे अतर एक उदाहरण से समझना चाहिए। जैसे दो छात्रो ने एक ही विषय की परीक्षा दी हो और उत्तीर्ण भी हो गये हो । किन्तु एक ने सर्वाधिक अक प्राप्त कर प्रथम श्रेणी प्राप्त की और दूसरे ने द्वितीय श्रेणी । स्पष्ट है कि प्रथम श्रेणी प्राप्त करने वाले का ज्ञान कुछ अधिक रहा और दूसरे का उससे कुछ कम ।

ठीक इसी तरह ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति ज्ञान अधिकतर, विपुलतर एव विशुद्धतर होता है । ऋजुमति तो प्रतिपाति भी हो सकता है अर्थात् उत्पन्न होकर नष्ट हो सकता है, किन्तु विपुलमति नही गिरता । विपुलमति मन.पर्यवज्ञानी उसी भव मे केवलज्ञान प्राप्त करता है ।

अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान में अन्तर

(१) अवधिज्ञान की अपेक्षा मन:पर्यवज्ञान अधिक विशुद्ध होता है ।

(२) अवधिज्ञान का विषयक्षेत्र सभी रूपी पदार्थ हैं, जबकि मन:पर्यवज्ञान का विषय केवल पर्याप्त संज्ञी जीवों के मानसिक पर्याय ही हैं ।

(३) अवधिज्ञान के स्वामी चारो गतियो मे पाए जाते है, किन्तु मन पर्याय के अधिकारी लब्धिसपन्न सयत ही हो सकते है।

(४) अवधिज्ञान का विषय कुछ पर्याय सहित रूपी द्रव्य है, जबकि मन पर्यवज्ञान का विषय उसकी अपेक्षा अनन्तवाँ भाग है।

(५) अवधिज्ञान मिथ्यात्व के उदय से विभङ्गज्ञान के रूप मे परिणत हो सकता है, जबकि मन पर्यवज्ञान के होते हुए मिथ्यात्व का उदय होता ही नही। अर्थात् इस ज्ञान का विपक्षी कोई अज्ञान नही है।

(६) अवधिज्ञान आगामी भव मे भी साथ जा सकता है जबकि मन:पर्यवज्ञान इस भव तक ही रहता है, जैसे सयम और तप।

मन:पर्यवज्ञान का उपसंहार

३८—मणपज्जवनाणं पुण, जणमण-परिचिंतियत्थपागडणं।
माणुसखित्तनिबद्ध, गुणपच्चइअ चरित्तवओ॥
से त्तं मणपज्जवनाणं।

३८—मन पर्यवज्ञान मनुष्य क्षेत्र मे रहे हुए प्राणियो के मन द्वारा परिचिन्तित अर्थ को प्रकट करने वाला है। क्षान्ति, सयम आदि गुण इस ज्ञान की उत्पत्ति के कारण है और यह चारित्रसम्पन्न अप्रमत्तसयम को ही होता है।

विवेचन—उक्त गाथा मे 'जन' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसकी व्युत्पत्ति है—"जायते इति जन"। इसके अनुसार जन का अर्थ केवल मनुष्य ही नही, अपितु समनस्क भी है। मनुष्यलोक दो समुद्र और अढाई द्वीप तक ही सीमित है। उस मर्यादित क्षेत्र मे जो मनुष्य, तिर्यंच, सज्ञी पचेन्द्रिय तथा देव रहते है उनके मन के पर्यायो को मन पर्यवज्ञानी, जान सकते है।

यहा 'गुणपच्चइय' तथा 'चरित्तवओ' ये दो पद महत्त्वपूर्ण है। अवधिज्ञान जैसे भवप्रत्ययिक और गुणप्रत्ययिक, इस तरह दो प्रकार का है, वैसे मन पर्याय नही। वह केवल गुणप्रत्ययिक ही है। अवधिज्ञान तो अविरत, श्रावक और प्रमत्तसयत को भी हो जाता है किन्तु मन पर्याय ज्ञान केवल चारित्रवान् साधक को ही होता है।

केवलज्ञान

३९—से किं तं केवलनाणं? केवलनाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—भवत्थकेवलनाणं च सिद्ध-केवलनाणं च।

से किं तं भवत्थकेवलनाणं? भवत्थकेवलनाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—सजोगि-भवत्थकेवल-नाणं च अजोगिभवत्थ-केवलनाणं च।

से किं तं सजोगिभवत्थ-केवलणाणं? सजोगिभवत्थकेवलणाणं दुविहं पण्णत्तं तं जहा—पढमसमय-सजोगिभवत्थ-केवलणाणं च, अपढमसमय-सजोगिभवत्थ-केवलणाणं च। अहवा चरमसमय-

सजोगिभवत्थ-केवलणाणं च, अचरमसमय-सजोगिभवत्थ-केवलणाणं च। से त्तं सजोगिभवत्थ-केवलणाणं।

से किं तं अजोगिभवत्थ-केवलणाणं? अजोगिभवत्थ-केवलणाणं दुविहं पण्णत्तं तं जहा— पढमसमय-अजोगिभवत्थ-केवलणाणं च, अपढमसमय-अजोगिभवत्थ-केवलणाणं च। अहवा चरम-समय-अजोगिभवत्थकेवलणाणं, अचरमसमय-अजोगिभवत्थकेवलणाणं च। से त्तं भवत्थ-केवलणाणं।

३१—गौतम स्वामी ने पूछा—भगवन्! केवलज्ञान का स्वरूप क्या है?

उत्तर—गौतम! केवलज्ञान दो प्रकार का प्रतिपादन किया गया है, जैसे—(१) भवस्थ-केवलज्ञान और (२) सिद्ध-केवलज्ञान।

प्रश्न—भवस्थ-केवलज्ञान कितने प्रकार का है?

उत्तर—भवस्थ-केवलज्ञान दो प्रकार का है। यथा—(१) सयोगिभवस्थ-केवलज्ञान एवं (२) अयोगिभवस्थ केवलज्ञान।

प्रश्न—भगवन्! सयोगिभवस्थ-केवलज्ञान कितने प्रकार का है?

भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम! सयोगिभवस्थ-केवलज्ञान भी दो प्रकार का है, यथा—प्रथमसमय-सयोगिभवस्थ केवलज्ञान अर्थात् जिसे उत्पन्न हुए प्रथम ही समय हो और दूसरा अप्रथम-समय-सयोगिभवस्थ केवलज्ञान—जिस ज्ञान को पैदा हुए एक से अधिक समय हो गये हों।

इसे अन्य दो प्रकार से भी बताया है। यथा (१) चरमसमय-सयोगिभवस्थ केवलज्ञान-सयोगि अवस्था मे जिसका अन्तिम एक समय शेष रह गया है, ऐसे भवस्थकेवली का ज्ञान (२) अचरम समय-सयोगिभवस्थ केवलज्ञान—सयोगि-अवस्था मे जिसके अनेक समय शेष रहते हैं उसका केवलज्ञान। इस प्रकार यह सयोगिभवस्थ-केवलज्ञान का वर्णन है।

प्रश्न—अयोगिभवस्थ केवलज्ञान कितने प्रकार का है?

उत्तर—अयोगिभवस्थ केवलज्ञान दो प्रकार का है। यथा—

(१) प्रथमसमय-अयोगिभवस्थ केवलज्ञान
(२) अप्रथमसमय-अयोगिभवस्थ-केवलज्ञान

अथवा (१) चरमसमय- अयोगिभवस्थ-केवलज्ञान
(२) अचरमसमय-अयोगिभवस्थ-केवलज्ञान

इस प्रकार अयोगिभवस्थ केवलज्ञान का वर्णन पूरा हुआ। यही भवस्थ-केवलज्ञान है।

विवेचन—यहाँ सकल प्रत्यक्ष का स्वरूप बताया गया है। अरिहन्त और सिद्ध भगवान् मे केवलज्ञान समान होने पर भी स्वामी के भेद से उसके दो भेद किये हैं—(१) भवस्थकेवलज्ञान और (२) सिद्धकेवलज्ञान।

जो ज्ञान ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय, इन चार घातिकर्मों के क्षय होने से उत्पन्न होता है, वह आवरण से सर्वथा रहित एव पूर्ण होता है। जिस प्रकार रवि-मण्डल मे

प्रकाश ही प्रकाश होता है अंधकार का लेश भी नही होता, इसी प्रकार केवलज्ञान पूर्ण प्रकाश-पुंज होता है। उत्पन्न होने के बाद फिर कभी वह नष्ट नही होता। यह ज्ञान सादि अनन्त है तथा सदा एक सरीखा रहने वाला है।

केवलज्ञान मनुष्य भव मे ही उत्पन्न होता है, अन्य किसी भव मे नही। उसकी अवस्थिति सदेह और विदेह दोनो अवस्थाओ मे पाई जाती है। इसीलिए सूत्रकार ने भवस्थ एव सिद्ध केवलज्ञान दो प्रकार का बताया है। मनुष्य शरीर मे अवस्थित तेरहवे-चौदहवे गुणस्थानवर्त्ती प्रभु के केवलज्ञान को भवस्थ केवलज्ञान कहते हैं तथा देहरहित मुक्तात्मा को सिद्ध कहते है। उनके ज्ञान को सिद्धकेवल कहा है। इस विषय मे वृत्तिकार ने कहा है—

"तत्रेह भवो मनुष्यभव एव ग्राह्योऽन्यत्र केवलोत्पादाभावात्, भवे तिष्ठन्ति इति भवस्था·।"

भवस्थ केवलज्ञान भी दो प्रकार का बताया गया है। सयोगिभवस्थ केवलज्ञान और अयोगि-भवस्थ केवलज्ञान। वीर्यात्मा अर्थात् आत्मिक शक्ति से आत्मप्रदेशो मे स्पन्दन होने से मन, वचन और काय मे जो व्यापार होता है उसी को योग कहते है। वह योग पहले गुणस्थान से लेकर तेरहवे गुणस्थान तक पाया जाता है। चौदहवे गुणस्थान मे योगनिरुन्धन होने पर जीव अयोगी कहलाता है। आध्यात्मिक उत्कर्ष के चौदह स्थान या श्रेणिया है, जिन्हे गुणस्थान कहते हैं। बारहवे गुणस्थान मे वीतरागता उत्पन्न हो जाती है किन्तु केवलज्ञान नही हो पाता। केवलज्ञान तो तेरहवे गुणस्थान मे प्रवेश के पहले समय मे ही उत्पन्न होता है। इसलिये उसे प्रथम समय का सयोगिभवस्थ केवलज्ञान कहते है। किन्तु जिसे तेरहवे गुणस्थान मे रहते हुए एक से अधिक समय हो जाते हैं, उस अप्रथम-समय का सयोगिभवस्थ केवलज्ञान होता है। अथवा जो तेरहवे गुणस्थान के अन्तिम समय पर पहुँच गया है, उसे चरम समय सयोगिभवस्थ केवलज्ञान तथा जो तेरहवे गुणस्थान के चरम समय मे नही पहुचा उसके ज्ञान को अचरम समय सयोगिभवस्थ केवलज्ञान कहा जाता है।

अयोगिभवस्थ केवलज्ञान के भी दो भेद हैं—जिस केवलज्ञान-प्राप्त आत्मा को चौदहवे गुणस्थान मे प्रवेश किये हुए पहला समय ही हुआ है, उसके ज्ञान को प्रथम समय अयोगिभवस्थ-केवल ज्ञान कहते है। और जिसे प्रवेश किये अनेक समय हो गये है, उसके ज्ञान को अप्रथम समय अयोगि-भवस्थ-केवलज्ञान कहते है। अथवा जिसे सिद्ध होने मे एक समय ही शेष रहा है उसके ज्ञान को चरमसमय-अयोगिभवस्थ केवलज्ञान तथा जिसे सिद्ध होने मे एक से अधिक समय शेष है, ऐसे चौदहवे गुणस्थान के स्वामी के केवलज्ञान को अचरम-समय-अयोगिभवस्थ-केवलज्ञान कहते है।

चौदहवे गुणस्थान की स्थिति, अ, इ, उ, ऋ, और लृ इन पांच अक्षरो के उच्चारण में जितना समय लगता है, मात्र इतनी ही है। इसे शैलेशी अवस्था भी कहते हैं।

सिद्ध वे कहलाते हैं जो आठ कर्मों से सर्वथा विमुक्त हो गए हैं। वे सख्या मे अनन्त हैं, किन्तु स्वरूप सबका सदृश है। उनका केवलज्ञान सिद्ध केवलज्ञान कहलाता है।

सिद्ध शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

"षिधु सराद्धौ, सिध्यति स्म इति सिद्ध., यो येन गुणेन परिनिष्ठितो, न पुन साधनीयः स सिद्ध उच्यते, यथा सिद्ध ओदन स च कर्मासिद्धदिभेदादनेकविधः, अथवा सित-बद्धं ध्मात भस्मी-कृतमष्टप्रकार कर्म येन स सिद्ध, · सकलकर्मविनिर्मुक्तो मुक्तावस्थामुपगत इत्यर्थ·।"

अर्थात् जिन आत्माओं ने आठों कर्मों को नष्ट कर दिया है और उनसे मुक्त हो गए हैं उन्हे सिद्ध कहते हैं। यद्यपि सिद्ध अनेक प्रकार के हो सकते हैं, यथा—कर्मसिद्ध, शिल्पसिद्ध, विद्यासिद्ध, मंत्रसिद्ध, योगसिद्ध, आगमसिद्ध, अर्थसिद्ध, यात्रासिद्ध, तप सिद्ध, कर्मक्षयसिद्ध आदि, किन्तु यहाँ कर्मक्षयसिद्ध का ही अधिकार है।

कर्मक्षयजन्य गुण कभी लुप्त नही होते। वे आत्मा की तरह अविनाशी, सहभावी, अरूपी और अमूर्त होते है। अत सिद्धो मे इनका होना और सदैव रहना अनिवार्य है।

सिद्ध केवलज्ञान

४०—से किं तं सिद्धकेवलनाणं ?

सिद्धकेवलनाणं दुविहं पण्णत्तं तं जहा—अणंतरसिद्ध-केवलनाणं च, परंपरसिद्ध केवलनाणं च।

४०—प्रश्न—सिद्ध केवलज्ञान कितने प्रकार का है ?

उत्तर—वह दो प्रकार का है, यथा—(१) अनन्तरसिद्ध केवलज्ञान और (२) परम्परसिद्ध केवलज्ञान।

विवेचन—जैन दर्शन के अनुसार तैजस और कार्मण शरीर से आत्मा का सर्वथा मुक्त या पृथक् हो जाना ही मोक्ष है। प्रस्तुत सूत्र मे सिद्धकेवलज्ञान के दो भेद किये गये हैं—

(१) अनन्तरसिद्ध केवलज्ञान—जिन्हे सिद्ध हुए एक समय ही हुआ हो उन्हे अनन्तरसिद्ध कहते है। उनका ज्ञान अनन्तरसिद्ध-केवलज्ञान है।

(२) परम्परसिद्ध-केवलज्ञान—जिन्हे सिद्ध हुए एक से अधिक समय हो गये हो उन परम्पर-सिद्ध केवलज्ञानियो का केवलज्ञान।

वृत्तिकार ने निम्न आठ द्वारो के आधार पर सिद्ध स्वरूप का वर्णन किया है। वे है—

(१) सत्पदप्ररूपणा, (२) द्रव्यप्रमाणद्वार, (३) क्षेत्रद्वार, (४) स्पर्शनाद्वार, (५) कालद्वार (६) अन्तरद्वार, (७) भावद्वार, (८) अल्पबहुत्वद्वार।

इन आठो द्वारो पर भी पन्द्रह-पन्द्रह उपद्वार घटाये गये हैं। ये क्रमश इस प्रकार हैं—

(१) क्षेत्र, (२) काल, (३) गति, (४) वेद, (५) तीर्थ, (६) लिङ्ग, (७) चारित्र, (८) बुद्ध, (९) ज्ञान, (१०) अवगाहना, (११) उत्कृष्ट, (१२) अन्तर, (१३) अनुसमय, (१४) सख्या, (१५) अल्पबहुत्व।

सत्पदप्ररूपणा

(१) क्षेत्रद्वार—अढाईद्वीप के अन्तर्गत पन्द्रह कर्मभूमि से सिद्ध होते हैं। सहरण की अपेक्षा दो समुद्र, अकर्मभूमि, अन्तरद्वीप, ऊर्ध्वदिशा मे पण्डुकवन तथा अधोदिशा में अधोगामिनी विजय से भी सिद्ध होते हैं।

(२) कालद्वार—अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे के उतरते समय ३ वर्ष साढे आठ मास शेष रहने पर, सम्पूर्ण चौथे आरे तथा पाँचवे आरे में ६४ वर्ष तक सिद्ध होते हैं। उत्सर्पिणी काल के तीसरे आरे मे और चौथे आरे मे कुछ काल तक सिद्ध हो सकते है।

(३) गतिद्वार—प्रथम चार नरको से, पृथ्वी-पानी और बादर वनस्पति से, सज्ञी तिर्यंच-पचेन्द्रिय, मनुष्य, भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक—चारो जाति के देवो से निकले हुए जीव मनुष्यगति प्राप्त कर सिद्ध हो सकते हैं।

(४) वेदद्वार—वर्तमानकाल की अपेक्षा अपगत-वेदी (वेदरहित) ही सिद्ध होते है, पहले चाहे उन्होने (स्त्री वेद, पुरुष वेद या नपु सक वेद) तीनों वेदो का अनुभव किया हो।

(५) तीर्थद्वार—तीर्थकर के शासनकाल मे ही अधिक सिद्ध होते हैं। बहुत कम जीव अतीर्थ मे सिद्ध होते हैं।

(६) लिङ्गद्वार—द्रव्य से स्वलिङ्गी, अन्यलिङ्गी और गृहिलिङ्गी सिद्ध होते है। भाव से स्वलिङ्गी ही सिद्ध होते हैं।

(७) चारित्रद्वार—चारित्र पाँच होते हैं। इनके आधार पर कोई सामायिक, सूक्ष्मसपराय और यथाख्यात चारित्र से, कोई सामायिक, छेदोपस्थानीय, सूक्ष्मसपराय एव यथाख्यात चारित्र से तथा कोई पाँचो से ही सिद्ध होते हैं। यथाख्यातचारित्र के अभाव मे कोई आत्मा सिद्ध नही हो सकती, वह सिद्धि का साक्षात् कारण है।

(८) बुद्धद्वार—प्रत्येकबुद्ध, स्वयबुद्ध और बुद्धबोधित —इन तीनो अवस्थाओ से सिद्ध होते है।

(९) ज्ञानद्वार—साक्षत् रूप से केवलज्ञान से ही सिद्ध होते है, किन्तु पूर्वावस्था की अपेक्षा से मति, श्रुत, और केवलज्ञान से, कोई मति, श्रुत अवधि और केवलज्ञान से और कोई मति, श्रुत, मनःपर्यव और केवलज्ञान से तथा कोई मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यव और केवलज्ञान से सिद्ध होते है।

(१०) अवगाहनाद्वार—जघन्य दो हाथ, मध्यम सात हाथ और उत्कृष्ट ५०० धनुष की अवगाहना वाले सिद्ध होते हैं।

(११) उत्कृष्टद्वार—कोई सम्यक्त्व प्राप्त होने के बाद प्रतिपाती होकर देशोन अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल व्यतीत होने पर सिद्ध होते है। कोई अनन्तकाल के बाद सिद्ध होते है तथा कोई असख्यात और कोई सख्यातकाल के पश्चात् सिद्ध होते है।

(१२) अन्तरद्वार—सिद्ध होने का अन्तरकाल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह मास है। छह मास के पश्चात् कोई न कोई जीव सिद्ध होता ही है।

(१३) अनुसमयद्वार—जघन्य दो समय तक और उत्कृष्ट आठ समय तक लगातार सिद्ध होते रहते हैं। आठ समय के पश्चात् अन्तर पड जाता है।

(१४) सख्याद्वार जघन्य एक समय मे एक और उत्कृष्ट एक सौ आठ सिद्ध होते है। इससे अधिक सिद्ध एक समय मे नही होते।

(१५) अल्पबहुत्वद्वार—एक समय मे दो, तीन आदि सिद्ध होने वाले स्वल्प जीव हैं। एक-एक सिद्ध होने वाले उनसे सख्यात गुणा अधिक हैं।

(२) द्रव्यद्वार

(१) क्षेत्रद्वार—ऊर्ध्वदिशा मे एक समय मे चार सिद्ध होते है। जैसे—निषधपर्वत, नन्दनवन, और मेरु आदि के शिखर से चार, नदी नालो से तीन, समुद्र मे दो, पण्डकवन मे दो, तीस अकर्मभूमि क्षेत्रो मे से प्रत्येक मे दस-दस, ये सब सहरण की अपेक्षा से हैं। प्रत्येक विजय मे जघन्य २०, उत्कृष्ट १०८। पन्द्रह कर्मभूमि क्षेत्रो मे एक समय मे उत्कृष्ट १०८ सिद्ध हो सकते है, अधिक नही।

(२) कालद्वार—अवसर्पिणी काल के तीसरे और चौथे आरे में एक समय मे उत्कृष्ट १०८ तथा पाँचवे आरे मे २० सिद्ध हो सकते हैं, अधिक नही। उत्सर्पिणी काल के तीसरे और चौथे आरे मे भी ऐसा ही समझना चाहिए। शेष सात आरो मे सहरण की अपेक्षा एक समय मे दस-दस सिद्ध हो सकते है।

(३) गतिद्वार—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा और बालुकाप्रभा, इन नरकभूमियो से निकले हुए एक समय मे दस, पकप्रभा से निकले हुए चार, सामान्य रूप से तिर्यंच से निकले हुए दस, विशेष रूप से पृथ्वीकाय और अप्काय से चार-चार और वनस्पतिकाय से आए छह सिद्ध हो सकते है।

विकलेन्द्रिय तथा असज्ञी तिर्यक्पचेन्द्रिय से निकले हुए जीव सिद्ध नही हो सकते। सामान्यतः मनुष्य गति से आए हुए बीस, मनुष्यपुरुषो से निकले हुए दश, मनुष्यस्त्री से बीस। सामान्यत देव-गति से आए हुए एक सौ आठ सिद्ध हो। भवनपति एव व्यन्तर देवो से दस-दस तथा उनकी देवियो से पाँच-पाँच। ज्योतिष्क देवो से दस, देवियो से बीस और वैमानिक देवो से आए हुए १०८ तथा उनकी देवियो से आए हुए एक समय मे बीस सिद्ध हो सकते है।

(४) वेदद्वार—एक समय मे स्त्रीवेदी २०, पुरुषवेदी १०८ और नपुसकवेदी १० सिद्ध हो सकते है। पुरुष मरकर पुन पुरुष बनकर १०८ सिद्ध हो सकते है।

(५) तीर्थकरद्वार—एक समय मे पुरुष और तीर्थंकर चार और स्त्री तीर्थंकर दो सिद्ध हो सकते हैं।

(६) बुद्धद्वार—एक समय मे प्रत्येकबुद्ध १०, स्वयबुद्ध ४, बुद्ध-बोधित १०८ सिद्ध हो सकते है।

(७) लिङ्गद्वार—एक समय मे गृहलिङ्गी चार, अन्यलिङ्गी दस, स्वलिङ्गी एक सौ आठ सिद्ध हो सकते है।

(८) चारित्रद्वार—सामायिक चारित्र के साथ सूक्ष्मसाम्पराय तथा यथाख्यात चारित्र पालकर एक समय मे १०८ तथा छेदोपस्थापनासहित चार चारित्रो का पालन करने वाले भी १०८ और पाँचो की आराधना करने वाले एक समय मे १० सिद्ध हो सकते हैं।

(९) ज्ञानद्वार—पूर्वभाव की अपेक्षा से एक समय मे मति एवं श्रुतज्ञान के धारक उत्कृष्ट

चार, मति श्रुत व मन पर्यव ज्ञान वाले दस, मति, श्रुत, अवधिज्ञानी तथा चार ज्ञान के स्वामी केवलज्ञान प्राप्त करके एक सौ आठ सिद्ध हो सकते हैं।

(१०) अवगहनद्वार—एक समय मे जघन्य अवगाहना वाले उत्कृष्ट चार, मध्यम अवगाहना वाले उत्कृष्ट १०८, उत्कृष्ट अवगाहना वाले दो सिद्ध हो सकते हैं।

(११) उत्कृष्टद्वार—अनन्तकाल के प्रतिपाती यदि पुन सम्यक्त्व प्राप्त करे तो एक समय मे एक सौ आठ, असख्यातकाल एव सख्यातकाल के प्रतिपाती दस-दस। अप्रतिपाती सम्यक्त्वी चार सिद्ध हो सकते है।

(१२) अन्तरद्वार—एक समय के अन्तर से अथवा दो, तीन एव चार समयो का अन्तर पाकर सिद्ध हो। इसी क्रम से आगे समझना चाहिए।

(१३) अनुसमयद्वार—यदि आठ समय पर्यत निरन्तर सिद्ध होते रहे तो पहले समय मे जघन्य एक, दो, तीन, उत्कृष्ट बत्तीस, इसी क्रम मे दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवे, छठे, सातवे और आठवें समय मे समझना। फिर नौवे समय मे अवश्य अन्तर पडता है अर्थात् कोई जीव सिद्ध नही होना। ३३ से ४८ निरन्तर सिद्ध हो तो सात समय पर्यन्त हो, आठवे समय मे अवश्य अन्तर पड जाता है। यदि ४९ से लेकर ६० पर्यन्त निरन्तर सिद्ध हो तो छह समय तक सिद्ध हो, सातवे मे अन्तर पड जाता है। यदि ६१ से ७२ तक निरन्तर सिद्ध हो तो उत्कृष्ट पाँच समय पर्यन्त ही हो, बाद मे निश्चित विरह पड जाता है। यदि ७२ से लेकर ८४ पर्यन्त सिद्ध हो तो चार समय तक सिद्ध हो सकते है, पाँचवें समय मे अवश्य अन्तर पड जाता है। यदि ८५ से लेकर ९६ पर्यन्त सिद्ध हो तो तीन समय पर्यन्त हो। यदि ९७ से लेकर १०२ सिद्ध हो तो दो समय तक हो, फिर अन्तर पड जाता है। यदि पहले समय मे ही १०३ से १०८ सिद्ध हो तो दूसरे समय मे अन्तर अवश्य पडता है।

(१४) सख्याद्वार—एक समय मे जघन्य एक और उत्कृष्ट १०८ सिद्ध हो।

(१५) अल्पबहुत्व- पूर्वोक्त प्रकार से ही है।

(३) क्षेत्रद्वार

मानुषोत्तर पर्वत के अन्तर्गत अढाई द्वीप, लवण और कालोदधि समुद्र हैं। कोई भी जीव सिद्ध होता है तो इन्ही द्वीप समुद्रो से होता है। अढाई द्वीप से बाहर केवलज्ञान नही हो सकता और केवलज्ञान के बिना मोक्षप्राप्ति सम्भव नही है। इसमे भी १५ उपद्वार है जिन्हे पहले की भाति समझना चाहिये।

(४) स्पर्शनाद्वार

जो भी सिद्ध हुए है, हो रहे है या आगे होगे वे सभी आत्मप्रदेशो से परस्पर मिले हुए है। यथा—"एक माँहि अनेक राजे अनेक माहि एककम्।" जैसे—हजारो, लाखो प्रदीपो का प्रकाश एकीभूत होने से भी किसी को किसी प्रकार की अड़चन या बाधा नही होती, वैसे ही सिद्धो के विषय मे भी समझना चाहिए। यहाँ भी १५ उपद्वार पहले की तरह जाने।

(५) कालद्वार

जिन क्षेत्रो मे से एक समय मे १०८ सिद्ध हो सकते हैं, वहाँ से निरन्तर आठ समय तक सिद्ध हो, जिस क्षेत्र से १० या २० सिद्ध हो सकते हैं, वहाँ चार समय तक निरन्तर सिद्ध हो, जहा से २, ३, ४, सिद्ध हो सकते है, वहाँ दो समय तक निरन्तर सिद्ध हो । इसमे भी क्षेत्रादि उपद्वार घटाते हैं—

(१) क्षेत्रद्वार—एक समय मे १५ कर्मभूमियो मे १०८ उत्कृष्ट सिद्ध हो सकते है, वहाँ अन्तर रहित आठ समय तक सिद्ध हो सकते है । अकर्मभूमि तथा अधोलोक मे चार समय तक, नन्दन वन, पाण्डुक-वन और लवण समुद्र मे निरतर दो समय तक, और ऊर्ध्वलोक मे निरतर चार समय तक सिद्ध हो सकते है ।

(२) कालद्वार—प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के तीसरे, चौथे आरे मे निरतर आठ-आठ समय तक और शेष आरो मे ४-४ समय तक निरतर सिद्ध हो सकते है ।

(३) गतिद्वार—देवगति से आये हुए उत्कृष्ट आठ समय तक, शेष तीन गतियो मे चार-चार समय तक निरतर सिद्ध हो सकते हैं ।

(४) वेदद्वार—जो पूर्वजन्म मे पुरुष थे और इस भव मे भी पुरुष हो, वे उत्कृष्ट ८ समय तक और शेष भगो वाले ४ चार समय तक निरतर सिद्ध हो सकते है ।

(५) तीर्थद्वार—किसी भी तीर्थकर के शासन मे उत्कृष्ट ८ समय तक तथा पुरुष तीर्थकर और स्त्री तीर्थकर निरतर दो समय तक सिद्ध हो सकते है, अधिक नही ।

(६) लिङ्गद्वार—स्वलिङ्ग मे आठ समय तक, अन्य लिङ्ग मे ४ समय तक, गृहलिग मे निरतर दो समय तक सिद्ध हो सकते है ।

(७) चारित्रद्वार—जिन्होने क्रमश पाचो ही चारित्रो का पालन किया हो, वे चार समय तक, शेष तीन या चार चारित्र वाले उत्कृष्ट आठ समय तक लगातार सिद्ध हो सकते हैं ।

(८) बुद्धद्वार—बुद्धबोधित आठ समय तक, स्वयबुद्ध दो समय तक, सामान्य साधु या साध्वी के द्वारा प्रतिबुद्ध हुए चार समय तक निरतर सिद्ध हो सकते है ।

(९) ज्ञानद्वार—प्रथम दो ज्ञानो से (मति, श्रुत से) केवली हुए दो समय तक, मति, श्रुत एव मन पर्यवज्ञान से केवली हुए ४ समय तक तथा मति, श्रुत, अवधि ज्ञान से और चारो ज्ञानपूर्वक केवली हुए ८ समय तक सिद्ध हो सकते है ।

(१०) अवगहनाद्वार—उत्कृष्ट अवगाहना वाले दो समय तक, मध्यम अवगाहना वाले निरतर ८ समय तक, जघन्य अवगाहना वाले दो समय तक निरन्तर सिद्ध हो सकते है ।

(११) उत्कृष्टद्वार—अप्रतिपाती सम्यक्त्वी दो समय तक, सख्यात एव असख्यात काल तक के प्रतिपाती उत्कृष्ट ४ समय तक, अनन्तकाल प्रतिपाती सम्यक्त्वी उत्कृष्ट ८ समय तक सिद्ध हो सकते हैं ।

नोट—शेष चार उपद्वार घटित नही होते ।

(६) अन्तरद्वार

जितने काल तक एक भी जीव सिद्ध न हो उतना समय अन्तरकाल या विरहकाल कहलाता है। यही विरहकाल यहां विभिन्न द्वारो से बतलाया गया है—

(१) क्षेत्रद्वार—समुच्चय अढाई द्वीप मे विरह जघन्य १ समय का, उत्कृष्ट ६ मास का। जम्बूद्वीप के महाविदेह और धातकीखण्ड के महाविदेह मे उत्कृष्ट पृथक्त्व (२ से ९ तक) वर्ष का, पुष्कराद्ध द्वीप मे एक वर्ष से कुछ अधिक काल का विरह पड़ सकता है।

(२) कालद्वार—जन्म की अपेक्षा से—५ भरत ५ एरावत मे १८ कोडाकोडी सागरोपम से कुछ न्यून समय का अन्तर पडता है। क्योकि उत्सर्पिणी काल का चौथा आरा दो कोडाकोडी सागरोपम, पाँचवा तीन और छठा चार कोड़ाकोडी सागरोपम का होता है। अवसर्पिणी काल का पहला आरा चार, दूसरा तीन और चौथा दो कोडाकोडी सागरोपम का होता है। ये सब १८ कोड़ाकोडी हुए। इनमे से उत्सर्पिणी काल मे चौथे आरे की आदि मे २४ वे तीर्थंकर का शासन सख्यात काल तक चलता है। तत्पश्चात् विच्छेद हो जाता है। अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे के अन्तिम भाग मे पहले तीर्थकर पैदा होते है। उनका शासन तीसरे आरे मे एक लाख पूर्व तक चलता है, इस कारण अठारह कोडाकोडी से कुछ न्यून कहा। उस शासन मे से सिद्ध हो सकते हैं, उसके व्यवच्छेद होने पर उस क्षेत्र मे जन्मे हुए सिद्ध नही होते। सहरण की अपेक्षा से उत्कृष्ट अन्तर सख्यात हजार वर्ष का है।

(३) गतिद्वार—नरक से निकले हुए सिद्ध होने का उत्कृष्ट अन्तर पृथक्त्व हजार वर्ष का, तिर्यंच से निकले हुए सिद्धो का अतर पृथक्त्व १०० वर्ष का, तिर्यंचो और सौधर्म-ईशान देवलोक के देवो को छोडकर शेष सभी देवो से आए सिद्धो का अन्तर १ वर्ष से कुछ अधिक का एव मानुषी का अन्तर, स्वयबुद्ध होने का सख्यात हजार वर्ष का। पृथ्वी, पानी, वनस्पति, सौधर्म-ईशान देवलोक के देव और दूसरी नरकभूमि, इनसे निकले हुए जीवो के सिद्ध होने का उत्कृष्ट अन्तर हजार वर्ष का होता है। जघन्य सर्व स्थानो मे एक समय का अन्तर जानना चाहिए।

(४) वेदद्वार—पुरुषवेदी से अवेदी होकर सिद्ध होने का उत्कृष्ट विरह एक वर्ष से कुछ अधिक, स्त्रीवेदी और नपु सक वेदी से अवेदी होकर सिद्ध होने वालो का उत्कृष्ट विरह सख्यात हजार वर्ष का है। पुरुष मरकर पुन पुरुष बने, उनका सिद्धिप्राप्ति का उत्कृष्ट अन्तर एक वर्ष से कुछ अधिक है। शेष आठ भगो के प्रत्येक भग के अनुसार सख्यात हजार वर्षों का अन्तर है। प्रत्येकबुद्ध का भी इतना ही अन्तर है। जघन्य अन्तर सर्व स्थानो मे एक समय का है।

(५) तीर्थकरद्वार—तीर्थंकर का मुक्तिप्राप्ति का उत्कृष्ट अतर पृथक्त्व हजार पूर्व और स्त्री तीर्थंकर का उत्कृष्ट अनन्तकाल। अतीर्थंकरो का उत्कृष्ट विरह एक वर्ष से अधिक, नोतीर्थसिद्धो (प्रत्येकबुद्धो) का सख्यात हजार वर्ष का तथा जघन्य सभी का एक समय का।

(६) लिङ्गद्वार—स्वलिङ्गी सिद्ध होने का जघन्य एक समय, उत्कृष्ट एक वर्ष से कुछ अधिक, अन्य लिगी और गृहिलिगी का उत्कृष्ट सख्यात सहस्र वर्ष का।

(७) चारित्रद्वार—पूर्वभाव की अपेक्षा से सामायिक, सूक्ष्मसपराय और यथाख्यात चारित्र पालकर सिद्ध होने का अन्तर एक वर्ष से कुछ अधिक काल का, शेष का अर्थात् छेदोपस्थापनीय और

परिहार-विशुद्धि चारित्र का अन्तर १८ कोड़ाकोडी सागरोपम से कुछ अधिक का। ये दोनों चारित्र भरत और ऐरावत क्षेत्र में पहले और अंतिम तीर्थंकर के समय मे होते हैं।

(८) बुद्धद्वार—बुद्धबोधित हुए सिद्ध होने का उत्कृष्ट अन्तर १ वर्ष से कुछ अधिक का, शेष प्रत्येकबुद्ध तथा साध्वी से प्रतिबोधित हुए सिद्ध होने का सख्यात हजार वर्ष का तथा स्वयबुद्ध का, पृथक्त्व सहस्र पूर्व का अन्तर जानना चाहिए।

(९) ज्ञानद्वार—मति-श्रुत ज्ञानपूर्वक केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध होने वालो का अन्तर पल्योपम के असख्यातवे भाग प्रमाण का तथा मति, श्रुत एव अवधिज्ञान के केवलज्ञान प्राप्त करने वालो का सिद्ध होने का अतर वर्ष से कुछ अधिक। इनके अतिरिक्त चारो ज्ञानो के केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध होने वालो का उत्कृष्ट अतर सख्यात सहस्र वर्ष का जानना चाहिए।

(१०) अवगाहनाद्वार—१४ राजूलोक का घन बताया जाय तो ७ राजूलोक हो जाता है। उसमे से, एक प्रदेश की श्रेणी सात राजू लम्बी है, उसके असख्यातवे भाग मे जितने आकाश प्रदेश है, यदि एक-एक समय मे एक-एक आकाश प्रदेश का अपहरण करे तो उन्हे रिक्त होने मे जितना काल लगे उतना उत्कृष्ट अवगाहना वालो का उत्कृष्ट अन्तर पडे। मध्यम अवगाहना वालो का उत्कृष्ट अन्तर एक वर्ष से कुछ अधिक। जघन्य अन्तर सर्वस्थानो मे एक समय का।

(११) उत्कृष्टद्वार—अप्रतिपाती सिद्ध होने का अन्तर सागरोपम का असख्यातवाँ भाग, सख्यातकाल तथा असख्यातकाल के प्रतिपाती हुए सिद्ध होने वालो का अन्तर उ० सख्यात हजार वर्ष का तथा अनन्तकाल के प्रतिपाती हुए सिद्ध होने वालो का अन्तर १ वर्ष से कुछ अधिक का। जघन्य सब स्थानो मे एक समय का अन्तर।

(१२) अनुसमयद्वार—दो समय से लेकर आठ समय तक निरन्तर सिद्ध होते है।

(१३) गणनाद्वार—एकाकी या अनेक सिद्ध होने का अन्तर उत्कृष्ट सख्यात हजार वर्ष का।

(१४) अल्पबहुत्वद्वार—पूर्ववत्।

(७) भावद्वार

भाव छ होते है—औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, पारिणामिक और सान्निपातिक। क्षायिक भाव से ही सब जीव सिद्ध होते है।

इस द्वार मे १५ उपद्वारो का विवरण पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

(८) अल्पबहुत्वद्वार

ऊर्ध्वलोक से सबसे थोडे ४ सिद्ध होते है। अकर्मभूमि क्षेत्रा मे १० सिद्ध होते हैं। वे उनसे सख्यातगुणा हैं। स्त्री आदि से २० सिद्ध होते हैं। वे सख्यात गुणा होते है क्योकि साध्वी का सहरण नही होता। उनसे अलग-अलग विजयो मे तथा अधोलोक मे २० सिद्ध हो सकते हैं। उनसे १०८ सिद्ध होने वाले सख्यातगुणा अधिक है।

इस प्रकार अनन्तरसिद्ध-केवलज्ञान का वर्णन समाप्त हुआ।

परम्परसिद्ध केवलज्ञान

जिनको सिद्ध हुए एक समय से अधिक अथवा अनन्त समय हो गए है वे परम्परसिद्ध कहलाते है। उनका द्रव्यप्रमाण सात द्वारो मे तथा १५ उपद्वारो मे अनन्त कहना चाहिए क्योकि ये अन्त-रहित हैं, काल अनन्त है। सर्वक्षेत्रो से अनन्त जीव सिद्ध हुए है।

अनन्तरसिद्ध-केवलज्ञान

४९– से किं त अणंतरसिद्धकेवलनाणं ?

अणतरसिद्धकेवलनाणं पण्णरसविहं पण्णत्त, तं जहा–

(१) तित्यसिद्धा (२) अतित्थसिद्धा
(३) तित्थयरसिद्धा (४) अतित्थयरसिद्धा
(५) सयबुद्धसिद्धा (६) पत्तेयबुद्धसिद्धा (७) बुद्धबोहियसिद्धा
(८) इत्थिलिंगसिद्धा (९) पुरिसलिंगसिद्धा (१०) नपुसर्गलिगसिद्धा
(११) सलिंगसिद्धा (१२) अन्नलिंगसिद्धा (१३) गिहिलिंगसिद्धा
(१४) एगसिद्धा (१५) अणेगसिद्धा,

से त्त अणतरसिद्धकेवलनाण।

प्रश्न—अन्तरसिद्ध-केवलज्ञान कितने प्रकार का है ?

उत्तर—अनन्तरसिद्ध केवलज्ञान १५ प्रकार से वर्णित है। यथा –

(१) तीर्थसिद्ध (२) अतीर्थसिद्ध (३) तीर्थकरसिद्ध (४) अतीर्थकरसिद्ध (५) स्वयबुद्ध-सिद्ध (६) प्रत्येकबुद्धसिद्ध (७) बुद्धबोधितसिद्ध (८) स्त्रीलिंगसिद्ध (९) पुरुषलिगसिद्ध (१०) नपुसकलिंगसिद्ध (११) स्वलिगसिद्ध (१२) अन्यलिंगसिद्ध (१३) गृहिलिगसिद्ध (१४) एकसिद्ध (१५) अनेकसिद्ध।

विवेचन– प्रस्तुत सूत्र मे अनन्तरसिद्ध केवलज्ञान के सबध मे विवेचन किया गया है। जिन आत्माओ को सिद्ध हुए एक ही समय हुआ हो, उन्हे अनन्तरसिद्ध कहते हैं और उनका ज्ञान अनन्तर-सिद्धकेवलज्ञान कहलाता है। अनन्तरसिद्ध केवलज्ञानी भवोपाधि भेद से १५ प्रकार के है। यथा —

(१) तीर्थसिद्ध—जिसके द्वारा ससार तरा जाए उसे तीर्थ कहते है। चतुर्विध श्रीसघ का नाम तीर्थ है। तीर्थ की स्थापना होने पर जो सिद्ध हो, उन्हे तीर्थसिद्ध कहते है। तीर्थ की स्थापना तीर्थकर करते है।

(२) अतीर्थसिद्ध—तीर्थ की स्थापना होने से पहले अथवा तीर्थ के व्यवच्छेद हो जाने के पश्चात् जो जीव सिद्धगति प्राप्त करते हैं वे अतीर्थसिद्ध कहलाते हैं। जैसे माता मरुदेवी ने तीर्थ की स्थापना से पूर्व सिद्धगति पाई। भगवान् सुविधिनाथजी से लेकर शातिनाथ भगवान् के शासन तक बीच के सात अन्तरो मे तीर्थ का विच्छेद होता रहा। उस समय जातिस्मरण आदि ज्ञान से जो अन्तकृत केवली हुए उन्हे भी अतीर्थसिद्ध कहते है।

(३) तीर्थंकरसिद्ध—विश्व मे लौकिक लोकोत्तर पदो मे तीर्थंकर का पद सर्वोपरि है। जो इस पद की प्राप्ति करके सिद्ध हुए हैं वे तीर्थंकरसिद्ध हैं।

(४) अतीर्थंकरसिद्ध—तीर्थंकर के अतिरिक्त अन्य जितने चक्रवर्ती, बलदेव, माण्डलिक, सम्राट्, आचार्य, उपाध्याय, गणधर, अन्तकृत् केवली, सामान्य केवली आदि सिद्ध हुए वे अतीर्थंकर सिद्ध कहलाते है।

(५) स्वयबुद्धसिद्ध—जो किसी बाह्य निमित्त के बिना जातिस्मरण अथवा अवधिज्ञान के द्वारा स्वयं ससार से विरक्त हो जाएँ उन्हे स्वयबुद्ध कहते है। स्वयबुद्ध होकर सिद्ध होने वाले स्वयबुद्धसिद्ध है।

(६) प्रत्येकबुद्धसिद्ध—जो उपदेशादि श्रवण किये विना, बाह्य किसी निमित्त से बोध प्राप्त करके सिद्ध होते है वे प्रत्येकबुद्ध सिद्ध कहलाते है। जैसे—करकण्डू एव नमिराज ऋषि आदि।

(७) बुद्धबोधितसिद्ध— जो तीर्थंकर अथवा आचार्य आदि के उपदेश से बोध प्राप्त कर सिद्ध-गति प्राप्त कर उन्हे बुद्धबोधितसिद्ध कहते है। यथा—चन्दनबाला, जम्बूकुमार एव अतिमुक्तकुमार आदि।

(८) स्त्रीलिगसिद्ध—सूत्रकार ने स्त्रीत्व के तीन भेद बताये है। यथा—(१) वेद से (२) निर्वृत्ति से और (३) वेष से। वेद के उदय से और वेष से मोक्ष सभव नही है, केवल शरीरनिर्वृत्ति से ही सिद्ध होना स्वीकार किया गया है। जो स्त्री के शरीर मे रहते हुए मुक्त हो गए है, वे स्त्रीलिग-सिद्ध है।

(९) पुरुषलिगसिद्ध- पुरुष की आकृति मे रहते हुए मोक्ष प्राप्त करने वाले पुरुषलिंग सिद्ध कहलाते है।

(१०) नपुसकलिगसिद्ध--नपुसक दो तरह के होते है। (१) स्त्री-नपुसक (२) पुरुष-नपुसक। जो पुरुषनपुसक सिद्ध होते है वे नपुसकलिग सिद्ध कहलाते है।

(११) स्वलिगसिद्ध—श्रमण का वेष, रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि को धारण करके सिद्ध होता है, उसे स्वलिगसिद्ध कहते है।

(१२) अन्यलिगसिद्ध—जो साधुवेष के धारक नही है किन्तु क्रिया जिनागमानुसार करके सिद्ध होते हैं वे अन्यलिग सिद्ध कहलाते है।

(१३) गृहस्थलिगसिद्ध—गृहस्थ वेष मे मोक्ष प्राप्त करनेवाले, जैसे मरुदेवी माता।

(१४) एकसिद्ध—एक समय मे एक-एक सिद्ध होने वाले एक सिद्ध कहलाते हैं।

(१५) अनेकसिद्ध—एक समय मे दो से लेकर उत्कृष्ट १०८ सिद्ध होने वाले अनेकसिद्ध कहे जाते है। इन सबका केवलज्ञान अनन्तरसिद्ध केवलज्ञान है।

परम्परसिद्ध केवलज्ञान

४३—से किं तं परम्परसिद्ध-केवलनाणं ?

परम्परसिद्ध-केवलनाण अणेगविहं पण्णत्तं, तंजहा—अपढमसमय-सिद्धा, दुसमय-सिद्धा, तिसमयसिद्धा, चउसमयसिद्धा, जाव दससमयसिद्धा, संखिज्जसमयसिद्धा, असंखिज्जसमयसिद्धा, अणंतसमयसिद्धा ।

से त्तं परम्परसिद्ध-केवलनाण, से त्त सिद्ध केवलनाण ।

तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं, तंजहा—दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ ।

तत्थ दव्वओ णं केवलनाणी सव्वदव्वाइं जाणइ, पासइ ।
खित्तओ णं केवलनाणी सव्वं खित्तं जाणइ, पासइ ।
कालओ णं केवलनाणी सव्वं कालं जाणइ, पासइ ।
भावओ णं केवलनाणी सव्वे भावे जाणइ, पासइ ।

प्रश्न—वह परम्परसिद्ध-केवलज्ञान कितने प्रकार का है ?

उत्तर—परम्परसिद्ध-केवलज्ञान अनेक प्रकार से प्ररूपित है। यथा—अप्रथमसमयसिद्ध, द्विसमयसिद्ध, त्रिसमयसिद्ध, चतु समयसिद्ध, यावत् दससमयसिद्ध, सख्यातसमयसिद्ध, असख्यातसमय-सिद्ध और अनन्तसमयसिद्ध । इस प्रकार परम्परसिद्ध केवलज्ञान का वर्णन है । तात्पर्य यह है कि परम्परसिद्धो के सूत्रोक्त भेदो के अनुरूप ही उनके केवलज्ञान के भेद है ।

संक्षेप में वह चार प्रकार का है—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से ।

(१) द्रव्य से केवलज्ञानी सर्वद्रव्यो को जानता व देखता है ।
(२) क्षेत्र से केवलज्ञानी सर्व लोकालोक क्षेत्र को जानता-देखता है ।
(३) काल से केवलज्ञानी भूत, वर्तमान और भविष्यत् तीनो कालो को जानता व देखता है ।
(४) भाव से केवलज्ञानी सर्व द्रव्यो के सर्व भावों—पर्यायों को जानता व देखता है ।

विवेचन—सूत्रकार ने परम्परसिद्ध-केवलज्ञानी का वर्णन किया है । वस्तुत· केवलज्ञान और सिद्धो के स्वरूप मे किसी प्रकार की भिन्नता या तरतमता नही है । सिद्धो मे जो भेद कहा गया है वह पूर्वोपाधि या काल आदि से ही है । केवलज्ञान मे मात्र स्वामी के भेद से भेद है ।

केवलज्ञान और केवलदर्शन के उपयोग के विषय मे आचार्यों की विभिन्न धारणाएँ हैं, जिनका उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है । जैनदर्शन पाँच ज्ञान, तीन अज्ञान और चार दर्शन इस प्रकार बारह प्रकार का उपयोग मानता है । इनमे से किसी एक मे कुछ समय के लिए स्थिर हो जाने को उपयोग कहते हैं । केवलज्ञान और केवलदर्शन के सिवाय दस उपयोग छद्मस्थ मे पाए जाते हैं ।

मिथ्यादृष्टि में तीन अज्ञान और तीन दर्शन अर्थात् छ· उपयोग और छद्मस्थ सम्यग्दृष्टि मे चार ज्ञान तथा तीन दर्शन इस प्रकार सात उपयोग हो सकते हैं । केवलज्ञान और केवलदर्शन, ये दो उपयोग अनावृत क्षायिक एव सम्पूर्ण हैं । शेष दस उपयोग क्षायोपशमिक छाद्मस्थिक—आवृतानावृत-

सज्ञक हैं। इनमें ह्रास-विकास, एव न्यूनाधिकता होती है। किन्तु केवलज्ञान और केवलदर्शन मे ह्रास-विकास या न्यून-आधिक्य नही होता। वे प्रकट होने पर कभी अस्त नही होते।

छाद्मस्थिक उपयोग क्रमभावी हैं, अर्थात् एक समय मे एक ही उपयोग हो सकता है, एक से अधिक नही। इस विषय मे सभी आचार्य एकमत हैं, किन्तु केवली के उपयोग के विषय मे तीन धारणाएँ है। यथा—

(१) निरावरणज्ञान-दर्शन होते हुए भी केवली मे एक समय मे एक ही उपयोग होता है। जब ज्ञान-उपयोग होता है तब दर्शन-उपयोग नही होता और जब दर्शन-उपयोग होता है तब ज्ञान-उपयोग नही हो सकता। इस मान्यता को क्रम-भावी तथा एकान्तर-उपयोगवाद भी कहते हैं। इसके समर्थक जिनभद्र-गणी क्षमाश्रमण आदि है।

(२) केवलज्ञान और केवलदर्शन के विषय मे दूसरा मत युगपद्वादियो का है। उनका कथन है—जैसे सूर्य और उसका ताप युगपत् होते हैं, वैसे ही निरावरण ज्ञान-दर्शन भी एक साथ प्रकाश करते है अर्थात् अपने-अपने विषय को ग्रहण करते रहते हैं, क्रमश नही। इस मान्यता के समर्थक आचार्य सिद्धसेन दिवाकर आदि हैं जो अपने समय के अद्वितीय तार्किक विद्वान् थे।

(३) तीसरी मान्यता अभेदवादियो की है। उनका कथन है कि केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनो एकरूप हो जाते है। जब ज्ञान से सब कुछ जान लिया जाता है तब पृथक् दर्शन की क्या आवश्यकता है? दूसरे, ज्ञान प्रमाण माना गया है, दर्शन नही, अत वह अप्रधान है। इस मान्यता के समर्थक आचार्य वृद्धवादी हुए है।

युगपत् उपयोगवाद

यहाँ पर एकान्तर-उपयोगवादियो की मान्यता का खडन करते हुए युगपद्वादियो ने विभिन्न प्रमाणो द्वारा अपने मत की पुष्टि की है। युगपद्वादियो का मत है कि केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनो उपयोग सादि-अनन्त हैं, इसलिए केवली एक साथ पदार्थों को जानता भी है और देखता भी है। कहा भी है -

ज केवलाइ सादी, अपज्जवसिताइं बोऽवि भणिताइं।
तो बेंति केइ जुगव, जाणइ पासइय सव्वण्णू॥

(१) उनकी मान्यता है कि एकान्तर उपयोग पक्ष मे सादि-अनन्तता घटित नही होती, क्योकि जब ज्ञान का उपयोग होता है तब दर्शन का नही रहता और जब दर्शनोपयोग होता है तब ज्ञानोपयोग नही रहता। इससे उक्त ज्ञान, दर्शन सादि-सान्त सिद्ध होते हैं।

(२) एकान्तर-उपयोग मे दूसरा दोष मिथ्यावरणक्षय है। केवलज्ञानावरण और दर्शनावरण का पूर्णरूप से क्षय हो जाने पर भी यदि ज्ञान के समय दर्शन का और दर्शन के साथ ज्ञान का उपयोग नही रहता तो आवरणो का क्षय मिथ्या—बेकार हो जाएगा। जैसे दो दीपको को निरावरण कर देने से वे एक साथ प्रकाश करते है, इसी प्रकार दोनो उपयोग एक साथ प्रकाश करते है क्रमश. नही। यही मान्यता निर्दोष है।

(३) युगपद्वादी एकान्तर-उपयोग पक्ष मे तीसरा दोष इतरेतरावरणता सिद्ध करते हैं। यदि

दर्शन के उपयोग से ज्ञान का उपयोग रुक जाता है और ज्ञानोपयोग होने पर दर्शनोपयोग नहीं रहता तो निष्कर्ष यह हुआ कि ये दोनो एक दूसरे के आवरण है। किन्तु ऐसा मानना आगम-विरुद्ध है।

(४) एकान्तर-उपयोग के पक्ष मे चौथा दोष 'निष्कारण आवरणता' है—ज्ञान और दर्शन को आवृत करने वाले ज्ञान-दर्शनावरण का सर्वथा क्षय हो जाने पर भी यदि उनका उपयोग निरन्तर-सदैव चालू नही रहता और उनको आवृत करने वाला अन्य कोई कारण हो नही सकता तो यह मानना पडेगा कि बिना कारण ही उन पर बीच-बीच मे आवरण आ जाता है। अर्थात् आवरण-क्षय हो जाने पर भी निष्कारण आवरण का सिलसिला जारी ही रहता है जो कि सिद्धान्तविरोधी है।

(५) एकान्तर-उपयोग के पक्ष मे केवली का असर्वज्ञत्व और असर्वदर्शित्व सिद्ध होता है। क्योकि जब केवली का उपयोग ज्ञान मे है तब दर्शन मे उपयोग न होने से वे असर्वदर्शी होते है और जब दर्शन मे उपयोग है तब ज्ञानोपयोग न होने से उनमे असर्वज्ञत्व का प्रसग आ जाता है। अत युगपद् उपयोग मानना ही दोष रहित है।

(६) क्षीणमोह गुणस्थान के चरम समय मे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय, ये तीन कर्म एक साथ ही क्षीण होते है। तेरहवे गुणस्थान के प्रथम समय मे आवरण नष्ट होने पर ज्ञान-दर्शन एक साथ प्रकाशित होते है। इसलिए एकान्तर-उपयोग पक्ष उपयुक्त नही है।

एकान्तर उपयोगवाद

(१) केवलज्ञान और केवलदर्शन, ये दोनो सादि-अनन्त है, इसमे तनिक भी सन्देह नही, किन्तु यह कथन लब्धि की अपेक्षा से है, न कि उपयोग की अपेक्षा से। मति, श्रुत और अवधिज्ञान का लब्धिकाल ६६ सागरोपम से कुछ अधिक है, जब कि उपयोग अन्तर्मुहूर्त से अधिक नही रहता। इस समाधान से उक्त दोष की निवृत्ति हो जाती है।

(२) निरावरण ज्ञान—दर्शन का युगपत् उपयोग न मानने से आवरणक्षय मिथ्या सिद्ध हो जायगा, यह कथन भी उपयुक्त नही। क्योकि किसी विभगज्ञानी को सम्यक्त्व उत्पन्न होते ही मति, श्रुत और अवधि, ये तीनो ज्ञान एक साथ उत्पन्न होते हैं, यह आगम का कथन है। किन्तु उनके उपयोग का युगपत् होना आवश्यक नही है। जैसे चार ज्ञानो के धारक को चतुर्ज्ञानी कहते है फिर भी उसका उपयोग एक ही समय मे चारो मे नही रहता, किसी एक मे होता है। स्पष्ट है कि जानने व देखने का समय एक नही अपितु भिन्न भिन्न होता है। (प्रज्ञापना सूत्र, पद ३० तथा भगवती सूत्र श २५)

(३) एकान्तर-उपयोग पक्ष मे इतरेतरावरणता नामक दोष कहना भी उपयुक्त नही है, क्योकि केवलज्ञान और केवलदर्शन सदैव निरावरण रहते है। इनको क्षायिक लब्धि भी कहते है और इनमे से किसी एक मे चेतना के प्रवाहित हो जाने को उपयोग कहा जाता है। छद्मस्थ का ज्ञान या दर्शन मे उपयोग अन्तर्मुहूर्त से अधिक नही रहता। केवली के ज्ञान और दर्शन का उपयोग एक-एक समय तक ही रहता है। इस प्रकार उपयोग सदा सादि सान्त ही होता है। वह कभी ज्ञान मे और कभी दर्शन मे परिवर्तित होता रहता है। इससे इतरेतरावरणता दोष मानना अनुचित है।

(४) अनावरण होते ही ज्ञान-दर्शन का पूर्ण विकास हो जाता है, फिर निष्कारण-आवरण

होने का प्रश्न ही नही उठता। क्योंकि आवरण और उसके हेतु नष्ट होने पर ही केवलज्ञान होता है। किन्तु उपयोग का स्वभाव ऐसा है कि वह दोनो मे से एक समय मे किसी एक मे ही प्रवाहित होता है, दोनो मे नही।

(५) केवली जिस समय जानते हैं उस समय देखते नही, इससे असर्वदर्शित्व और जिस समय देखते हैं उस समय जानते नही, इससे असर्वज्ञत्व सिद्ध होता है, इस कथन का प्रत्युत्तर यही है कि आगम में केवली को सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भी लब्धि की अपेक्षा से कहा गया है, न कि उपयोग की अपेक्षा से। अत एकान्तर-उपयोग पक्ष निर्दोष है।

(६) युगपत् उपयोगवाद की मान्यता यहाँ तक तो युक्तिसगत है कि ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय कर्म युगपत् ही क्षीण होते हैं किन्तु उपयोग भी युगपत् ही हो, यह आवश्यक नही है। कहा भी है—

"जुगवं दो नत्थि उवओगा।"

अर्थात् दो उपयोग साथ नही होते। यह नियम केवल छद्मस्थो के लिए नही है। अतएव केवलियो मे भी एक साथ, एक समय मे एक ही उपयोग पाया जा सकता है दो नही।

अभिन्न-उपयोगवाद

(१) केवलज्ञान अनुत्तर अर्थात् सर्वोपरि ज्ञान है, इसके उत्पन्न होने पर फिर केवलदर्शन की कोई उपयोगिता नही रह जाती। क्योंकि केवलज्ञान के अन्तर्गत सामान्य और विशेष सभी विषय आ जाते है।

(२) जैसे चारो ज्ञान केवलज्ञान मे अन्तर्भूत हो जाते है उसी प्रकार चारो दर्शन भी इसमे समाहित हो जाते हैं। अत केवलदर्शन को अलग मानना निरर्थक है।

(३) अल्पज्ञता मे साकार उपयोग, अनाकार उपयोग तथा क्षायोपशमिक भाव की विभिन्नता के कारण दोनो उपयोगो मे परस्पर भेद हो सकता है, किन्तु क्षायिक भाव मे दोनो मे विशेष अन्तर न रहने से केवलज्ञान ही शेष रह जाता है अत केवली का उपयोग सदा केवलज्ञान मे ही रहता है।

(४) यदि केवलदर्शन का अस्तित्व भिन्न माना जाय तो वह सामान्यग्राही होने से अल्प विषयक सिद्ध हो जाएगा, जबकि वह अनन्त विषयक है।

(५) जब केवली प्रवचन करते है, तब वह केवलज्ञानपूर्वक होता है, इससे अभेद पक्ष ही सिद्ध होता है।

(६) नन्दीसूत्र एव अन्य आगमो मे भी केवलदर्शन का विशेष उल्लेख नही पाया जाता, इससे भी भासित होता है कि केवलदर्शन केवलज्ञान से भिन्न नही रह जाता।

सिद्धान्तवादी का पक्ष—प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है, चाहे वह दृश्य हो या अदृश्य, रूपी हो या अरूपी और अणु हो या महान्। विशेष धर्म भी अनन्तानन्त हैं और सामान्य धर्म भी। विशेष धर्म केवलज्ञानग्राह्य हैं और सामान्य धर्म केवलदर्शन द्वारा ग्राह्य। दोनो की पर्यायें समान हैं। उपयोग एक समय मे दोनो मे से एक रहता है। जब वह विशेष की ओर प्रवहमान रहता है तब

केवलज्ञान कहलाता है तथा सामान्य की ओर प्रवहमान होने पर केवलदर्शन। इस दृष्टि से चेतना का प्रवाह एक समय मे एक ओर ही हो सकता है, दोनो ओर नही।

(२) जैसे देशज्ञान के विलय से केवलज्ञान होता है वैसे ही देशदर्शन के विलय से केवल-दर्शन। ज्ञान की पूर्णता को केवलज्ञान और दर्शन की पूर्णता को केवलदर्शन कहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान-दर्शन दोनो का स्वरूप पृथक्-पृथक् है और दोनो को एक मानना ठीक नही।

(३) छद्मस्थ काल मे जब ज्ञान और दर्शनरूप दो विभिन्न उपयोग पाये जाते है तब उनकी पूर्ण अवस्था मे वे एक कैसे हो सकते हैं ? अवधिज्ञान एव अवधिदर्शन को जब एक नही माना जाता तो फिर केवलज्ञान और केवलदर्शन एक कैसे माने जा सकते है।

(४) नन्दीसूत्र मे प्रमुख रूप से पाँच ज्ञानो का ही वर्णन है, दर्शनो का नही। इससे दोनो की एकता सिद्ध नही होती। इस बात की पुष्टि सोमिल ब्राह्मण के प्रसग से होती है।

सोमिल के प्रश्नो का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने कहा है—

"हे सोमिल ! मै ज्ञान और दर्शन की अपेक्षा द्विविध हू।" (भगवती सूत्र० श० १८, उ० १०) भगवान् के इस कथन से सिद्ध होता है कि दर्शन भी ज्ञान की तरह स्वतन्त्र सत्ता रखता है। नन्दीसूत्र मे भी सम्यक् श्रुत के अतर्गत "उप्पन्ननाण-दसणधरेहिं" कहा है। इसमे ज्ञान के अतिरिक्त दर्शन पद भी जुडा हुआ है, जिससे ज्ञात होता है कि केवली मे दर्शन का अस्तित्व अलग होता है।

नयो की दृष्टि से उक्त विषय का समन्वय

उपाध्याय यशोविजय ने तीनो ही मान्यताओ का समन्वय नयो की शैली से किया है, यथा—

(१) ऋजु सूत्र नय के दृष्टिकोण से एकान्तर-उपयोगवाद उपयुक्त है।

(२) व्यवहारनय के दृष्टिकोण से युगपद्-उपयोगवाद सत्य प्रतीत होता है। तथा—

(३) सग्रहनय से अभेद-उपयोगवाद समुचित ज्ञात होता है।

उपर्युक्त केवलज्ञान और केवलदर्शन के विषय मे तीनो मतो को जानने के लिये नन्दीसूत्र की चूर्णि, मलयगिरिकृत वृत्ति तथा हरिभद्रकृत वृत्ति देखना चाहिये। जिनभद्रगणी कृत विशेषावश्यक भाष्य मे भी यह विषय विशद रूप से वर्णित है।

ज्ञातव्य है कि दिगम्बरपरम्परा मे युगपद्-उपयोगवाद का एक ही पक्ष मान्य है। वह दोनो का उपयोग एक ही साथ मानती है।

केवलज्ञान का उपसंहार

४३—अह सव्वदव्व-परिणाम-भाव-विण्णत्तिकारणमणंतं।
सासयमप्पडिवाई, एगविहं केवलं नाणं॥

केवलज्ञान सम्पूर्ण द्रव्यो को, उत्पाद आदि परिणामो को तथा भाव-सत्ता को अथवा वर्ण गन्ध, रस आदि को जानने का कारण है। वह अनन्त, शाश्वत तथा अप्रतिपाति है। ऐसा यह केवलज्ञान एक प्रकार का ही है।

विवेचन—प्रस्तुत गाथा मे केवलज्ञान का उपसहार किया गया है और उसका आन्तरिक स्वरूप भी बताया है। पाच विशेषणो के द्वारा सूत्रकार ने इसके स्वरूप को स्पष्ट किया है। वे निम्न हैं—

(१) सव्वदव्व-परिणाम-भावविण्णत्तिकारण—सर्वद्रव्यो को, उनकी पर्यायो को तथा औदयिक आदि भावो को जानने का हेतु है।

(२) अणत—वह अनन्त है क्योकि ज्ञेय अनन्त है तथा ज्ञान उससे भी महान् है।

(३) सासय—सादि-अनन्त होने से केवलज्ञान शाश्वत है।

(४) अप्पडिवाई—यह ज्ञान अप्रतिपाति अर्थात् कभी भी गिरने वाला नही है।

(५) एगविह—सब प्रकार की तरतमता एव विसदृशता से रहित तथा सदाकाल व सर्वदेश मे एक समान प्रकाश करने वाला व उपर्युक्त पच-विशेषणो सहित यह केवलज्ञान एक ही है।

वाग्योग और श्रुत

४४—केवलनाणेणऽत्थे, नाउ जे तत्थ पण्णवणजोग्गे।
ते भासइ तित्थयरो, वइजोगसुअं हवइ सेस।
से त्त केवलनाण से त्त नोइन्दियपच्चक्ख।

केवलज्ञान के द्वारा सब पदार्थों को जानकर उनमे जो पदार्थ वर्णन करने योग्य होते है, अर्थात् जिन्हे वाणी द्वारा कहा जा सकता है, उन्हे तीर्थंकर देव अपने प्रवचनो मे प्रतिपादन करते हैं। वह उनका वचनयोग होता है अर्थात् वह अप्रधान द्रव्यश्रुत है। यहाँ 'शेष' का अर्थ 'अप्रधान' है।

इस प्रकार केवलज्ञान का विषय सम्पूर्ण हुआ और नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष का प्रकरण भी समाप्त हुआ।

विवेचन—स्पष्ट है कि तीर्थंकर भगवान् जितना केवलज्ञान से जानते है, उसमे से जिनना कथनीय है उसी का प्रतिपादन करते हैं। सभी पदार्थों का कहना उनकी शक्ति से भी परे है, क्योकि पदार्थ अनन्तानन्त है और आयुष्य परिमित समय का होता है। इसके अतिरिक्त बहुत-से सूक्ष्म अर्थ ऐसे हैं जो वचन के अगोचर हैं। इसलिये प्रत्यक्ष किये हुये पदार्थ का अनन्तवाँ भाग ही वे कह सकते हैं।

केवलज्ञानी जो प्रवचन करते है वह उनका श्रुतज्ञान नही, अपितु भाषापर्याप्ति नाम कर्मोदय से करते हैं। उनका वह प्रवचन वाग्योग-द्रव्यश्रुत कहलाता है क्योकि सुनने वालो के लिए वह द्रव्यश्रुत, भावश्रुत का कारण बन जाता है।

इससे सिद्ध होता है कि तीर्थंकर भगवान् का वचनयोग द्रव्यश्रुत है, भावश्रुत नहीं। वह केवलज्ञान-पूर्वक होता है। वर्तमान काल मे जो आगम है, वे भावश्रुतपूर्वक है, क्योकि वे गणधरो के द्वारा सूत्रबद्ध किये गए है। गणधरों को जो श्रुतज्ञान हुआ, वह भगवान के वचनयोग रूप द्रव्यश्रुत से हुआ है।

इस प्रकार सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष एव नोइन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान का प्रकरण समाप्त हुआ।

परोक्षज्ञान

४५ —से किं तं परोक्खनाणं ?

परोक्खनाणं दुविहं पन्नत्तं, तं जहा—आभिणिबोहिअनाणपरोक्खं च, सुअनाणपरोक्खं च।

जत्थ आभिणिबोहियनाणं तत्थ सुयनाणं, जत्थ सुअनाणं तत्थ आभिणिबोहियनाणं।

दोऽवि एयाइं अण्णमण्णमणुगयाइं तहवि पुण इत्थ आयरिआ नाणत्तं पण्णवयंति-अभिनिबुज्झइ त्ति आभिणिबोहियनाणं, सुणेइ त्ति सुअं, मइपुव्वं जेण सुअं, न मई सुअपुव्विआ।

प्रश्न—वह परोक्षज्ञान कितने प्रकार का है ?

उत्तर—परोक्षज्ञान दो प्रकार का प्रतिपादित किया गया है। यथा—

आभिनिबोधिक ज्ञान और श्रुतज्ञान।

जहाँ आभिनिबोधिक ज्ञान है वहाँ पर श्रुतज्ञान भी होता है। जहाँ श्रुतज्ञान है वहाँ आभिनिबोधिक ज्ञान भी होता है।

ये दोनो ही अन्योन्य अनुगत—एक दूसरे के साथ रहने वाले है। परस्पर अनुगत होने पर भी आचार्य इन दोनो मे परस्पर भेद प्रतिपादन करते है। जो सन्मुख आए हुए पदार्थों को प्रमाण-पूर्वक अभिगत करता है वह आभिनिबोधिक ज्ञान है, किन्तु जो सुना जाता है वह श्रुतज्ञान है, जो कि श्रवण का विषय है। श्रुतज्ञान मतिपूर्वक ही होता है किन्तु मतिज्ञान श्रुत-पूर्वक नही होता।

विवेचन—जो सन्मुख आए हुए पदार्थों को इन्द्रिय और मन के द्वारा जानना है, उस ज्ञान-विशेष को आभिनिबोधिक ज्ञान कहते है। शब्द सुनकर वाच्य पदार्थ का जो ज्ञान होता है वह ज्ञानविशेष श्रुतज्ञान कहलाता है। इन दोनो का परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है। अत दोनो एक दूसरे के बिना नही रह सकते। **जैसे** सूय और प्रकाश, इनमे से एक जहाँ होगा, दूसरा भी अनिवार्य रूप से पाया जायेगा।

"मइपुव्वं जेण सुयं, न मई सुअपुव्विया।"

श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है किन्तु श्रुतपूर्विका मति नही होती। जैसे वस्त्र मे ताना बाना साथ ही होता है किन्तु फिर भी ताना पहले तन जाने के बाद ही बाना काम देता है। यद्यपि व्यवहार मे यही कहा जाता है कि जहा ताना होता है वहाँ बाना रहता है और जहाँ बाना है वहाँ ताना भी है। ऐसा नही कहा जाता कि ताना पहले तना और बाना बाद मे डाला गया। तात्पर्य यह है कि लब्धि रूप से दोनो सहचर है, उपयोग रूप से प्रथम मति और फिर श्रुत का व्यापार होता है।

शका हो सकती है कि एकेन्द्रिय जीवो मे मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान दोनो है, ये दोनो भी ज्ञानमरण के क्षयोपशम से होते हैं, किन्तु इनका अस्तित्व कैसे माना जाए ?

उत्तर यह है कि आहारादि सज्ञाएँ एकेन्द्रिय जीवो मे भी होती है। वे बोध रूप होने से भावश्रुत उनमे भी सिद्ध होता है। इस विषय मे आगे बताया जाएगा। अभी तो यही जानना है कि

ये दोनो ज्ञान एक जीव मे एक साथ रहते हैं। दोनो ही ज्ञान परस्पर प्रतिबद्ध है फिर भी इनमे जो भेद है वह इस प्रकार है—मतिज्ञान वर्तमानकालिक वस्तु मे प्रवृत्त होता है और श्रुतज्ञान त्रिकाल-विषयक होता है। मतिज्ञान कारण है और श्रुतज्ञान उसका कार्य है। मतिज्ञान के होने पर ही श्रुतज्ञान हो सकता है। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक द्रव्यश्रुत नही होता किन्तु भावश्रुत उनमे भी होता है।

अब मति और श्रुत का विवेचन अन्य प्रकार से किया जाता है।

मति और श्रुत के दो रूप

४६ - अविसेसिआ मई मइनाण च मइअन्नाण च। विसेसिआ सम्मदिट्ठिस्स मई मइनाणं, मिच्छदिट्ठिस्स मइ मइ-अन्नाणं। अविसेसिअं सुय सुयनाणं च सुयअन्नाण च। विसेसिअं सुय सम्मदिट्ठिस्स सुय सुयनाणं, मिच्छदिट्ठिस्स सुयं सुयअन्नाणं।

सामान्य रूप से मति, मतिज्ञान और मति-अज्ञान दोनो प्रकार का है। परन्तु विशेष रूप से वही मति सम्यक्दृष्टि का मतिज्ञान है और मिथ्यादृष्टि की मति, मति-अज्ञान होता है। इसी प्रकार विशषता रहित श्रुत, श्रुतज्ञान और श्रुत-अज्ञान उभय रूप है। विशेषता प्राप्त वही सम्यक्दृष्टि का श्रुत, श्रुतज्ञान और मिथ्यादृष्टि का श्रुत-अज्ञान होता है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे सामान्य-विशेष, ज्ञान-अज्ञान और सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि के विषय मे उल्लेख किया गया है। जैसे सामान्यतया 'मति' शब्द ज्ञान और अज्ञान दोनो अर्थों मे प्रयुक्त होता है।

जैसे किसी ने कहा- फल द्रव्य अथवा मनुष्य। इन शब्दो मे क्रमश सभी प्रकार के फलो, द्रव्यो और मनुष्यो का अन्तर्भाव हो जाता है किन्तु आम्रफल, जीवद्रव्य एव मुनिवर कहने से उनकी विशेषता सिद्ध होती है। इसी प्रकार स्वामी विशेष की अपेक्षा किये विना मति शब्द ज्ञान और अज्ञान दोनो रूपो मे प्रयुक्त किया जा सकता है। किन्तु जब हम विशेष रूप मे विचार करते हैं तब सम्यगदृष्टि आत्मा की 'मति' मतिज्ञान और मिथ्यादृष्टि आत्मा की 'मति' मति-अज्ञान कहलाती है। क्योकि सम्यगदृष्टि स्याद्वाद दृष्टि द्वारा, प्रमाण और नय की अपेक्षा से प्रत्येक पदार्थ के स्वरूप का निरीक्षण करके यथार्थ वस्तु को स्वीकार करता है तथा अयथार्थ का परित्याग करता है। सम्यग्दृष्टि की 'मति' आत्मोत्थान और परोपकार की ओर प्रवृत्त होती है। इसके विपरीत मिथ्यादृष्टि की 'मति' अनन्तधर्मात्मक वस्तु मे एक धर्म का अस्तित्व स्वीकार करती है, शेष का निषेध करती है।

सामान्यतया 'श्रुत' भी ज्ञान-अज्ञान दोनो के लिए प्रयुक्त होता है। जब श्रुत का स्वामी सम्यग्दृष्टि होता है तो वह ज्ञान कहलाता है और यदि उसका स्वामी मिथ्यादृष्टि होता है तो वह अज्ञान कहलाता है। सम्यक्दृष्टि का ज्ञान आत्मोत्थान और दूसरो की उन्नति मे प्रवृत्त होता है तथा मिथ्यादृष्टि का श्रुतज्ञान आत्मपतन के साथ पर की अवनति का कारण बनता है। सम्यक्दृष्टि मिथ्याश्रुत को भी अपने श्रुतज्ञान के द्वारा सम्यक्श्रुत मे परिवर्तित कर लेता है तथा मिथ्यादृष्टि सम्यक्श्रुत को भी मिथ्याश्रुत मे बदल लेता है।

साराश यह है कि ज्ञान का फल अज्ञान की निवृत्ति, आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति एव निर्वाण पद को प्राप्ति करना है। सम्यग्दृष्टि जीव की बुद्धि और उसका शब्दज्ञान, दोनो ही

मार्गदर्शक होते हैं। इसके विपरीत मिथ्यादृष्टि की मति और शब्दज्ञान, दोनो ही विवाद, विकथा एव पतन का कारण बनते हुए जीव को पथभ्रष्ट करते हैं, साथ ही दूसरो के लिये भी अहितकर बन जाते हैं।

कहा जा सकता है कि जब मतिज्ञान और मति-अज्ञान दोनो ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होते हैं, तब दोनो मे सम्यक्-मिथ्या का भेद किस कारण से होता है ? उत्तर यह है कि ज्ञानावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न हुआ ज्ञान मिथ्यात्वमोहनीय के उदय से मिथ्या बन जाता है।

आभिनिबोधिक ज्ञान के दो भेद

४७—से कि त आभिणिबोहियनाण ?

आभिनिबोहियनाण दुविहं पण्णत्तं, त जहा— सुयनिस्सिय च अस्सुयनिस्सिय च।

से कि त असुयनिस्सियं ? असुयनिस्सिय चउव्विह पण्णत्त, त जहा—

उप्पत्तिया वेणइया कम्मया पारिणामिया।
बुद्धी चउव्विहा वुत्ता, पचमा नोवलब्भइ।

भगवन् ! वह आभिनिबोधिक ज्ञान किस प्रकार का है ?

उत्तर—आभिनिबोधिकज्ञान—मतिज्ञान दो प्रकार का है, जैसे - (१) श्रुतनिश्रित और (२) अश्रुतनिश्रित।

प्रश्न—अश्रुतनिश्रित कितने प्रकार का है ?

उत्तर—अश्रुतनिश्रित चार प्रकार का है। यथा--

(१) औत्पत्तिकी—क्षयोपशम भाव के कारण, शास्त्र अभ्यास के विना ही सहसा जिसकी उत्पत्ति हो, उसे औत्पत्तिकी बुद्धि कहते हैं।

(२) वैनयिकी—गुरु आदि की विनय-भक्ति से उत्पन्न बुद्धि वैनयिकी है।

(३) कर्मजा—शिल्पादि के निरन्तर अभ्यास से उत्पन्न बुद्धि कर्मजा होती है।

(४) पारिणामिकी—चिरकाल तक पूर्वापर पर्यालोचन से अथवा उम्र के परिपाक से जो बुद्धि उत्पन्न होती है उसे पारिणामिकी बुद्धि कहते है।

ये चार प्रकार की बुद्धियाँ शास्त्रकारो ने वर्णित की हैं, पाँचवा भेद उपलब्ध नहो होता।

(१) औत्पत्तिकी बुद्धि का लक्षण

४८—पुव्वमदिट्ठ-मस्सुय-मवेइय, तक्खणविसुद्धगहियत्था।
अव्वाहय-फलजोगा, बुद्धी उप्पत्तिया नाम॥

जिस बुद्धि के द्वारा पहले विना देखे और विना सुने ही पदार्थों के विशुद्ध अर्थ-अभिप्राय को तत्काल ही ग्रहण कर लिया जाता है और जिससे अव्याहत-फल-बाधारहित परिणाम का योग होता है, उसे औत्पत्तिकी बुद्धि कहा जाता है।

औत्पत्तिकी बुद्धि के उदाहरण

४९—भरह-सिल-मिंढ-कुक्कुड-तिल-वालुय-हत्थि-अगड-वणसंडे ।
पायस-अइआ-पत्ते, खाडहिला-पंचपियरो य ॥१॥
भरह-सिल-पणिय-रुक्खे, खुड्डग-पड-सरड-काय-उच्चारे ।
गय-घयण-गोल-खंभे-खुड्डग-मग्गित्थि-पइ-पुत्ते ॥२॥
महुसित्थ-मुद्दि-अंके नाणए भिक्खु चेडग-निहाणे ।
सिक्खा य अत्थसत्थे इच्छा य महं सयसहस्से ॥३॥

विवेचन—गाथाओ का अर्थ विवेचन से ही समझना चाहिए ।

आगमो मे तथा अन्य ग्रन्थो मे उन बुद्धिमानो का नाम विश्रुत रहा है जिन्होने अपनी तत्काल उत्पन्न बुद्धि या सूझ-बूझ से कही हुई बातो से अथवा किये गये अद्भुत कृत्यो से लोगो को चमत्कृत किया है । ऐसे व्यक्तियो मे राजा, मत्री, न्यायाधीश, सत-महात्मा, शिष्य, देव, दानव, कलाकार, बालक, नर-नारी आदि के वर्णन उल्लेखनीय होते है और उनके वर्णन इतिहास, कथानक, दृष्टान्त, उदाहरण या रूपक आदि मे मिलते है ।

आजकल यद्यपि अनेको दृष्टात ऐसे पाये जा सकते है जो औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा एव पारिणामिकी बुद्धि मे सबधित हैं, किन्तु यहाँ पर सूत्रगत उदाहरणो का ही उल्लेख किया जाता है—

(१) **भरत**—उज्जयिनी नगरी के निकट नटो के एक ग्राम में भरत नामक नट रहता था । उसकी पत्नी का देहान्त हो गया और वह रोहक नामक एक पुत्र को छोड गई । बालक बडा होनहार और बुद्धिमान् था, किन्तु छोटा था, अत उसकी व अपनी देखभाल के लिए भरत ने दूसरा विवाह कर लिया ।

रोहक की विमाता दुष्ट स्वभाव की स्त्री थी । वह उसके प्रति दुर्व्यवहार किया करती थी । एक दिन रोहक से रहा नही गया तो बोला—'माताजी ! आप मुझसे अच्छा व्यवहार नही करती, क्या यह आपके लिए उचित है ?' रोहक के यह शब्द सुनते ही विमाता आगबबूला होती हुई बोली 'दुष्ट ! छोटे मुँह बडी बात कहता है ! जा मेरे दुर्व्यवहार के कारण जो तुझसे बने कर लेना ।' यह कहकर वह अपने कार्य मे लग गई ।

रोहक ने विमाता के वचन सुने तो उससे बदला लेने की ठान ली और उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करने लगा। समय आया और एक दिन जब वह अपने पिता के पास सोया हुआ था, अचानक उठकर बोला—'पिताजी ! कोई पुरुष दौडकर जा रहा है ।' भरत नट ने यह सुनकर सोचा कि मेरी पत्नी सदाचारिणी नही है । परिणामस्वरूप वह पत्नी से विमुख हो गया तथा उससे बोलना भी बन्द कर दिया ।

पति के रग-ढग देखकर रोहक की विमाता समझ गई कि किसी प्रकार रोहक ने ही अपने पिता को मेरे विरुद्ध भडकाया है । उसकी अक्ल ठिकाने आई और वह रोहक से बोली—'बेटा ! मुझसे भूल हुई । भविष्य मे मैं तेरे साथ मधुर और अच्छा व्यवहार रखूँगी ।'

रोहक का क्रोध भी शान्त हो गया और वह अपने पिता के भ्रम-निवारण का अवसर खोजने लगा । एक दिन चाँदनी रात में उसने अगुली से अपनी ही छाया दिखाते हुए पिता से कहा—

"पिताजी ! देखिये वह पुरुष भागा जा रहा है !" भरत नट ने क्रोधित होकर अपनी तलवार उठाई और उस लम्पट पुरुष को मारने के लिये दौड़ा। रोहक से उसने पूछा—"कहाँ है वह दुष्ट ?" इस पर रोहक ने अपनी ही छाया की ओर इंगित करके कहा—'यह रहा।'

भरत नट बहुत लज्जित हुआ यह सोचकर कि मैंने इस बालक के कहने से पत्नी को दुराचारिणी समझ लिया। मन ही मन पश्चात्ताप करते हुए वह अपनी पत्नी से पूर्ववत् मधुर व्यवहार रखने लगा। फिर भी बुद्धिमान रोहक ने विचार किया—'विमाता, विमाता ही होती है। कही मेरे द्वारा किये गये व्यवहार से कुपित रहने के कारण यह किसी दिन मुझे विष आदि के प्रयोग से मार न डाले।' यह सोचकर वह छाया की तरह पिता के साथ रहने लगा। उन्ही के साथ खाता-पीता, सोता था।

एक दिन किसी कार्यवश भरत को उज्जयिनी जाना था। रोहक भी पिता के साथ ही गया। नगरी का वैभव और सौन्दर्य देखकर वह मुग्ध-सा हो गया और वहा घूम-घूमकर उसके नक्शे को अपने मस्तिष्क मे बिठाने लगा। कुछ समय पश्चात् जब वह पिता के साथ अपने गाँव की ओर लौटा तब नगरी के बाहर क्षिप्रा नदी के तट तक आते ही भरत को किसी भूली हुई वस्तु का स्मरण आया। अत रोहक को नदी के तट पर बिठाकर वह पुन नगरी की ओर लौट गया।

रोहक नदी के तीर पर रेत से खेलने लगा। अकस्मात् ही उसे न जाने क्या सूझा कि उसने रेत पर उज्जयिनी का महल समेत हूबहू नक्शा बना दिया। सयोगवश उसी समय नगरी का राजा उधर आ गया। चलते हुए वह रोहक के बनाए हुए नक्शे के समीप आया और उस पर चलने को हुआ। उसी क्षण रोहक ने टोकते हुए कहा—'महाशय ! इस मार्ग से मत जाओ।'

राजा चौककर बोला—"क्यो क्या बात है ?"

रोहक ने उत्तर दिया— "यहाँ राजभवन है, इसमे कोई व्यक्ति बिना इजाजत के प्रवेश नही कर सकता।"

राजा ने यह सुनते ही कौतूहलपूर्वक रोहक द्वारा बनाया हुआ अपनी नगरी का नक्शा देखा। देखकर हैरान रह गया और सोचने लगा—'यह छोटा-सा बालक कितना बुद्धिमान् है जिसने नगरी मे घूमकर ही इसका इतना सुन्दर और सही नक्शा बना लिया।' उसी क्षण उसके मन मे यह विचार भी आया कि—'मेरे चार सौ निन्यानवे मन्त्री हैं। अगर इनसे भी ऊपर इस बालक के समान एक अतीव कुशाग्र बुद्धि वाला महामन्त्री हो तो राज्यकार्य कितने सुन्दर ढग से चले। इसके बुद्धिबल के कारण अन्य बल न्यून होने पर भी मैं निष्कटक राज्य कर सकूँगा तथा किसी भी शत्रु पर सहज ही विजय पा लूँगा। किन्तु पहले इसकी परीक्षा कर लेनी चाहिए।' यह विचार करके राजा रोहक का, उसके पिता का तथा गाँव का नाम पूछकर नगर की ओर चल दिया।

इधर अपने पिता के लौटकर आने पर रोहक भी अपने गाँव की ओर रवाना हो गया। राजा भूला नही और कुछ समय बाद ही उसने रोहक की परीक्षा लेना प्रारम्भ कर दिया।

(२) शिला—राजा ने सर्वप्रथम रोहक के ग्रामवासियो को बुलाकर कहा— 'तुम लोग मिलकर एक ऐसा मण्डप बनाओ जो राजा के योग्य हो और उसका आच्छादन गाँव के बाहर पडी हुई महाशिला हो। किन्तु शिला को वहाँ से उखाडा न जाय।'

राजा की आज्ञा सुनकर गाँव के निवासी नट बड़ी चिन्ता में पड़ गये। सोचने लगे—मण्डप बनाना तो मुश्किल नही पर शिला को उठाए बिना वह मण्डप पर कैसे छाई जाएगी ? लोग इकट्ठे होकर इसी पर विचार विमर्श कर रहे थे कि रोहक भूखा होने के कारण अपने पिता को बुलाने के लिए वहाँ आ पहुँचा। उसने सब बात सुनी और नटो की चिन्ता को समझ गया। समझ लेने के बाद बोला—'आप लोग इस छोटी-सी बात को लेकर चिन्ता मे पड़े हुए हैं। मै आपकी चिन्ता मिटा देता हूँ।'

लोग हैरान होकर उसकी ओर देखने लगे, एक ने उपाय पूछा। रोहक ने कहा—'पहले आप सब शिला के चारो ओर की भूमि खोदो। चारो तरफ भूमि खुद जाने पर नीचे सुन्दर खम्भे खड़े कर दो और फिर शिला के नीचे को जमीन खोद डालो। यह हो जाय तब फिर शिला के नीचे की तरफ चारो ओर सुन्दर दीवारे खड़ी कर दो। बस मडप तैयार हो जाएगा और शिला हटानी भी नही पडेगी।'

रोहक की बात सुनकर लोग बड़े प्रसन्न हुए और उसकी हिदायत के अनुसार ही काम प्रारम्भ कर दिया। थोड़े दिनो मे ही महाशिला के नीचे भव्य स्तभ लगा दिये गए और वैसा ही सुन्दर परकोटा आदि बनाकर मडप तैयार किया गया। बिना हटाये ही शिला मडप का आच्छादन बन गई।

कार्य समाप्त होने पर भरत सहित अन्य नटो ने जाकर राजा से निवेदन किया—'महाराज ! आपकी आज्ञानुसार मडप तैयार कर दिया गया है। कृपा करके उसका निरीक्षण करने के लिए पधारे।'

राजा ने स्वय आकर मडप को देखा और प्रसन्न होकर पूछा—'तुम लोगो को मडप बनाने का यह तरीका किसने बताया ?'

ग्रामीणो ने एक स्वर से रोहक की ओर इगित करते हुए कहा—'राजाधिराज ! यह इस नन्हे बच्चे रोहक की बुद्धि का चमत्कार है। इसी ने हमे यह उपाय बताया और हम आपकी इच्छानुसार कार्य कर सके है।"

राजा को इसी उत्तर की आशा थी। उसने रोहक को एक परीक्षा मे उत्तीर्ण पाकर उसकी प्रशसा की तथा नगर की ओर रवाना हो गया।

(३) **मिण्ढ**—राजा ने दूसरी बार रोहक की परीक्षा करने के लिए उसके गाँव वालो के पास एक मेढा भेजा, साथ ही कहलवाया कि—"यह मेढा एक पक्ष पश्चात् लौटाना, पर ध्यान रखना कि इसका वजन न बढे और न ही घटने पाए।"

गाँव वाले फिर चिन्ताग्रस्त हो गये। सोचने लगे—'अगर इसे अच्छा खाना खिलायेंगे तो इसका वजन बढेगा ही, और भूखा रखेंगे तो घट जायगा।'

कोई उपाय न सूझने पर उन्होने रोहक को ही बुलाया और उससे अपनी चिन्ता का हल पूछा। रोहक ने अविलम्ब तरीका बताया और उसके निर्देशानुसार गाँव वालो ने मेढे को अच्छी खुराक देना शुरू किया। किन्तु उसके सामने ही एक पिंजरे में व्याघ्र को रख दिया। परिणाम यह हुआ कि अच्छी खुराक मिलने पर भी व्याघ्र के भय से मेढे का वजन न बढा और न घटा। एक पक्ष के बाद

गाँव वालो ने मेढे को लौटा दिया। राजा ने उसका वजन करवाया तो वह बराबर उतना ही निकला जितना गाँव भेजे जाने के समय था। राजा ने इस घटना के पीछे भी रोहक की ही चतुराई जानकर उसकी सराहना की।

(४) **कुक्कुट**—कुछ दिनो के अनन्तर राजा ने पुन· रोहक की परीक्षा लेने के लिए एक कुक्कुट—अर्थात् मुर्गा उसके गाँव भेज दिया। मुर्गा लडना ही नही जानता था, फिर भी कहलवाया कि इसे अन्य किसी मुर्गे के बिना ही लडाकू बनाया जाय।

गाँववाले इस बार भी घबराए कि अन्य मुर्गे के सामने हुए बिना यह लडना कैसे सीखेगा ? पर रोहक ने यह समस्या भी हल की। एक बड़ा तथा मजबूत दर्पण मगवाकर मुर्गे के सामने रखवा दिया। इस दर्पण मे अपने प्रतिबिम्ब को ही अपना प्रतिद्वन्द्वी समझकर मुर्गा धीरे-धीरे उससे लडने का प्रयत्न करने लगा। कुछ ही समय मे लडाका बन गया। राजा के पास वापस मुर्गा भेजा गया और जब राजा ने उसे अन्य किसी मुर्गे के बिना ही लडते देखा तो रोहक की बुद्धि पर दग होते हुए अतीव प्रसन्नता प्रकट की।

(५) **तिल**—उक्त घटना के कुछ दिन पश्चात् राजा ने रोहक की और परीक्षा लेने के लिए उसके गाँववालो को दरबार मे बुलाकर आज्ञा दी—'तुम्हारे समक्ष तिलो का यह ढेर है, इसे बिना गिने ही बतलाओ कि इसमे कितने तिल है ? यह भी ध्यान रखना कि सख्या बताने मे अधिक विलम्ब न हो।'

राजा की यह अनोखी आज्ञा सुनकर लोग किकर्त्तव्यविमूढ हो गए। उन्हे कुछ भी समझ मे नही आया कि अब क्या करे ? कैसे बिना गिने ही तिलो की सख्या बताएँ ? पर उन्हे रोहक का ध्यान आया और दौडे-दौडे वे उसी के पास पहुँचे। रोहक गाँववालो की बात अर्थात् राजाज्ञा सुनकर कुछ क्षण मौन रहा, फिर बोला—आप लोग जाकर महाराज से कह देना कि हम गणित के विद्वान् तो नही है, फिर भी तिलो की सख्या उपमा के द्वारा बताते हैं। वह इस प्रकार है—"इस उज्जयिनी नगरी के ऊपर बिल्कुल सीध मे आकाश मे जितने तारे है, ठीक उतनी ही सख्या इस ढेर मे तिलो की है।"

ग्रामीण लोगो ने प्रसन्न होते हुए राजा के पास जाकर यही कह दिया। राजा ने रोहक की बुद्धिमत्ता देखकर दाँतो तले अगुली दबाई और मन ही मन प्रसन्न हुआ।

(६) **बालुका**—कुछ दिन के बाद राजा ने पुन रोहक की परीक्षा करने के लिए उसके गाँव वालो को आदेश दिया कि—'तुम्हारे गाँव के आसपास बढ़िया रेत है। उस बालू रेत की एक डोरी बनाकर शीघ्र भेजो।'

बेचारे नट घबराए, भला बालू रेत की डोरी कैसे बट सकती थी ? पर वहाँ रोहक जो था, उसने चुटकी बजाते ही उन्हे मुसीबत से उबार लिया। उसी के कथनानुसार गाँववाला ने जाकर राजा से प्रार्थना की—"महाराज ! हम तो नट है, बाँसो पर नाचना ही जानते है। डोरी बनाने का काम कभी किया नही। फिर भी आपकी आज्ञा का पालन करने का प्रयत्न अवश्य करेंगे। कृपा करके आप अपने भण्डार मे से रेत की बनी हुई डोरी का एक नमूना दिलवादे।"

राजा अब क्या उत्तर देता ? मन ही मन कटकर रह गया। रोहक की बुद्धि के सामने उसकी अपनी अकल पानी भरने लगी।

(७) **हस्ती** –एक दिन राजा ने एक वृद्ध ही नही अपितु मरणासन्न हाथी नटो के गांव मे भेज दिया और कहलवाया—"इस हाथी की अच्छी तरह सेवा करो और प्रतिदिन इसके समाचार मेरे पास भेजते रहो, पर कभी आकर यह मत कहना कि वह मर गया है, अन्यथा दड दिया जायगा।"

लोगो ने फिर रोहक से सलाह ली। रोहक ने उत्तर दिया—'हाथी को अच्छी खुराक देते रहो, आगे जो होगा, मै सम्हाल लूगा।' यही किया गया। हाथी को शाम को उसके अनुकूल खुराक दी गई किन्तु वह रात्रि को हो मर गया। लोग घबराए कि अब राजा को जाकर क्या समाचार दें ? किन्तु रोहक ने उन्हे तसल्ली दी और उसके निर्देशानुसार ग्रामवासियो ने जाकर राजा से कहा— "महाराज ! आज हाथी न कुछ खाता है, न पीता है, न उठता है, न ही कुछ चेष्टा करता है। यहाँ तक कि वह आज सास भी नही लेता।"

राजा ने कुपित होते हुए पूछा—"तो क्या हाथी मर गया ?" ग्रामीण बोले—"प्रभु ! हम ऐसा कैसे कह सकते है, ऐसा तो आप ही फरमा सकते है।"

राजा ने समझ लिया कि हाथी मर गया किन्तु रोहक की चतुराई से गाववालो ने यही बात अन्य प्रकार से समझाई है। राजा चुप हो गया। गाँववासी भी जान बचाकर सहर्ष अपने घरो की ओर लौट आए।

(८) **अगड-कूप**—एक बार राजा ने नटो के गांव फिर सदेश भेजा—"तुम्हारे यहां जो कुआ है वह अत्यन्त मधुर एव शीतल जल वाला है। अत उसे हमारे यहां भेज दो, अन्यथा दड के भागी बनोगे।"

राजाज्ञा प्राप्तकर लोग चिन्ताग्रस्त होते हुए पुन रोहक की शरण मे दौडे। रोहक ने ही उन्हे फिर चिन्तामुक्त कर दिया। उसके द्वारा सिखाये हुए व्यक्ति राजा के पास पहुचे और कहने लगे--

"महाराज ! हमारे यहाँ का कुआ ग्रामीण है। वह बडा भीरु और सकोचशील है। इसलिये आप अपने यहाँ के किसी कुए को हमारे यहां भेजने की कृपा कीजिए। अपने सजातीय पर विश्वास करके वह उसके साथ नगर मे आ जाएगा।"

राजा रोहक की बुद्धि की प्रशसा करता हुआ चुप हो गया।

(९) **वन-खण्ड**—कुछ दिन निकल जाने के बाद एक दिन राजा ने फिर रोहक के गाँववालो को सन्देश भेजा—'तुम्हारे गांव के पूर्व मे जो वन-खण्ड है उसे पश्चिम मे कर दो।'

ऐसा करना क्या गांव वालो के वश की बात थी ? रोहक ने ही उन्हे सुझाया—'इस गाँव को ही वनखण्ड की पूर्वदिशा मे बसा लो। ऐसा करने पर वनखण्ड स्वय पश्चिम दिशा मे हो जायगा।' लोगो ने ऐसा हो किया तथा राजकर्मचारियो के द्वारा कार्य पूर्ण हो जाने का सन्देश भेज दिया गया।

रोहक की अद्भुत बुद्धि के चमत्कार का राजा को पुन. प्रमाण मिला और वह मन ही मन बहुत आनन्दित हुआ।

(१०) **पायस**—एक दिन अचानक ही राजा ने नटो को आज्ञा दी कि—'बिना अग्नि मे पकाये खीर तैयार करके भिजवाओ।'

नट लोग फिर हैरान हुए, किन्तु रोहक ने उन्हे सुझाव दिया—'चावलो को पहले पानी मे भिगोकर रख दो, तत्पश्चात् उनको दूध-भरी देगची मे डाल दो। देगची को चूने के ढेर पर रखकर चूने मे पानी डाल दो। चूने की तीव्र गर्मी से खीर पक जाएगी।'

ऐसा ही किया गया और पकी हुई खीर राज-दरबार मे पेश हुई। उसे तैयार करने की विधि जब राजा ने सुनी तो एक बार फिर वे रोहक की बुद्धि के कायल हुए।

(११) **अतिग**—उक्त घटना के कुछ समय पश्चात् राजा ने रोहक को अपने पास बुला भेजा और कहा—

"मेरी आज्ञा पालन करने वाला बालक कुछ शर्तों को मानकर मेरे पास आए। वे शर्ते है—आनेवाला न शुक्ल पक्ष मे आए और न कृष्ण पक्ष मे, न दिन मे आए और न रात मे, न धूप मे आए और न छाया मे, न आकाशमार्ग से आए और न भूमि से, न मार्ग से आए और न उन्मार्ग से, न स्नान करके आए और न विना स्नान किये, किन्तु आए अवश्य।"

राजा की ऐसी निराली शर्तों को सुनकर वहाँ जितने भी व्यक्ति उपस्थित थे मानो सभी को साँप सूघ गया। कोई नही सोच सका कि ऐसी अद्भुत शर्ते पूरी हो सकेगी। किन्तु रोहक ने हार नही मानी। वह निश्चिन्ततापूर्वक धीरे-धीरे राजमहल से बाहर निकला और अपने गाँव की ओर बढ गया। उसने अनुकूल समय की प्रतीक्षा की और अमावस्या तथा प्रतिपदा की सन्धि के पूर्व कण्ठ तक स्नान किया। सन्ध्या के समय सिर पर चालनी का छत्र धारण करके मेढे पर बैठकर गाडी के पहिये के बीच के मार्ग से राजा के पास चल दिया। साथ ही राजदर्शन, देवदर्शन एव गुरुदर्शन खाली हाथ नही करना चाहिए, इस नीतिवचन को ध्यान मे रखते हुए हाथ मे एक मिट्टी का ढेला भी ले आया।

राजा की सेवा मे पहुँचकर उसने उचित रीति से नमस्कार किया तथा मिट्टी का ढेला उनके समक्ष रख दिया। राजा ने चकित होकर पूछा—"यह क्या है?" रोहक ने विनयपूर्वक उत्तर दिया—"देव! आप पृथ्वीपति हैं, अत मैं पृथ्वी लाया हूँ।"

रोहक के मागलिक वचन सुनकर राजा अत्यन्त प्रमुदित हुआ और उसे अपने पास रख लिया। गाँववाले भी अपने-अपने घरो को लौट गये। रात्रि मे राजा ने रोहक को अपने पास ही सुलाया। प्रथम प्रहर व्यतीत होने के पश्चात् दूसरे प्रहर मे राजा की नीद खुली और उन्होने रोहक को सम्बोधित करते हुए पूछा—"रोहक! जाग रहा है या सो रहा है?" रोहक ने उसी समय उत्तर दिया—"जाग रहा हूँ महाराज!"

"क्या सोच रहा है?"—राजा ने फिर पूछा। रोहक ने कहा—"मैं सोच रहा हूँ कि अजा (बकरी) के उदर मे गोल-गोल मिंगनियाँ कैसे बन जाती हैं?" राजा को इसका उत्तर नही सूझा। उसने रोहक से ही पूछ लिया—"क्या सोचा? वे कैसे बनती हैं?" रोहक बोला—"देव!

बकरी के उदर में संवर्त्तक नामक एक विशेष प्रकार की वायु होती है, उसी के कारण मिंगनिया गोल-गोल हो जाती हैं।" यह कहकर रोहक सो गया।

(१२) पत्र—रात के तीसरे प्रहर मे राजा ने फिर पूछ लिया—"रोहक, जाग रहा है?" रोहक अविलम्ब बोल उठा—"जाग रहा हूँ स्वामी!" राजा के फिर यह पूछने पर कि क्या सोच रहा है, रोहक ने कहा—

"मैं यह सोच रहा हूँ कि पीपल के पत्ते का डठल बड़ा होता है या शिखा?" राजा सशय मे पड गया और रोहक से ही उसका निवारण करने के लिये कहा। रोहक ने उत्तर दिया—"जब तक शिखा का भाग नही सूखता तब तक दोनो तुल्य होते हैं।" उत्तर देकर राजा के सोने के पश्चात् वह भी सो गया।

(१३) खाडहिला (गिलहरी)—रात्रि का चतुर्थ प्रहर चल रहा था कि अचानक राजा ने रोहक को फिर पुकार लिया। रोहक जाग ही रहा था। राजा ने पूछा—"क्या सोच रहा है?" रोहक बोला—"सोच रहा हूँ कि गिलहरी की पूछ उसके शरीर से बडी होती है या छोटी?" राजा ने इसका भी निर्णय उसी से पूछा। रोहक बोला—"देव, दोनो बराबर होते है।" उत्तर देकर वह पुन सो गया।

(१४) पच पियरो (पांच पिता)—रात्रि व्यतीत हो गई। सूर्योदय से पूर्व जब मगलवाद्य बजने लगे, राजा जाग गया किन्तु रोहक प्रगाढ निद्रा मे सो रहा था। पुकारने पर जब वह नही जागा तो राजा ने अपनी छडी से उसे कुछ कोचा। रोहक तुरन्त जाग गया। राजा ने कौतूहलवश पूछ लिया—'क्यो रोहक, अब क्या सोच रहा है?'

इस बार रोहक ने बडा अजीब उत्तर दिया। बोला—'महाराज! मैं सोच रहा हूँ कि आपके पिता कितने है?' रोहक की बात सुनकर राजा चक्कर मे पड गया किन्तु उसकी बुद्धि का कायल होने के कारण विना क्रोध किये उसी से प्रश्न किया—'तुम्ही बताओ मैं कितनो का पुत्र हूँ?'

रोहक ने उत्तर दिया—'महाराज! आप पाँच से पैदा हुए है। एक तो वैश्रवण से, क्योकि आप कुबेर के समान उदारचित्त है। दूसरे चाण्डाल से, क्योकि दुश्मनो के लिए आप चाण्डाल के समान क्रूर है। तीसरे धोबी से, जैसे धोबी गीले कपडे को भली-भाति निचोडकर, सारा पानी निकाल देता है, उसी तरह आप भी राजद्रोही और देशद्रोहियों का सर्वस्व हर लेते हैं। चौथे बिच्छू से, क्योंकि बिच्छू डक मारकर दूसरो को पीडा पहुँचाता है, वैसे ही मुझ निद्राधीन बालक को आपने छडी के अग्रभाग से कोचकर कष्ट दिया है। पाचवे, आप अपने पिता से पैदा हुए हैं, क्योकि अपने पिता के समान ही आप भी न्यायपूर्वक प्रजा का पालन कर रहे हैं।'

रोहक की बाते सुनकर राजा अवाक् रह गया। प्रात नित्यक्रिया से निवृत्त होकर वह अपनी माता को प्रणाम करने गया तथा उनसे रोहक की कही हुई सारी बाते कह दी। राजमाता ने उत्तर दिया—"पुत्र! विकारी इच्छा से देखना ही यदि तेरे सस्कारो का कारण हो तो ऐसा अवश्य हुआ। जब तू गर्भ मे था, तब मैं एक दिन कुबेर की पूजा करने गई थी। कुबेर की सुन्दर मूर्ति को देखकर तथा वापिस लौटते समय मार्ग मे एक धोबी और एक चाण्डाल को देखकर मेरी भावना विकृत हुई। इसके बाद घर आने पर एक बिच्छू-युगल को रति-क्रीडा करते देखकर भी मन मे कुछ विकारी भावना पैदा हुई। वस्तुतः तो तुम्हारे जनक जगत्प्रसिद्ध पिता एक ही हैं।"

यह सुनकर राजा रोहक की अलौकिक बुद्धि का चमत्कार देखकर दग रह गया। माता को प्रणाम कर वह वापिस लौट आया और दरबार का समय होने पर रोहक को महामन्त्री के पद पर नियुक्त कर दिया।

इस प्रकार ये चौदह उदाहरण रोहक की औत्पत्तिकी बुद्धि के है।

(१) भरत व शिला के उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं।

(२) **पणिस (प्रतिज्ञा-शर्त)**—किसी समय एक भोलाभाला ग्रामीण किसान अपने गाँव से ककड़ियाँ लेकर शहर मे बेचने के लिये गया। नगर के द्वार पर पहुँचते ही उसे एक धूर्त मिल गया। उस धूर्त ने उसे ठगने का विचार किया और कहा—"भाई ! अगर मैं तुम्हारी सारी ककडियाँ खा लू तो तुम मुझे क्या दोगे ?" ग्रामीण ने कहा—"अगर तुम सारी ककडियाँ खा लोगे तो मैं तुम्हे इस द्वार मे न आ सके ऐसा लड्डू दू गा।" दोनो मे यह शर्त तय हो गई तथा वहाँ उपस्थित कुछ व्यक्तियो को साक्षी बना लिया गया।

नागरिक धूर्त ने अपना वचन पूरा करने के लिए ग्रामीण की ककडियो मे से प्रत्येक को उठाया तथा थोडा-थोडा खाकर सभी को जूठी करके रख दिया। तत्पश्चात् बोला -"लो भाई ! मैंने तुम्हारी सारी ककडियाँ खा ली।"

बेचारा ग्रामीण आखे मल-मलकर देखने लगा कि कही उसे भ्रम तो नही हो रहा है ? किन्तु भ्रम नही था, ककडियाँ तो थोडी-थोडी खाई हुई सभी सामने पडी थी। इसलिए उसने कहा— "तुमने ककडियाँ कहाँ खाई हैं ! सब तो पडी हैं।"

धूर्त ने कहा—"मैंने ककडियाँ खा ली हैं, इसका विश्वास अभी कराये देता हूँ।" ऐसा कहकर उसने ग्रामीण को साथ लेकर सारी ककडिया बाजार मे बेचने के लिए रख दी। ग्राहक आने लगे पर ककडियो को देखकर सभी लौट गये, यह कहकर कि ये ककडियाँ तो खाई हुई हैं।

लोगो की बातो के आधार पर नगर के धूर्त ने ग्रामीण से कहा—"देखो, सभी कह रहे है कि ककडियाँ खाई हुई है। अब लाओ मेरा लड्डू।" धूर्त ने साक्षियो को भी इसी प्रकार विश्वास करने के लिए बाध्य कर दिया।

ग्रामीण घबराया कि धूर्त ने ककडियाँ खाई भी नही और लड्डू भी माँग रहा है। अब कैसे इतना बड़ा लड्डू इसे दू ? भयभीत होकर उसने धूर्त को रुपया देकर पीछा छुडाना चाहा। वह उसे एक रुपया देने लगा, न लेने पर दो और इसी प्रकार सौ रुपये तक आ गया, किन्तु धूर्त ने रुपया लेने से इन्कार कर दिया। वह लड्डू लेने की ही माँग करता रहा। हारकर ग्रामीण ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए कुछ समय की माँग की और किसी ऐसे व्यक्ति को खोजने लगा जो उसे इस सकट से उबारे।

आखिर उसे एक दूसरा धूर्त मिल गया जिसने चुटकियो मे ही उसकी समस्या हल कर देने का आश्वासन दिया। उसी के कथनानुसार ग्रामीण ने बाजार जाकर एक छोटा सा लड्डू खरीदा। तत्पश्चात् वह धूर्त अन्य साक्षियो को बुला लाया। सबके आ जाने पर उसने लड्डू को नगर-द्वार के बाहर रख दिया और पुकारने लगा- "अरे लड्डू ! चलो, ओ लड्डू, इधर इस दरवाजे में आओ।"

पर लड्डू कहाँ चलनेवाला था। वह तो जहाँ था वही पड़ा रहा। तब ग्रामीण ने उस नागरिक धूर्त को सभी साक्षियो के समक्ष सबोधित करते हुए कहा—'भाई ! मैंने तुमसे प्रतिज्ञा की थी कि हार गया तो ऐसा लड्डू दू गा जो इस द्वार से नही निकल सके। अब तुम्ही देख लो यह लड्डू द्वार से नही निकल रहा है। चलो, अपना लड्डू ले जाओ। मैं प्रतिज्ञा से मुक्त हो गया हूँ।'

नागरिक धूर्त कट कर रह गया। सारे साक्षी भी कुछ न कह सके।

(३) **वृक्ष**—कुछ यात्री एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हुए मार्ग में एक सघन आम्र-वृक्ष के नीचे विश्राम करने के लिये ठहर गये। वृक्ष पर लगे हुए आमो को देखकर उनके मुँह मे पानी भर आया। वे किसी प्रकार आम प्राप्त करने का उपाय सोचने लगे। वृक्ष पर बन्दर बैठे हुए थे और उनके डर से वृक्ष पर चढकर आम तोडना कठिन था। आखिर एक व्यक्ति की औत्पत्तिकी बुद्धि ने काम दिया और उसने पत्थर उठा-उठाकर बन्दरों की ओर फेंकना प्रारम्भ कर दिया। बदर चचल और नकलची होते ही हैं। पत्थरो के बदले पत्थर न पाकर पेड़ से आम तोड-तोडकर नीचे ठहरे हुए व्यक्तियो की ओर फेकने लगे। पथिको को और क्या चाहिये था, मन-मागी मुराद पूरी हुई। सभी ने जी भरकर आम खाये और मार्ग पर आगे बढ गये।

(४) **खड्डग (अगूठी)**—राजगृह नामक नगर के राजा प्रसेनजित ने अपनी न्यायप्रियता एव बुद्धिबल से समस्त शत्रुओ पर विजय प्राप्त कर ली थी। वह निष्कटक राज्य कर रहा था। प्रतापी राजा प्रसेनजित के बहुत से पुत्र थे। उनमे एक श्रेणिक नामक पुत्र समस्त राजोचित गुणो से सम्पन्न अति सुन्दर और राजा का विशेष प्रेमपात्र था। किन्तु राजा प्रकट रूप मे उस पर अपना प्रेम प्रदर्शित नही करता था। राजा को डर था कि पिता का प्रेम-पात्र जानकर उसके अन्य भाई ईर्ष्यावश श्रेणिक को मार न डाले। किन्तु श्रेणिक बुद्धिसम्पन्न होने पर भी पिता से प्रेम व सम्मान न पाकर मन ही मन दु खी व क्रोधित होते हुए घर छोडने का निश्चय कर बैठा। अपनी योजनानुसार एक दिन वह चुपचाप महल से निकल कर किसी अन्य देश में जाने के लिए रवाना हो गया।

चलते-चलते वह बेन्नातट नामक नगर मे पहुंचा और एक व्यापारी की दूकान पर जाकर कुछ विश्राम के लिए ठहर गया। दुर्भाग्यवश उस व्यापारी का सम्पूर्ण व्यापार और वैभव नष्ट हो चुका था, किन्तु जिस दिन श्रेणिक उसकी दूकान पर जाकर बैठा उस दिन उसका सचित माल, जिसे कोई पूछता भी न था, बहुत ऊँचे भाव पर बिका तथा विदेशो से व्यापारियो से लाए हुए रत्न अल्प मूल्य मे प्राप्त हो गये। इस प्रकार अचिन्त्य लाभ हुआ देखकर व्यापारी के मन में विचार आया 'आज मुझे जो महान् लाभ प्राप्त हुआ है इसका कारण निश्चय ही यह पुण्यवान् बालक है। आज यह मेरी दूकान पर आकर बैठा हुआ है। कोई बडी महान् आत्मा है यह। यो भी कितना सुन्दर और तेजस्वी दिखाई देता है।'

सयोगवश उसी रात्रि को सेठ ने स्वप्न मे देखा था कि उसकी पुत्री का विवाह एक 'रत्नाकर' से हो रहा है और अगले दिन ही जब श्रेणिक उसकी दूकान पर आकर बैठा और दिन भर मे लाभ भी आशातीत हुआ तो सेठ को लगा कि यही वह रत्नाकर है। मन ही मन प्रमुदित होकर व्यापारी ने श्रेणिक से पूछ लिया—"आप यहाँ किसके गृह मे अतिथि बन कर आए है ?" श्रेणिक ने बडे मधुर और विनम्र स्वर में उत्तर दिया—"श्रीमान् ! मैं आपका ही अतिथि हूँ।" इस मधुर एव आत्मीयतापूर्ण उत्तर को सुनकर सेठ का हृदय प्रफुल्लित हो गया। वह बडे प्रेम से श्रेणिक को

अपने घर ले गया। उत्तमोत्तम वस्त्राभूषणो से एव भोजनादि से उसका सत्कार किया। घर मे ही रहने का आग्रह किया। श्रेणिक को तो कही निवास करना ही था, वह उसी सेठ के यहाँ ठहर गया। सौभाग्यवश उसके पुण्य से सेठ की धन-सम्पत्ति, व्यापार एवं प्रतिष्ठा दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती गई तथा खोई हुई साख पुन: प्राप्त हो गई। परम आनन्द का अनुभव करते हुए सेठ ने कुछ ही दिनो के बाद श्रेणिक का विवाह अपनी सुयोग्य पुत्री नदा के साथ कर दिया। पत्नी के साथ श्रेणिक सुखपूर्वक ससुराल मे रहने लगा। कुछ ही समय के बाद नदा गर्भवती हुई और यथाविधि गर्भ का संरक्षण करने लगी।

इधर बिना बताए श्रेणिक के चले जाने से राजा प्रसेनजित बहुत दु:खी हुए और चारो दिशाओ में उसकी खोज के लिए आदमी भेज दिये। पता लगने पर राजा ने कुछ सैनिक श्रेणिक को लिवा लाने के लिए वेन्नातट भेजे। सैनिको ने जाकर श्रेणिक से प्रार्थना की—"महाराज प्रसेनजित आपके वियोग मे बहुत व्याकुल है। कृपा करके आप शीघ्र ही राजगृह पधारे।" श्रेणिक ने राजपुरुषो की प्रार्थना स्वीकार करके राजगृह जाने का निश्चय किया तथा अपनी पत्नी नदा की सहमति लेकर और अपना विस्तृत परिचय लिखकर एक दिन राजगृह की ओर प्रस्थान किया।

इधर नदा के गर्भ में देवलोक से च्युत होकर आए हुए जीव के पुण्य-प्रभाव से एक दिन नदादेवी को दोहद उत्पन्न हुआ कि—'मैं एक महान् हाथी पर आरूढ होकर नगर-जनो को धन-दान और अभय दान दूँ।' मन में यह भावना आने पर नदा ने अपने पिता से अपनी इच्छा को पूर्ण करने की प्रार्थना की। पिता ने सहर्ष पुत्री के दोहद को पूर्ण किया। यथासमय नदा की कुक्षि से एक अनुपम बालक ने जन्म लिया। बाल-रवि के समान सम्पूर्ण दिशाओ को प्रकाशित करने वाले बालक का जन्मोत्सव मनाया गया तथा उसका नाम 'अभयकुमार' रखा गया। समय व्यतीत हो चला तथा अभयकुमार ने प्रारंभिक ज्ञान से लेकर अनेक शास्त्रो का अभ्यास करते हुए समस्त कलाओ का भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया।

एक दिन अकस्मात् ही अभयकुमार ने अपनी माता से पूछा—'माँ! मेरे पिता कौन है और कहाँ निवास करते है?' नदा ने उपयुक्त समय समझकर अभयकुमार को उसके पिता श्रेणिक का परिचय-पत्र बताया तथा आद्योपान्त्य सारा वृत्तान्त भी कह सुनाया। पिता का परिचय पाकर अभयकुमार को अतीव प्रसन्नता हुई और वह उसी समय राजगृह जाने को व्यग्र हो उठा। माता के समक्ष उसने अपनी इच्छा व्यक्त करते हुए सार्थ के साथ राजगृह जाने की आज्ञा मागी। नदादेवी ने अभयकुमार के साथ स्वयं भी चलना चाहा। परिणामस्वरूप अभयकुमार अपनी माता सहित सार्थ के साथ राजगृह की ओर चल दिया।

चलते-चलते राजगृह के बाहर पहुँचे। अभयकुमार ने अपनी माता को सार्थ की सुरक्षा मे, नगर के बाहर एक सुन्दर स्थान पर छोडकर स्वय नगर मे प्रवेश किया। यह जानने के लिये कि शहर का वातावरण कैसा है और किस प्रकार राजा के समक्ष पहुँचा जा सकता है।

नगर मे प्रविष्ट होते ही अभयकुमार ने देखा कि एक जलरहित कुएं के चारो ओर लोगो की भीड इकट्ठी हो रही है। अभयकुमार ने एक व्यक्ति से लोगो के इकट्ठे होने का कारण पूछा। उस ने बताया—"इस सूखे कुए मे राजा की स्वर्ण-मुद्रिका गिर गई है और राजा ने घोषणा की है कि जो व्यक्ति कूप के तट पर खडा रहकर अपने हाथ से अँगूठी निकाल देगा उसे महान् पारितोषिक

दिया जायगा। किन्तु यहाँ खडे हुए व्यक्तियो मे से किसी को भी उपाय नही सूझ रहा है अँगूठी निकालने का।"

अभयकुमार ने उसी क्षण कहा--"अगर मुझे अनुमति मिले तो मैं अँगूठी निकाल दूँ।" उस व्यक्ति के द्वारा यह बात जानकर राजकर्मचारियो ने अभयकुमार से अँगूठी निकाल देने का अनुरोध किया। अभयकुमार ने सर्वप्रथम कुएं मे झाककर अँगूठी को भलीभाँति देखा। तत्पश्चात् कुछ ही दूर पर पडा हुआ गोबर उठाया और कुएं मे पडी हुई अँगूठी पर डाल दिया। अँगूठी गोबर मे चिपक गई। कुछ समय पश्चात् गोबर के सूखने पर उसने कुए मे पानी भरवाया और अँगूठी समेत उस गोबर के ऊपर तैर आने पर हाथ बढाकर उसे निकाल लिया। एकत्रित लोग यह देखकर चकित और प्रसन्न हुए। अँगूठी निकलने का समाचार राजा तक पहुचा। राजा ने अभयकुमार को बुलवाया और पूछा--"वत्स, तुम कौन हो, कहाँ के हो ?"

अभयकुमार ने उत्तर दिया --"मैं आपका ही पुत्र हूँ।" यह कल्पनातीत उत्तर सुनकर राजा हैरान हो गया किन्तु पूछने पर अभयकुमार ने अपने जन्म से लेकर राजगृह मे पहुचने तक का सारा वृत्तान्त कह सुनाया। सुनकर राजा को असीम प्रसन्नता हुई। उसने अपने बुद्धिमान् और सुयोग्य पुत्र को हृदय से लगा लिया। पूछा—'तुम्हारी माता कहाँ हैं ?' अभयकुमार ने उत्तर दिया—'मैं उन्हे नगर से बाहर छोडकर आया हूँ।'

यह सुनते ही राजा अपने परिजनो के साथ स्वय रानी नदा को लिवाने के लिये चल पडा। इधर अभयकुमार ने पहले ही पहुँचकर अपनी माता से पिता के मिलने का तथा उनके राजमहल से चल पडने का समाचार दे दिया। रानी नदा हर्ष-विह्वल हो गई। इतने मे ही महाराजा श्रेणिक भी आ पहुँचे। समग्र जनता हर्ष-विभोर थी। अपनी महारानी के दर्शन करके लोगो ने अति उत्साह व समारोह से उन्हे राजमहल मे पहुँचाया। राजा ने औत्पत्तिकी बुद्धि के धनी अपने पुत्र अभयकुमार को मन्त्रिपद प्रदान किया तथा सानन्द समय व्यतीत होने लगा।

(५) **पट**—दो व्यक्ति कही जा रहे थे। रास्ते मे एक सुन्दर व शीतल जल का सरोवर देखकर उनकी इच्छा स्नान करने की हो गई। दोनो ने अपने-अपने वस्त्र उतारकर सरोवर के किनारे रख दिये तथा स्नान करने के लिए सरोवर मे उतर गये। उनमे से एक व्यक्ति जल्दी बाहर आ गया और अपने साथी का ऊनी कम्बल ओढकर चलता बना। जब दूसरे ने यह देखा तो वह घबराकर चिल्लाया—"अरे भाई, मेरा कम्बल क्यो लिए जा रहा है ?" किन्तु पहले व्यक्ति ने कोई उत्तर नही दिया। तब कम्बल का मालिक दौडता हुआ उसके पास गया। वह अपना कम्बल मागने लगा, पर ले जाने वाले ने कम्बल नही दिया और दोनो मे परस्पर झगडा हो गया। अन्ततोगत्वा यह झगडा न्यायालय मे पेश हुआ। न्यायाधीश की समझ मे नही आया कि कम्बल किसका है ? न कम्बल पर नाम था और न ही कोई साक्षी था जो कम्बल वाले को पहचान सकता। किन्तु अचानक ही अपनी औत्पत्तिकी बुद्धि के बल पर न्यायाधीश ने दो कघियाँ मगवाई और दोनो के बालो मे फिरवाई। उससे मालूम हुआ कि जिस व्यक्ति का कम्बल था उसके बालो मे ऊन के धागे थे और दूसरे के बालो मे कपास के तन्तु। इस परीक्षा के बाद कम्बल उसके वास्तविक स्वामी को दिलवा दिया गया। दूसरे को अपराध के अनुसार दंड मिला।

(६) **सरट (गिरगिट)**---एक बार एक व्यक्ति जंगल में जा रहा था। उसे शौच की हाजत

हुई। शीघ्रता मे वह जमीन पर एक बिल देखकर, उसी पर शरीर-चिन्ता की निवृत्ति के लिए बैठ गया। अकस्मात् वहाँ एक गिरगिट आ गया और उस व्यक्ति के गुदा भाग को स्पर्श करता हुआ बिल मे घुस गया। शौचार्थ बैठे हुए व्यक्ति के मन में यह समा गया कि निश्चय ही गिरगिट मेरे पेट मे प्रविष्ट हो गया है। बात उसके दिल मे जम गई और वह इसी चिन्ता मे घुलने लगा। बहुत उपचार कराने पर भी जब स्वस्थ नही हो सका तो एक दिन फिर किसी अनुभवी वैद्य के पास पहुँचा।

वैद्य ने नाडी-परीक्षा के साथ-साथ अन्य प्रकार से भी उसके शरीर की जाच की, किन्तु कोई भी बीमारी प्रतीत न हुई। तब वैद्य ने उस व्यक्ति से पूछा—"तुम्हारी ऐसी स्थिति कबसे चल रही है ?" व्यक्ति ने आद्योपान्त्य समस्त घटित घटना कह सुनाई। वैद्य ने जान लिया कि यह भ्रमवश घुल रहा है। उसकी बुद्धि औत्पत्तिकी थी। अत. व्यक्ति के रोग का इलाज भी उसी क्षण उसके मस्तिष्क मे आ गया।

वैद्यजी ने कही से एक गिरगिट पकडवा मगाया। उसे लाक्षारस से अवलिप्त कर एक भाजन में डाल दिया। तत्पश्चात् रोगी को विरेचन की औषधि दी और कहा—"तुम इस पात्र मे शौच जाओ।" व्यक्ति ने ऐसा ही किया। वैद्य उस भाजन को प्रकाश मे उठा लाया और उस व्यक्ति को गिरगिट दिखा कर बोला—"देखो ! यह तुम्हारे पेट मे से निकल आया है।" व्यक्ति को संतोष हो गया और इसी विश्वास के कारण वह बहुत जल्दी स्वास्थ्य-लाभ करता हुआ पूर्ण नीरोग हो गया।

(७) **काक**—वेन्नातट नगर मे भिक्षा के लिए भ्रमण करते समय एक बौद्धभिक्षु को जैन मुनि मिल गये। बौद्ध भिक्षु ने उपहास करते हुए जैन मुनि से कहा—"मुनिराज ! तुम्हारे अर्हन्त सर्वज्ञ है और तुम उनके पुत्र हो तो बताओ इस नगर मे वायस अर्थात् कौए कितने हैं ?"

जैन मुनि ने भिक्षु की धूर्तता को समझ लिया और उसे सीख देने के इरादे से अपनी औत्पत्तिकी बुद्धि का प्रयोग करते हुए कहा—"भते ! इस नगर मे साठ हजार—कौए है, और यदि कम हैं तो इनमे से कुछ बाहर मेहमान बन कर चले गए हैं और यदि अधिक हैं तो कही से मेहमान के रूप मे आए हुए हैं। अगर आपको इसमे शंका हो तो गिनकर देख लीजिये।"

जैन मुनि की बुद्धिमत्ता के समक्ष भिक्षु लज्जावनत होकर वहाँ से चल दिया।

(८) **उच्चार-मल-परीक्षा**—एक बार एक व्यक्ति अपनी नवविवाहिता, सुन्दर पत्नी के साथ कही जा रहा था। रास्ते में उन्हे एक धूर्त व्यक्ति मिला। कुछ समय साथ चलने एव वार्तालाप करने से नववधू उस धूर्त पर आसक्त हो गई और उसके साथ जाने के लिए भी तैयार हो गई। धूर्त ने कहना शुरू कर दिया कि यह स्त्री मेरी है। इस बात पर दोनो में झगडा शुरू हो गया। अन्त मे विवाद करते हुए वे न्यायालय मे पहुँचे। दोनो स्त्री पर अपना अधिकार बता रहे थे। यह देखकर न्यायाधीश ने पहले तो तीनो को अलग-अलग कर दिया। तत्पश्चात् स्त्री के पति से पूछा—'तुमने कल क्या खाना खाया था ?' स्त्री के पति ने कहा—"मैंने और मेरी पत्नी ने कल तिल के लड्डू खाए थे।" न्यायाधीश ने धूर्त से भी यही प्रश्न किया और उसने कुछ अन्य खाद्य पदार्थों के नाम बताये। न्यायाधीश ने स्त्री और धूर्त को विरेचन देकर जांच कराई तो स्त्री के मल मे तिल दिखाई दिए, किन्तु धूर्त के नही। इस आधार पर न्यायाधीश ने असली पति को उसकी पत्नी सौंप दी तथा धूर्त को उचित दड देकर अपनी औत्पत्तिकी बुद्धि का परिचय दिया।

(९) गज—किसी राजा को एक बुद्धिमान् मत्री की आवश्यकता थी। अत्यन्त मेधावी एव औत्पत्तिकी बुद्धि के धनी व्यक्ति की खोज व परीक्षा करने के लिए राजा ने एक बलवान् हाथी को चौराहे पर बाँध दिया और घोषणा करवादी कि—"जो व्यक्ति इस हाथी को तोल देगा उसे बहुत बडी वृत्ति दी जायगी।"

हाथी का तौल करना साधारण व्यक्ति के वश की बात नही थी। धीरे-धीरे लोग वहा से खिसकने लगे। किन्तु कुछ समय पश्चात् एक व्यक्ति वहाँ आया और उसने सरोवर मे नाव डलवाकर हाथी को ले जाकर उस पर चढा दिया। हाथी के वजन से नाव पानी मे जितनी डूबी, वहाँ पर उस व्यक्ति ने निशान लगा दिया। तत्पश्चात् हाथी को उतारकर नाव मे उतने पत्थर भरे, जितने से नाव पूर्व चिह्नित स्थान तक डूबी। उसके बाद पत्थर निकालकर उन्हे तौल लिया। जितना वजन पत्थरो का हुआ, वही तौल हाथी का है, ऐसा राजा को सूचित कर दिया। राजा ने उस व्यक्ति की विलक्षण बुद्धि की प्रशसा की तथा उसे अपनी मत्री-परिषद् का प्रधान बना दिया।

(१०) घयण (भाँड़)—किसी राजा के दरबार मे एक भाँड रहा करता था। राजा उससे प्रेम किया करता था। वह राजा का मुँहलगा हो गया था। राजा सदैव उसके समक्ष अपनी महारानी की प्रशसा किया करता था और कहता था कि वह बडी ही आज्ञाकारिणी है। किन्तु एक दिन भाँड़ ने कह दिया—"महाराज! रानी स्वार्थवश ऐसा करती हैं। विश्वास न हो तो परीक्षा करके देख लीजिए।"

राजा ने भाँड के कथनानुसार एक दिन रानी से कहा—"देवी! मेरी इच्छा है कि मैं दूसरी शादी करलूँ और उस रानी के गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न हो उसे राज्य का उत्तराधिकारी बनाऊ।" रानी ने उत्तर दिया—"महाराज! दूसरा विवाह आप भले ही करले किन्तु राज्याधिकारी तो परम्परा के अनुसार पहला राजकुमार ही हो सकता है।" राजा भाँड़ की बात को ठीक समझकर हँस पडा। रानी ने हँसने का कारण पूछा तो राजा ने भाँड की बात कह दी। रानी को यह जानकर बडा क्रोध आया। उसने उसी समय राजा के द्वारा भाँड को देश-निकाले की आज्ञा दिलवा दी।

देश-परित्याग की आज्ञा मे रानी का हाथ जानकर भाँड ने बहुत से जूतो की एक गठरी बाँधी और उसे मस्तक पर रखकर रानी के दर्शनार्थ उनके भवन पर जा पहुँचा। रानी ने आश्चर्य पूर्वक पूछा—"सिर पर यह क्या उठा रखा है?" भाँड़ ने उत्तर दिया—'महारानी जी! इस गठरी मे जूतो के जोडे हैं। इनको पहन कर जिन-जिन देशो मे जा सकूंगा, उन-उन देशो तक आपका अपयश फैला दूँगा।"

भाँड़ की यह बात सुनकर रानी घबरा गई और देश-परित्याग के आदेश को वापिस ले लिया गया। भाँड अपनी औत्पत्तिकी बुद्धि के प्रयोग से सानन्द वही रहने लगा।

(११) गोलक (लाख की गोली)—किसी बालक ने खेलते हुए कौतूहलवश लाख की एक गोली नाक मे डाल ली। गोली अन्दर जाकर श्वास की नली मे अटक गई और बच्चे को सास लेने मे रुकावट होने के कारण तकलीफ होने लगी। उसके माता-पिता बहुत घबराये। इतने मे एक सुनार वहाँ से निकला और उसने समग्र वृत्तान्त सुनकर उपाय ढूँढ निकाला। एक बारीक लोह-शलाका मगवाई गई और सुनार ने उसके अग्रभाग को गरम करके बडी सावधानी से बालक की नाक मे

डाला। गर्म होने के कारण लाख की गोली शलाका के अग्रभाग मे चिपक गई और सुनार ने उसे सावधानी से बाहर निकाल लिया। यह उदाहरण स्वर्णकार की औत्पत्तिकी बुद्धि का परिचायक है।

(१२) **खंभ**—एक राजा को अत्यन्त बुद्धिमान् मत्री की आवश्यकता थी। बुद्धिमत्ता की परीक्षा करने के लिए उसने एक विस्तीर्ण और गहरे तालाब मे एक ऊँचा खभा गडवा दिया। तत्पश्चात् घोषणा करवादी कि--"जो व्यक्ति पानी मे उतरे विना किनारे पर रहकर ही इस खभे को रस्सी से बाँध देगा उसे एक लाख रुपया इनाम मे दिया जाएगा।"

यह घोषणा सुनकर लोग टुकुर-टुकुर एक दूसरे की ओर देखने लगे। किसी से यह कार्य नही हो सका। किन्तु आखिर एक व्यक्ति वहाँ आया जिसने इस कार्य को सम्पन्न करने का बीडा उठाया। उस व्यक्ति ने तालाब के किनारे पर एक जगह मजबूत खूँटी गाडी और उससे रस्सो का एक सिरा बाँध दिया। उसके बाद वह रस्सी के दूसरे सिरे को पकडकर तालाब के चारो ओर घूम गया। ऐसा करने पर खभा बीच मे बध गया। राजकर्मचारियो ने यह समाचार राजा को दिया। राजा उस व्यक्ति की औत्पत्तिकी बुद्धि से बहुत प्रसन्न हुआ और एक लाख रुपया देने के साथ ही उसे अपना मत्री भी बना लिया।

(१३) **क्षुल्लक**--बहुत समय पहले की बात है, किसी नगर मे एक सन्यासिनी रहती थी। उसे अपने आचार-विचार पर बडा गर्व था। एक बार वह राजसभा में जा पहुँची और बोली--"महाराज, इस नगर मे कोई ऐसा नही है जो मुझे परास्त कर सके।" सन्यासिनी की दर्प भरी बात सुनकर राजा ने उसी समय नगर मे घोषणा करवादी कि जो कोई इस सन्यासिनी को परास्त करेगा उसे राज्य की ओर से सम्मानित किया जाएगा। घोषणा सुनकर तो कोई नगरवासी नही आया, किन्तु एक क्षुल्लक सभा मे आया और बोला—"मैं इसे परास्त कर सकता हूँ।"

राजा ने आज्ञा दे दी। सन्यासिनी हँस पडी और बोली--"इस मुंडित से मेरा क्या मुकाबला?" क्षुल्लक गभीर था वह सन्यासिनी की धूर्तता को समझ गया और उसके साथ उसी तरह पेश आने का निश्चय करके बोला—"जैसा मैं करूँ अगर वैसा ही तुम नही करोगी तो परास्त मानी जाओगी।" यह कहकर उसने समीप ही बैठे मत्री का हाथ पकडकर उसे सिंहासन से उतार कर नीचे खडा कर दिया और अपना परिधान उतार कर उसे ओढा दिया। तत्पश्चात् सन्यासिनी से भी ऐसा ही करने के लिए कहा। किन्तु सन्यासिनी आवरण रहित नहीं हो सकती थी, अत लज्जित व पराजित होकर वहाँ से चल दी। क्षुल्लक की औत्पत्तिकी बुद्धि का यह उदाहरण है।

(१४) **मार्ग**—एक पुरुष अपनी पत्नी के साथ रथ मे बैठकर किसी अन्य ग्राम को जा रहा था। मार्ग मे एक जगह रथ को रुकवा कर स्त्री लघुशका-निवारण के लिये किसी झाडी की ओट मे चली गई। इधर पुरुष जहाँ था वही पर एक वृक्ष पर किसी व्यन्तरी का निवास था। वह पुरुष के रूप पर मोहित होकर उसकी स्त्री का रूप बना आई और आकर रथ मे बैठ गई। रथ चल दिया किन्तु उसी समय झाडियो के दूसरी ओर गई हुई स्त्री आती दिखाई दी। उसे देखकर रथ मे बैठी हुई व्यन्तरी बोली—"अरे, वह सामने से कोई व्यन्तरी मेरा रूप धारण कर आती हुई दिखाई दे रही है। आप रथ को द्रुत गति से ले चलिये।"

पुरुष ने रथ की गति तेज करदी किन्तु तब तक स्त्री पास आ गई थी और वह रथ के साथ-साथ दौडती हुई रो-रोकर कह रही थी—"रथ रोको स्वामी! आपके पास जो बैठी है वह तो कोई

व्यन्तरी है जिसने मेरा रूप बना लिया है।" यह सुनकर पुरुष भौचक्का रह गया। वह समझ नही पाया कि क्या करूँ, किन्तु रथ की गति उसने धीरे-धीरे कम कर दी।

इसी बीच अगला गाँव निकट आ गया था अत. दोनो स्त्रियो का झगडा ग्राम-पंचायत मे पहुचाया गया। पच ने दोनो स्त्रियों के झगडे को सुनकर अपनी बुद्धि से काम लेते हुए दोनो को उस पुरुष से बहुत दूर खडा कर दिया। कहा—"जो स्त्री पहले इस पुरुष को छू लेगी उसी को इस पुरुष की पत्नी माना जायगा।"

यह सुनकर असली स्त्री तो दौडकर अपने पति को छूने का प्रयत्न करने लगी, किन्तु व्यन्तरी ने वैक्रिय-शक्ति के द्वारा अपने स्थान से ही हाथ लम्बा किया और पुरुष को छू दिया। न्यायकर्ता ने समझ लिया कि यही व्यन्तरी है। व्यन्तरी को भगाकर उस पुरुष को उसकी पत्नी सौंप दी गई। यह न्यायकर्ता की औत्पत्तिकी बुद्धि का उदाहरण है।

(१५) स्त्री—एक समय मूलदेव और पुण्डरीक दो मित्र कही जा रहे थे। उसी मार्ग से एक अन्य पुरुष भी अपनी पत्नी के साथ चला जा रहा था। पुण्डरीक उस स्त्री को देखकर उस पर मुग्ध हो गया तथा अपने मित्र मूलदेव से बोला- "मित्र ! यदि यह स्त्री मुझे मिलेगी तो मैं जीवत रहूँगा, अन्यथा मेरी मृत्यु निश्चित है।"

मूलदेव यह सुनकर परेशान हो गया। मित्र का जीवन बचाने की इच्छा से उसे साथ लेकर एक अन्य पगडडी से चलता हुआ उस युगल के आगे पहुँचा तथा एक झाडी मे पुण्डरीक को बिठाकर स्वय पुरुष के समीप जा पहुंचा और बोला--"भाई ! मेरी स्त्री के इस समीप की झाडी मे ही बालक उत्पन्न हुआ है। अत अपनी पत्नी को तनिक देर के लिए वहाँ भेज दो।" पुरुष ने मूलदेव को वास्तव मे ही सकटग्रस्त समझा और अपनी पत्नी को झाडी की ओर भेज दिया। वह झाडी मे बैठे पुण्डरीक की तरफ गई किन्तु थोड़ी देर मे ही लौट कर वापिस आ गई तथा मूलदेव से हँसते हुए कहने लगी—"आपको बधाई है। बड़ा सुन्दर बच्चा पैदा हुआ है।" यह सुनकर मूलदेव बहुत शर्मिन्दा हुआ और वहाँ से चल दिया। यह उदाहरण मूलदेव और उस स्त्री की औत्पत्तिकी बुद्धि का प्रमाण है।

(१६) पति—किसी गाँव मे दो भाई रहते थे पर उन दोनो की पत्नी एक ही थी। स्त्री बडी चतुर थी अत कभी यह जाहिर नही होने देती थी कि अपने दोनो पतियो मे से किसी एक पर उसका अनुराग अधिक है। इस कारण लोग उसकी बडी प्रशंसा करते थे। धीरे-धीरे यह बात राजा के कानो तक पहुँची और वह बडा विस्मित हुआ। किन्तु मन्त्री ने कहा—"महाराज ! ऐसा कदापि नही हो सकता। उस स्त्री का अवश्य ही एक पर प्रेम अधिक होगा।" राजा ने पूछा—"यह कैसे जाना जाए ?" मन्त्री ने उत्तर दिया—"देव ! मैं शीघ्र ही यह जानने का उपाय करूँगा।

एक दिन मन्त्री ने उस स्त्री के पास सन्देश लिखकर भेजा कि वह अपने दोनो पतियों को पूर्व और पश्चिम दिशा मे अमुक-अमुक ग्रामो मे भेजे। ऐसा सन्देश प्राप्त कर स्त्री ने अपने उस पति को, जिस पर कम राग था, पूर्ववर्ती ग्राम मे भेज दिया और जिस पर अधिक स्नेह था उसे पश्चिम के गाँव मे भेजा। पूर्व की ओर जाने वाले पति को जाते और आते दोनो बार सूर्य का ताप सामने रहा। पश्चिम की ओर जाने वाले के लिए सूर्य दोनो समय पीठ की तरफ था। इससे सिद्ध हुआ कि स्त्री का पश्चिम की ओर जाने वाले पति पर अधिक अनुराग था। किन्तु राजा ने इस बात को स्वीकार नही

किया, क्योकि दोनों को दो दिशाओ मे जाना आवश्यक था, अत कोई विशेषता ज्ञात नही होती थी। इस पर मंत्री ने दूसरे उपाय से परीक्षा लेना तय किया।

अगले दिन ही मंत्री ने पुन एक सदेश दो पतियो वाली उस स्त्री के लिये भेजा कि वह अपने पतियो को एक ही समय दो अलग-अलग गाँवो मे भेजे। स्त्री ने फिर उसी प्रकार दोनो को दो गावों के भेज दिया किन्तु कुछ समय बाद मत्री के द्वारा भेजे हुए दो व्यक्ति एक साथ ही उस स्त्री के पास आए और उन्होने उसके दोनो पतियो को अस्वस्थता के समाचार दिये। साथ ही कहा कि जाकर उनकी सार-सम्हाल करो।

पतियो के समाचार पाने पर जिसके प्रति उसका स्नेह कम था, उसके लिए स्त्री बोली—"यह तो हमेशा ऐसे ही रहते हैं।" और दूसरे के लिए बोली—"उन्हे बडा कष्ट हो रहा होगा। मैं पहले उनकी ओर ही जाती हूँ।" ऐसा कहकर वह पहले पश्चिम की ओर रवाना हो गई। इस प्रकार एक पति के लिए उसका अधिक प्रेम मन्त्री की औत्पत्तिकी बुद्धि से साबित हो गया और राजा बहुत सन्तुष्ट हुआ।

(१७) **पुत्र**—किसी नगर मे एक व्यापारी रहता था। उसकी दो पत्नियाँ थी। एक के पुत्र उत्पन्न हुआ पर दूसरी बन्ध्या ही रही। किन्तु वह भी बच्चे को बहुत प्यार करती थी तथा उसकी देख-भाल रखती थी। इस कारण बच्चा यह नही समझ पाता था कि मेरी असली माता कौन सी है? एक बार व्यापारी अपनी पत्नियो के और पुत्र के साथ देशान्तर मे गया। दुर्भाग्य से मार्ग मे व्यापारी की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के पश्चात् दोनो स्त्रियो मे पुत्र के लिए विवाद हो गया। एक कहती—"बच्चा मेरा है, अत घर-बार की मालकिन मैं हूँ।" दूसरी कहती—"नही, पुत्र मेरा है, इसलिए पति की सम्पूर्ण सम्पत्ति की स्वामिनी मैं हूँ।" विवाद बहुत बढा और न्यायालय मे पहुँचा। न्यायकर्ता बहुत चक्कर मे पड गया कि बच्चे की असली माता की पहचान कैसे करे! किन्तु तत्काल ही उसकी औत्पत्तिकी बुद्धि ने साथ दिया और उसने कर्मचारियो को आज्ञा दी--

"पहले इन दोनो मे व्यापारी की सम्पत्ति बाँट दो और उसके बाद इस लडके को आरी से काटकर आधा-आधा दोनो को दे दो।" यह आदेश पाकर एक स्त्री तो मौन रही, किन्तु दूसरी बाण-विद्ध हरिणी की तरह छटपटाती और बिलखती हुई बोल उठी—"नही! नही!! यह पुत्र मेरा नही है, इसका ही है। इसे ही सौप दिया जाय। मुझे धन-सम्पत्ति भी नही चाहिये। वह भी इसे ही दे दे। मैं तो दरिद्र अवस्था मे रहकर दूर से ही बेटे को देखकर सन्तुष्ट रह लूँगी।"

न्यायाधीश ने उस स्त्री के दुख को देखकर जान लिया कि यही बच्चे की असली माता है। इसलिये यह धन-सम्पत्ति आदि किसी भी कीमत पर अपने पुत्र की मृत्यु सहन नही कर सकती। परिणाम-स्वरूप बच्चा और साथ व्यापारी की सब सम्पत्ति भी असली माता को सौप दी गई। बन्ध्या स्त्री को उसकी धूर्तता के कारण धक्के मारकर भगा दिया गया। यह न्यायाधीश की औत्पत्तिकी बुद्धि है।

(१८) **मधु-सित्थ (मधु छत्र)**—एक जुलाहे की पत्नी का आचरण ठीक नही था। एक बार जुलाहा किसी अन्य ग्राम को गया तो उसने किसी दुराचारी पुरुष के साथ गलत सम्बन्ध बना लिया। वहाँ उसने जाल-वृक्षो के मध्य एक मधु छत्ता देखा किन्तु उसकी ओर विशेष ध्यान दिये बिना वह

घर लौट आई। ग्राम से लौटकर एक बार सयोगवश जुलाहा मधु खरीदने के लिए बाजार जाने को तैयार हुआ। यह देखकर स्त्री ने उसे रोका और कहा—"तुम मधु खरीदते क्यों हो? मैं मधु का एक विशाल छत्ता ही तुम्हें बताए देती हू।" ऐसा कहकर वह जुलाहे को जाल वृक्षो के पास ले गई पर वहाँ छत्ता दिखाई न देने पर उस स्थान पर पहुची जहाँ घने वृक्ष थे और पिछले दिन उसने अनाचार का सेवन किया था। वही पर छत्ता था जो उसने पति को दिखा दिया।

जुलाहे ने छत्ता देखा पर साथ ही उस स्थान का निरीक्षण भी कर लिया। अपनी औत्पत्तिकी बुद्धि से वह समझ गया कि इस स्थान पर उसकी स्त्री निरर्थक नही आ सकती। निश्चय ही यहाँ आकर यह दुराचार-सेवन करती है।

(१९) **मुद्रिका**—किसी नगर मे एक ब्राह्मण रहता था। नगर मे प्रसिद्ध था कि वह बडा सत्यवादी है और कोई अपनी किसी भी प्रकार की धरोहर उसके पास रख जाता है तो, चाहे कितने भी समय के बाद माँगे, वह ब्राह्मण पुरोहित तत्काल लौटा देता है। यह सुनकर एक द्रमक—गरीब व्यक्ति ने अपनी हजार मोहरो की थैली उस पुरोहित के पास धरोहर के रूप मे रख दी और स्वय देशान्तर मे चला गया। बहुत समय पश्चात् जब वह लौटा तो पुरोहित से अपनी थैली माँगने आया। किन्तु ब्राह्मण ने कहा—

"तू कौन है? कहाँ से आया है? कैसी तेरी धरोहर!"

बेचारा गरीब व्यक्ति ऐसा टका-सा जवाब पाकर पागल-सा हो गया और "मेरी हजार मोहरो की थैली" इन शब्दो का बार-बार उच्चारण करता हुआ नगर भर मे घूमने लगा।

एक दिन उस व्यक्ति ने राज्य के मत्री को कही जाते हुए देखा तो उनसे ही कह बैठा—"पुरोहित जी! मेरी हजार मोहरो की थैली, जो आपके पास धरोहर मे रखी है, लौटा दीजिए।" मत्री उस दरिद्र व्यक्ति की बात सुनकर चकराया पर समझ गया कि 'दाल मे कुछ काला है।' इस व्यक्ति को किसी ने धोखा दिया है। वह द्रवित हो गया और राजा के पास पहुचा। राजा ने जब उस दीन व्यक्ति की करुण-कथा सुनी तो उसे और पुरोहित दोनो को बुलवा भेजा। दोनो राजसभा मे उपस्थित हुए तो राजा ने पुरोहित से कहा—"ब्राह्मण देवता! तुम इस व्यक्ति की धरोहर लौटाते क्यो नही हो?" पुरोहित ने राजा से भी यही कहा—"महाराज! मैंने इसे कभी नही देखा और न ही इसकी कोई धरोहर मेरे पास है।" यह सुनकर राजा चुप रह गया और पुरोहित भी उठकर घर को रवाना हो गया। इसके बाद राजा ने द्रमक को बहुत दिलासा देकर शान्त किया और पूछा—"क्या सचमुच ही पुरोहित के यहाँ तुमने मोहरो की थैली धरोहर के रूप मे रखी थी?" द्रमक ने जब राजा से आश्वासन पाया तो उसकी बुद्धि ठिकाने आई और उसने अपनी सारी कहानी तथा धरोहर रखने का दिन, समय, स्थान आदि सब बता दिया। राजा बुद्धिमान् था अत: उसने धूर्त पुरोहित को धूर्तता से ही पराजित करने का विचार किया।

एक दिन उसने पुरोहित को बुलाया तथा उसके साथ शतरज खेलने मे मग्न हो गया। खेलते-खेलते ही दोनो ने आपस मे अगूठियाँ बदल ली। राजा ने मौका देखकर पुरोहित को पता न लगे, इस प्रकार एक व्यक्ति को पुरोहित की अगूठी देकर उसके घर भेज दिया और ब्राह्मणी को कहलाया कि "यह अगूठी पुरोहित जी ने निशानी के लिए भेजी है। कहलवाया है कि अमुक दिन,

अमुक समय पर द्रमुक के पास से ली हुई एक हजार सुवर्ण मुद्राओ से भरी हुई थैली, जो अमुक स्थान पर रखी है, शीघ्र ही इस व्यक्ति के साथ भिजवा देना।"

ब्राह्मणी ने पुरोहित की नामाकित अंगूठी लाने वाले को थैली दे दी। सेवक ने राजा को लाकर सौप दी। राजा ने दूसरी भी बहुत-सी थैलियाँ मगवाई। उनके बीच मे द्रमक की थैली रख दी और उसे अपने पास बुलवाया। द्रमक ने आते ही अपनी थैली पहचान ली और कहा—"महाराज! मेरी थैली यह है।" राजा ने थैली उसके मालिक को दे दी तथा पुरोहित की जिह्वा छेद कर वहाँ से निकाल दिया। यह उदाहरण राजा की औत्पत्तिकी बुद्धि का परिचायक है।

(२०) अङ्क—एक व्यक्ति ने किसी साहूकार के पास एक हजार रुपयो से भरी हुई नोली धरोहर के रूप मे रख दी। वह देशान्तर मे भ्रमण करने चला गया। उसके जाने के बाद साहूकार ने नोली के नीचे के भाग को बडी सफाई से काटकर उसमे खोटे रुपये भर दिये और नोली को सी दिया। कुछ समय पश्चात् नोली का मालिक लौटा और साहूकार से नोली लेकर अपने घर चला गया। घर जाकर जब उसने नोली मे से रुपये निकाले तो खोटे रुपये निकले। यह देखकर वह बहुत घबराया और न्यायालय मे पहुँचकर न्यायाधीश को अपना दुःख सुनाया। न्यायाधीश ने उस व्यक्ति से पूछा--"तेरी नोली मे कितने रुपये थे?" "एक हजार" उस व्यक्ति ने उत्तर दिया। तब न्यायाधीश ने खोटे रुपये निकालकर नोली मे असली रुपये भरे, केवल उतने शेष रहे जितनी जगह काटकर सी दी गई थी। न्यायकर्ता ने इससे अनुमान लगाया कि अवश्य ही इसमे खोटे रुपये डाले गये है। इस पर साहूकार से हजार रुपये उस व्यक्ति को दिलवाए गये तथा साहूकार को न्यायकर्त्ता ने यथोचित दड देकर अपनी औत्पत्तिकी बुद्धि का परिचय दिया।

(२१) नाणक—एक व्यक्ति ने किसी सेठ के यहाँ एक हजार सुवर्ण-मोहरो से भरी हुई थैली मुद्रित करके धरोहर रूप में रख दी और देशान्तर मे चला गया। कुछ समय बीत जाने पर सेठ ने थैली मे से शुद्ध सोने की मोहरे निकालकर नकली मोहरे भर दी तथा पुन थैली सीकर मुद्रित कर दी। कई वर्ष पश्चात् जब मोहरो का स्वामी आया तो सेठ ने थैली उसे थमा दी। व्यक्ति ने अपनी थैली पहचानी और अपने नाम से मुद्रित भी देखकर घर लौट आया। किन्तु घर आकर जब मोहरे निकाली तो पाया कि थैली मे उसकी असली मोहरे नही अपितु नकली मोहरे भरी थी। वह घबराकर सेठ के पास आया। बोला—"सेठजी! मेरी मोहरे असली थी किन्तु इसमे से तो नकली निकली हैं।" सेठ ने उत्तर दिया—"मैं असली नकली कुछ नही जानता। मैंने तो तुम्हारी थैली जैसी की तैसी वापिस कर दी है।" पर वह व्यक्ति हजार मोहरो की हानि कैसे सह सकता था! वह न्यायालय जा पहुँचा।

न्यायाधीश ने दोनो के बयान लिये तथा सारी घटना समझी। उसने थैली के मालिक से पूछा—"तुमने किस वर्ष सेठ के पास थैली रखी थी?" व्यक्ति ने वर्ष और दिन बता दिया। तब न्यायाधीश ने मोहरो की परीक्षा की और पाया कि भरी हुई मोहरे नई बनी थी। वह समझ गया कि मोहरे बदली गई है। उसने सेठ से असली मोहरें मगवाकर उस व्यक्ति को दिलवाई तथा दण्ड भी दिया। इस प्रकार न्यायाधीश ने अपनी औत्पत्तिकी बुद्धि से सही न्याय किया।

(२२) भिक्षु—किसी व्यक्ति ने एक सन्यासी के पास एक हजार सोने की मोहरे धरोहर के रूप मे रखी। वह विदेश मे चला गया। कुछ समय बाद लौटा और आकर भिक्षु से अपनी धरोहर

माँगी। किन्तु भिक्षु टाल-मटोल करने लगा और आज-कल करके समय निकालने लगा। व्यक्ति बडी चिन्ता मे था कि किस प्रकार भिक्षु से अपनी अमानत निकलवाऊँ।

सयोगवश एक दिन उसे कुछ जुआरी मिले। बातचीत के दौरान उसने अपनी चिन्ता उन्हे कह सुनाई। जुआरियो ने उसे आश्वासन देते हुए उसकी अमानत भिक्षु से निकलवा देने का वायदा किया और कुछ सकेत करके चले गये। अगले दिन जुआरी गेरुए रग के कपडे पहन, सन्यासी का वेश बनाकर उस भिक्षु के पास पहुँचे और बोले—"हमारे पास ये सोने की कुछ खूटियाँ हैं, आप इन्हे अपने पास रख ले। हमे विदेश भ्रमण के लिए जाना है। आप बडे सत्यवादी महात्मा हैं, अत आपके पास ही धरोहर रखने आए हैं।"

साधु-वेशधारी वे जुआरी भिक्षु से यह बात कह ही रहे थे कि उसी समय वह व्यक्ति भी पूर्व सकेतानुसार वहाँ आ गया बोला—"महात्मा जी! वह हजार मोहरो वाली थैली मुझे वापिस दे दीजिए।"

भिक्षु सन्यासियो के सामने अपयश के कारण तथा सोने की खूटियो के लोभ के कारण पहले के समान इन्कार नही कर सका और अन्दर जाकर हजार मोहरो वाली थैली ले आया। थैली उसके स्वामी को मिल गई। वे धूर्त सन्यासी किसी विशेष कार्य याद आ जाने का बहाना कर चलते बने। जुआरियो की औत्पत्तिकी बुद्धि के कारण उस व्यक्ति को अपनी अमानत वापिस मिल गई। धूर्त भिक्षु हाथ मलता रह गया।

(२३) **चेटकनिधान** – दो व्यक्ति आपस मे घनिष्ठ मित्र थे। एक बार वे दोनो शहर से बाहर जगल मे गये हुए थे कि अचानक उन्हे वहाँ एक गडा हुआ निधान उपलब्ध हो गया। दोनो निधान पाकर बहुत प्रसन्न हुए। उनमे से एक ने कहा- "मित्र! हम बडे भाग्यवान् हैं जो अकस्मात् ही हमे निधान मिल गया। पर इसे हम आज नही, कल यहाँ से ले चलेगे। कल का दिन बडा शुभ है।" दूसरे मित्र ने सहज ही उसकी बात मान ली और दोनो अपने-अपने घर आ गए। किन्तु जिसने धन अगले दिन लाने का सुझाव दिया था वह बडा मायावी और धूर्त था। वह रात को ही पुन जगल मे गया और सारा धन वहाँ से निकालकर उस स्थान पर कोयले भर कर चला आया।

अगले दिन दोनो पूर्व निश्चयानुसार निधान की जगह पहुँचे पर धन होता तो मिलता। वहाँ तो कोयले ही कोयले थे। यह देखकर कपटी मित्र सिर और छाती पीट-पीट कर रोने और कहने लगा—

"हाय, हम कितने भाग्यहीन हैं कि दैव ने धन देकर भी हमसे छीन लिया और उसे कोयला कर दिया।" इसी तरह बार-बार कहता हुआ वह चोर नजरो से मित्र की ओर देखता जाता था कि उस पर क्या प्रतिक्रिया हो रही है! दूसरा मित्र सरल अवश्य था किन्तु इतना मूर्ख नही था। अपने मित्र के बनावटी विलाप को वह समझ गया और उसे विश्वास हो गया कि इस धूर्त ने ही धन निकालकर यहाँ कोयले भर दिये है। फिर भी उसने अपने कपटी मित्र को सान्त्वना देते हुए कहा— "मित्र! रोओ मत, अब दुख करने से निधान वापिस थोडे ही आएगा!" तत्पश्चात् दोनो अपने-अपने घर लौट आए, किन्तु सरल स्वभावी मित्र ने भी अपने मायावी मित्र को सबक सिखाने का निश्चय कर लिया। उसने उसकी एक प्रतिमा बनवाई जो बिल्कुल उसी की शक्ल से मिलती थी। धूर्त मित्र की प्रतिमा को उसने अपने घर पर रख लिया और दो बदर पाले। वह बदरो के खाने

योग्य पदार्थ उसी प्रतिमा के मस्तक पर, कन्धो पर, हाथो पर, जघा पर तथा परो पर रख देता था। बन्दर उन स्थानो पर से भोज्य-पदार्थ खा जाते तथा प्रतिमा पर उछल-कूद करते रहते। इस प्रकार वे प्रतिमा की शक्ल को पहचान गये और उससे खूब खेलने लगे।

कुछ दिन बीतने पर एक पर्व के दिन उस भले मित्र ने अपने मायावी मित्र के यहाँ जाकर उससे कहा—"आज त्यौहार का दिन है। अपने दोनो पुत्रो को मेरे साथ भोजन करने के लिए भेज दो।" मित्र ने प्रसन्न होकर लडको को खाने के लिए भेज दिया। भले मित्र ने समय पर बच्चो को बहुत प्यार से खिलाया और फिर एक अन्य स्थान पर सुखपूर्वक छिपा दिया।

सायंकाल के समय कपटी मित्र अपने लडको को लेने के लिये आया। उसे दूर से आता देख कर ही शीघ्रतापूर्वक पहले मित्र ने कपटी की उस प्रतिमा को वहाँ से हटा दिया और उसी स्थान पर एक आसन बिछा दिया। कपटी मित्र सहज भाव से उसी आसन पर बैठ गया। उसके मित्र ने दोनो बन्दरो को एक कमरे से बाहर निकाल दिया। दोनो उछलते-कूदते हुए सीधे उस मायावी मित्र के पास आए और अभ्यासवश उसके सिर पर कधो पर व गोद मे बैठकर किलकारियाँ भरते हुए अपनी भाषा मे खाना माँगने लगे। क्योकि उसी स्थान पर पहले उसकी प्रतिमा थी जिससे दोनो परिचित थे। यह देखकर मायावी ने पूछा—"मित्र, यह क्या तमाशा है? ये दोनो बन्दर तो मेरे साथ इस प्रकार व्यवहार कर रहे हैं जैसे मुझ से परिचित हो।"

यह सुनकर उस व्यक्ति ने गर्दन झुकाकर उदास भाव से कहा—"मित्र, ये दोनो तुम्हारे ही पुत्र है। दुर्भाग्य से बन्दर बन गये, इसी कारण तुम्हे प्यार कर रहे है।" मायावी मित्र अपने मित्र की बात सुनकर उछल पडा और उसे पकडकर झझोडते हुए बोला—"क्या कह रहे हो? मेरे पुत्र तो तुम्हारे घर भोजन करने आये थे! बन्दर कैसे हो गये? क्या मनुष्य भी कभी बन्दर बन सकते हैं?"

पहले वाले मित्र ने शान्तिपूर्वक उत्तर दिया—"मित्र! लगता है आपके अशुभ कर्मों के कारण ऐसा हुआ है, क्या सुवर्ण कभी कोयला बना करता है, पर हमारे भाग्यवश वैसा हुआ।" मित्र की यह बात सुनकर कपटी मित्र के कान खड़े हो गये उसे लगा कि इसको मेरी धोखेबाजी का पता चल गया है किन्तु उसने सोचा—अगर मैं शोर मचाऊँगा तो राजा को पता लगते ही मुझे पकड लिया जायगा और धन तो छिनेगा ही, मेरे पुत्र भी पुन मनुष्य न बन सकेंगे। यह विचार कर उस मायावी ने यथातथ्य सारी घटना मित्र को कह सुनाई। जगल से लाए हुए धन का आधा भाग भी उसे दे दिया। सरल स्वभाव मित्र ने भी उसके दोनो पुत्रो को लाकर उसे सौप दिया। यह उदाहरण सरल स्वभाव मित्र की औत्पत्तिकी बुद्धि का सुन्दर उदाहरण है।

(२४) **शिक्षा : धनुर्वेद**—एक व्यक्ति धनुर्विद्या मे बहुत निपुण था। किसी समय वह भ्रमण करता हुआ एक नगर मे पहुचा। वहाँ जब उसकी कलानिपुणता का लोगो को पता तो बहुत से अमीरो के लडके उससे धनुर्विद्या सीखने लगे। विद्या सीखने पर उन धनिक-पुत्रो ने अपने कलाचार्य को बहुत धन दक्षिणा के रूप मे भेट किया। जब लडको के अभिभावको को यह ज्ञात हुआ तो उन्हे बहुत क्रोध आया और सबने मिलकर तय किया कि जब वह व्यक्ति धन लेकर अपने घर लौटेगा तो रास्ते मे इसे मार कर सब छीन लेंगे। इस बात का किसी तरह धनुर्विद्या के शिक्षक को पता चल गया।

यह जान कर उसने एक योजना बनाई। उसने अपने गांव मे रहने वाले बन्धुओं को समाचार भेजा—"मैं अमुक दिन रात्रि के समय कुछ गोबर के पिण्ड नदी मे प्रवाहित करूँगा। उन्हें तुम लोग निकाल लेना।" इसके बाद शिक्षक ने अपने द्रव्य को गोबर में डालकर कुछ पिण्ड बना लिये और उन्हे अच्छी तरह सुखा लिया। तत्पश्चात् अपने शिष्यो को बुलाकर उन्हे कहा—"हमारे कुल मे यह परम्परा है कि जब शिक्षा समाप्त हो जाए तो किसी पर्व अथवा शुभ तिथि मे स्नान करके मत्रो का उच्चारण करते हुए गोबर के सूखे पिण्ड नदी मे प्रवाहित किये जाते है। अत अमुक रात्रि को यह कार्यक्रम होगा।"

निश्चित की गई रात्रि मे शिक्षक ने उनके साथ जाकर मत्रोच्चारण करते हुए गोबर के सब पिण्ड नदी मे प्रवाहित कर दिये और जब वे निश्चित स्थान पर पहुचे तो कलाचार्य के बन्धुबान्धव उन्हे सुरक्षित निकालकर अपने घर ले गये।

कुछ समय बीतने पर एक दिन वह शिक्षक अपने शिष्यो और उनके सगे-सम्बन्धियो के समक्ष मात्र शरीर पर वस्त्र पहनकर विदाई लेकर अपने ग्राम की ओर चल दिया। यह देखकर लडको के अभिभावको ने समझ लिया कि इसके पास कुछ नही है। अत उसे लूटने और मारने का विचार छोड दिया। शिक्षक अपनी औत्पत्तिकी बुद्धि के फल-स्वरूप सकुशल अपने घर पहुच गया।

(२५) **अर्थशास्त्र-नीतिशास्त्र**—एक व्यक्ति की दो पत्नियाँ थी। दोनो मे से एक बाँझ थी तथा दूसरी के एक पुत्र था। दोनो माताएँ पुत्र का पालन-पोषण समान रूप से करती थी। अत: लडके को यह मालूम ही नही था कि उसकी सगी माता कौन है? एक बार वह वणिक अपनी दोनो पत्नियो और पुत्र को साथ लेकर भगवान् सुमतिनाथ के नगर मे गया किन्तु वहाँ पहुचने के कुछ समय पश्चात् ही उसका देहान्त हो गया। उसके मरणोपरान्त उसकी दोनो पत्नियो मे सम्पूर्ण धन-वैभव तथा पुत्र के लिये विवाद होने लगा, क्योकि पुत्र पर जिस स्त्री का अधिकार होता वही गृह-स्वामिनी बन सकती थी। कुछ भी निर्णय न होने से विवाद बढता चला गया और राज-दरबार तक पहुचा। वहाँ भी फैसला कुछ नही हो पाया। इसी बीच इस विवाद को महारानी सुमगला ने भी सुना। वह गर्भवती थी। उसने दोनो वणिक-पत्नियो को अपने समक्ष उपस्थित होने का आदेश दिया। उनके आने पर कहा—"कुछ समय पश्चात् मेरे उदर से पुत्र जन्म लेगा और वह अमुक अशोक वृक्ष के नीचे बैठकर तुम्हारा विवाद निपटाएगा। तब तक तुम दोनो यही आनन्दपूर्वक रहो।"

भगवान् सुमतिनाथ की माता, सुमगला देवी की यह बात सुनकर वणिक की वन्ध्या पत्नी ने सोचा—"अभी तो महारानी के पुत्र का जन्म भी नही हुआ। पुत्र जन्म लेकर बडा होगा तब तक तो यहाँ आनन्द से रह लिया जाय। फिर जो होगा देखा जायगा।" यह विचारकर उसने तुरन्त ही सुमंगला देवी की बात को स्वीकार कर लिया। यह देखकर महारानी सुमंगला ने जान लिया कि बच्चे की माता यह नही है। उसे तिरस्कृत कर वहा से निकाल दिया तथा बच्चा असली माता को सौपकर उसे गृह-स्वामिनी बना दिया।

यह उदाहरण माता सुमगला देवी की अर्थशास्त्रविषयक औत्पत्तिकी बुद्धि का है।

(२६) **इच्छायमहं**—किसी नगर में एक सेठ रहता था। उसकी मृत्यु हो गई। सेठानी बडी परेशानी का अनुभव करने लगी, क्योकि सेठ के द्वारा ब्याज आदि पर दिया हुआ रुपया वह वसूल नही कर पाती थी। तब उसने सेठ के एक मित्र को बुलाकर उससे कहा—"महानुभाव! कृपया आप

मेरे पति द्वारा ब्याज आदि पर दिये हुये रुपये वसूल कर मुझे दिलवा दें।" सेठ का मित्र बडा स्वार्थी था। वह बोला—"अगर तुम मुझे उस धन मे से हिस्सा दो तो मैं रुपया वसूल कर लाऊँगा।" सेठानी ने इस बात को स्वीकार करते हुये उत्तर दिया—'जो आप चाहते हो वह मुझे दे देना।" तत्पश्चात् सेठ के मित्र ने सेठ का सारा रुपया वसूल कर लिया किन्तु वह सेठानी को कम देकर स्वय अधिक लेना चाहता था। इस बात पर दोनो के बीच विवाद हो गया और वे न्यायालय मे पहुचे।

न्यायाधीश ने मित्र को आज्ञा देकर सम्पूर्ण धन वहाँ मँगवाया और उसके दो ढेर किये। एक ढेर बडा था और दूसरा छोटा। इसके बाद न्यायाधीश ने सेठ के मित्र से पूछा—"तुम इन दोनो भागो मे से कौन सा लेना चाहते हो?" मित्र तुरन्त बोला—"मै बडा भाग लेना चाहता हू।" तब न्यायाधीश ने सेठानी के शब्दो का उल्लेख करते हुए कहा—"तुमसे सेठानी ने पूर्व मे ही कहा था—'जो आप चाहते हो वह मुझे दे देना' इसलिये अब इन्हे यही बडा भाग दिया जाएगा, क्योकि तुम इसे चाहते हो।" सेठ का मित्र सिर पीटकर रह गया और चुपचाप धन का छोटा भाग लेकर चला गया। न्यायाधीश की औत्पत्तिकी बुद्धि का यह उदाहरण है।

(२६) **शतसहस्र**—एक परिव्राजक बडा कुशाग्रबुद्धि था। वह जिस बात को एक बार सुन लेता उसे अक्षरश याद कर लेता था। उसके पास चाँदी का एक बहुत बडा पात्र था जिसे वह 'खोरक' कहता था।

अपनी प्रज्ञा के अभिमान मे चूर होकर उसने एक बार बहुत से व्यक्तियो के समक्ष प्रतिज्ञा की—"जो व्यक्ति मुझे पूर्व मे कभी न सुनी हुई यानी 'अश्रुतपूर्व' बात सुनायेगा उसे मैं चाँदी का यह बृहत् पात्र दे दूगा।" इस प्रतिज्ञा को सुनकर बहुत से व्यक्ति आये और उन्होने अनेको बाते परिव्राजक को सुनाईं, किन्तु परिव्राजक अपनी विशिष्ट स्मरणशक्ति के कारण उन बातो को उसी समय अक्षरश सुना देता था और कहता—"यह तो मैंने पहले भी सुनी है।"

परिव्राजक की चालाकी को एक सिद्धपुत्र ने समझा और उसने निश्चय किया कि मै परिव्राजक को सबक सिखाऊँगा। परिव्राजक की प्रतिज्ञा की सर्वत्र प्रसिद्धि हो गई थी। वहाँ के राजा ने अपने दरबार मे परिव्राजक और उस सिद्धपुत्र को बुलाया जिसने परिव्राजक को परास्त करने की चुनौती दी थी।

राजसभा मे सबके समक्ष सिद्धपुत्र ने कहा -

> **"तुज्झ पिया मह पिउणो, धारेइ अणूणग सयसहस्स।**
> **जइ सुयपुव्व दिज्जउ, अह न सुयं खोरयं देसु॥"**

अर्थात् "तुम्हारे पिता को मेरे पिता के एक लाख रुपये देने हैं। यदि यह बात तुमने पहले सुनी है तो अपने पिता का एक लाख रुपये का कर्ज चुका दो, और यदि नही सुनी है तो अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार चाँदी का पात्र (खोरक) मुझे सौप दो।" बेचारा परिव्राजक अपने फैलाये हुये जाल मे खुद ही फस गया। उसे अपनी पराजय स्वीकार करनी पडी और खोरक सिद्धपुत्र को मिल गया। यह सिद्धपुत्र की औत्पत्तिकी बुद्धि का अनुपम उदाहरण है।

(२) वैनयिकी बुद्धि का लक्षण

५०—भरनित्थरण-समत्था, तिवग्ग-सुत्तत्थ-गहिय-पेयाला ।
उभओ लोग फलवई, विणयसमुत्था हवई बुद्धी ।।

विनय से पैदा हुई बुद्धि कार्य भार के निरस्तरण अर्थात् वहन करने मे समर्थ होती है। त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ, काम का प्रतिपादन करने वाले सूत्र तथा अर्थ का प्रमाण-सार ग्रहण करनेवाली है तथा यह विनय से उत्पन्न बुद्धि इस लोक और परलोक मे फल देने वाली होती है।

वैनयिकी बुद्धि के उदाहरण

निमित्ते-अत्थसत्थे अ, लेहे गणिए अ कूव अस्से य ।
गद्दभ-लक्खण गंठी, अगए रहिए य गणिया य ।।
सीआ साडी दीहं च तणं, अवसव्वयं च कुंचस्स ।
निव्वोदए य गोणे, घोडग पडणं च रुक्खाओ ।।

५० - (१) निमित्त (२) अर्थशास्त्र (३) लेख (४) गणित (५) कूप (६) अश्व (७) गर्दभ (८) लक्षण (९) ग्रंथि (१०) अगड (११) रथिक (१२) गणिका (१३) शीताशाटी (गीली धोती) (१४) नीव्रोदक (१५) बैलो की चोरी, अश्व का मरण, वृक्ष से गिरना। ये वैनयिकी बुद्धि के उदाहरण है।

(१) **निमित्त**—किसी नगर मे एक सिद्ध पुरुष रहता था। उसके दो शिष्य थे। गुरु का दोनो पर समान स्नेह था। वह समान भाव से दोनो को निमित्त शास्त्र का अध्ययन कराता था। दोनो शिष्यो मे से एक बडा विनयवान् था। अत गुरु जो आज्ञा देते उसका यथावत् पालन करता तथा जो भी सिखाते उस पर निरन्तर चिन्तन-मनन करता रहता था। चिन्तन करने पर जिस विषय मे उसे किसी प्रकार की शका होती उसे समझने के लिये अपने गुरु के समक्ष उपस्थित होता तथा विनयपूर्वक उनकी चरण वदना करके शका का समाधान कर लिया करता था। किन्तु दूसरा शिष्य अविनीत था और बार-बार गुरु से कुछ पूछने मे भी अपना अपमान समझता था। प्रमाद के कारण पठित विषय पर विमर्श भी नही करता था। अत उसका अध्ययन अपूर्ण एव दोषपूर्ण रह गया जबकि पहला विनीत शिष्य सर्वगुणसम्पन्न एव निमित्तज्ञान मे पारगत हो गया।

एक बार गुरु की आज्ञा से दोनो शिष्य किसी गाँव को जा रहे थे। मार्ग मे उन्हे बडे-बडे पैरो के पदचिह्न दिखाई दिये। अविनीत शिष्य ने अपने गुरुभाई से कहा—"लगता है कि ये पद-चिह्न किसी हाथी के है।" उत्तर देते हुए दूसरा शिष्य बोला—"नही मित्र ! ये पैरो के चिह्न हाथी के नही, हथिनी के हैं। वह हथिनी वाम नेत्र से कानी है। इतना ही नही, हथिनी पर कोई रानी सवार है और वह सधवा तथा गर्भवती भी है। रानी आजकल मे ही पुत्र का प्रसव करेगी।"

केवल पद-चिह्नो के आधार पर इतनी बाते सुनकर अविचारी शिष्य की आँखे कपाल पर चढ गईं। उसने कहा—"यह सब बाते तुम किस आधार पर कह रहे हो ?" विनीत शिष्य ने उत्तर दिया—"भाई ! कुछ आगे चलने पर तुम्हे सब कुछ स्पष्ट हो जाएगा।" यह सुनकर प्रश्नकर्ता शिष्य चुप हो गया और दोनो चलते-चलते कुछ समय पश्चात् अपने गन्तव्य ग्राम तक पहुच गये।

उन्होने देखा कि ग्राम के बाहर एक विशाल सरोवर के तीर पर किसी अतिसम्पन्न व्यक्ति का पड़ाव पडा हुआ है। तम्बुओ के एक ओर बाँये नेत्र से कानी एक हथिनी भी बँधी हुई है। ठीक उसी समय दोनो शिष्यो ने यह भी देखा कि एक दासी जैसी लगने वाली स्त्री एक सुन्दर तम्बू से निकली और वही खडे हुए एक प्रभावशाली व्यक्ति से बोली—"मन्त्रिवर! महाराज को जाकर बधाई दीजिए—राजकुमार का जन्म हुआ है।"

यह सब देख सुनकर जिस शिष्य ने ये सारी बाते पहले ही बता दी थी, वह बोला—"देखो वाम नेत्र से कानी हथिनी खडी है और दासी के वचन सुनकर हमे यह भी ज्ञात हो गया है कि उस पर गर्भवती रानी सवार थी जिसे अभी-अभी पुत्रलाभ हुआ है।" अविनीत शिष्य ने बेदिली से उत्तर दिया—"हाँ मैं समझ गया, तुम्हारा ज्ञान सही है अन्यथा नही।" तत्पश्चात् दोनो सरोवर मे हाथ-पैर धोकर एक वट वृक्ष के नीचे विश्राम हेतु बैठ गये।

कुछ समय पश्चात् ही एक वृद्धा स्त्री अपने मस्तक पर पानी का घडा लिए हुए उधर से निकली। वृद्धा की नजर उन दोनों पर पडी। उसने सोचा—'ये दोनो विद्वान् मालूम होते हैं, क्यो न इनसे पूछूँ कि मेरा विदेश गया हुआ पुत्र कब लौटकर आएगा?' यह विचार कर वह शिष्यो के समीप गई और प्रश्न करने लगी। किन्तु उसी समय उसका घडा सिर से गिरा और फूट गया। सारा पानी मिट्टी मे समा गया। यह देखकर अविनीत शिष्य झट बोल पडा—"बुढिया! तेरा पुत्र घडे के समान ही मृत्यु को प्राप्त हो गया है।"

वृद्धा मग्न रह गई किन्तु उसी समय दूसरे ज्ञानी शिष्य ने कहा—"मित्र, ऐसा मत कहो। इसका पुत्र तो घर आ चुका है।" उसके बाद उसने वृद्धा को सबोधित करते हुए कहा—"माता! तुम शीघ्र घर जाओ, तुम्हारा पुत्र तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है।"

वृद्धा की जान मे जान आई। उसने अपने घर की ओर कदम बढा दिये। घर पहुँचते ही देखा कि लडका धूलि धूसरित पैरो सहित ही उसकी प्रतीक्षा मे बैठा है। हर्ष-विह्वल होकर उसने पुत्र को अपने कलेजे से लगा लिया और उसी समय नैमित्तिक शिष्य के विषय मे बताकर पुत्र सहित उस वट वृक्ष के नीचे आई। शिष्य को उसने यथायोग्य दक्षिणा के साथ अनेक आशीर्वाद दिये।

इधर अविनीत शिष्य ने जब यह देखा कि मेरी बातें मिथ्या सिद्ध होती हैं और मेरे साथी की सत्य, तो वह दुःख और क्रोध से भरकर सोचने लगा—"यह सब गुरुजी के पक्षपात के कारण ही हो रहा है। उन्होने मुझे ठीक तरह से नही पढाया।" ऐसे ही विचारो के साथ वह गुरु का कार्य सम्पन्न होने के पश्चात् वापिस लौटा। लौटने पर विनीत शिष्य आनन्दाश्रु बहाता हुआ गद्‌गद् भाव से गुरु के चरणो पर झुक गया किन्तु अविनीत ठूँठ की तरह खडा रहा। यह देखकर गुरु ने प्रश्नसूचक दृष्टि से उसकी ओर देखा। तुरन्त ही वह बोला—'आपने मुझे सम्यक् रूप से नही पढाया है, इसलिए मेरा ज्ञान असत्य है और इसे मन लगाकर पढाया है, अतः इसका ज्ञान सत्य। आपने पक्षपात किया है।'

गुरुजी यह सुनकर चकित हुए पर कुछ समझ न पाने के कारण उन्होंने अपने विनयी शिष्य से पूछा—'वत्स क्या बात है? किन घटनाओ के आधार पर तुम्हारे गुरुभाई के मन मे ऐसे विचार आए?' विनीत शिष्य ने मार्ग मे घटी हुई घटनाएँ ज्यो की त्यो कह सुनाई।

गुरु ने उससे पूछा—'तुम यह बताओ कि उक्त दोनो बातो की जानकारी तुमने किस प्रकार की ?' विनयवान् शिष्य ने पुन· गुरु के चरण छूकर उत्तर दिया—"गुरुदेव, आपके चरणो के प्रताप से ही मैंने विचार किया कि पैर हाथी के होने पर भी इसके मूत्र के ढग के कारण वह हथिनी होनी चाहिए। मार्ग के दाहिनी ओर के घास व पत्रादि ही खाए हुए थे, बायी ओर के नही, अतः अनुमान किया कि वह बाये नेत्र से कानी होगी। भारी जन-समूह के साथ हाथी पर आरूढ होकर जाने वाला राजकीय व्यक्ति ही हो सकता है। यह जानने के बाद हाथी से उतर कर की जाने वाली लघुशका से यह जाना कि वह रानी थी। समीप की झाडी मे उलझे हुए रेशमी और लाल वस्त्र-ततुओ को देखकर विचार किया कि रानी सधवा है। वह दाँया हाथ भूमि पर रखकर खडी हुई, इससे गर्भवती होने का तथा दाँया पैर अधिक भारी पडने से मैने उसके निकट प्रसव का अनुमान किया और सारे ही निमित्तो से यह जान लिया कि उसके पुत्र उत्पन्न होगा।

दूसरी बात वृद्धा स्त्री की थी। उसके प्रश्न पूछते ही घडे के गिरकर फूट जाने से मैंने विचार किया कि जिस मिट्टी से घडा बना था उसी मे मिल गया है, अत माता की कोख से जन्मा पुत्र भी उससे मिलने वाला है।"

शिष्य की बात सुनकर गुरु ने स्नेहपूर्ण दृष्टि से देखते हुए उसकी प्रशसा की। अविनीत से कहा—'देख, तू न मेरी आज्ञा का पालन करता है और न ही अध्ययन किये हुए विषय पर चिन्तन-मनन करता है। ऐसी स्थिति मे सम्यक्ज्ञान का अधिकारी कैसे बन सकता है ? मै तो तुम दोनो को सदा ही साथ बैठाकर एक सरीखा विद्याभ्यास कराता हू किन्तु—"विनयाद्याति पात्रताम्" यानी विनय से पात्रता, सुयोग्यता प्राप्त होती है। तुझमे विनय का अभाव है, इसलिये तेरा ज्ञान भी सम्यक् नही है।' गुरु के वचन सुनकर अविनीत शिष्य लज्जित होकर मौन रह गया।

यह उदाहरण शिष्य की वैनयिकी बुद्धि का है।

(२) अत्थसत्थे (३) लेख (४) गणित अर्थात् आदि का ज्ञान भी विनय के द्वारा होता है।

(५) कूप—एक भूवेत्ता अपने शिक्षक के पास अध्ययन करता था। उसने शिक्षक की प्रत्येक आज्ञा को एव सुझाव को इतने विनयपूर्वक माना कि वह अपने विषय मे पूर्ण पारगत हो गया। अपनी चामत्कारिक, वैनयिकी बुद्धि के द्वारा प्रत्येक कार्य मे सफलता प्राप्त करने लगा।

एक बार किसी ग्रामीण ने उससे पूछा—'मेरे खेत मे कितनी गहराई तक खोदने पर पानी निकलेगा ?" भूवेत्ता ने परिमाण बताया। उसी के अनुसार किसान ने भूमि मे कुआ खोद लिया किन्तु पानी नही निकला। किसान पुन भूवेत्ता के पास जाकर बोला—"आपके निर्देशानुसार मैने कुआ खोद डाला। किन्तु पानी नही निकला।" भूमि परीक्षक ने खोदे हुए कुए के पास जाकर बारीकी से निरीक्षण किया और तब किसान से कहा—"इसके पार्श्व भूभाग पर एडी से प्रहार करो।" किसान ने वही किया और चकित रह गया, यह देखकर कि उस छोटे से स्थान से पानी का स्रोत मानो बाँध तोडकर बह निकला है। किसान ने भूवेत्ता की वैनयिकी बुद्धि का चमत्कार देखकर उसकी बहुत प्रशसा की तथा अपनी सामर्थ्य के अनुसार द्रव्य भेट किया।

(६) अश्व—एक बार बहुत से व्यापारी द्वारका नगरी मे अपने घोडे बेचने के लिए गये। नगर के कई राजकुमारो ने मोटे-ताजे और डील-डौल से बडे देखकर घोड़े खरीद लिये, किन्तु वासुदेव नामक एक युवक ने जो अश्व-परीक्षा मे पारगत था, एक दुबला-पतला घोड़ा खरीदा।

आश्चर्य की बात यह थी कि जब घुडदौड़ होती तो वासुदेव का घोड़ा ही सबसे आगे रहता, सभी मोटे-ताजे घोडे पीछे रह जाते। इसका कारण वासुदेव की अश्वपरीक्षा की प्रवीणता थी। यह विद्या उसने अपने कलाचार्य से बहुत विनयपूर्वक सीखी थी। विनय द्वारा ही बुद्धि तीक्ष्ण होती है तथा सीखे जाने वाले विषय का पूर्ण ज्ञान होता है।

(७) **गर्दभ**—किसी नगर मे एक राजा राज्य करता था। वह युवा था। उसने सोचा कि युवावस्था श्रेष्ठ होती है और युवक ही अधिक परिश्रम कर सकता है। यह विचार आते ही उसने अपनी सेना के समस्त अनुभवी एव वृद्ध योद्धाओ को हटाकर तरुण युवको को अपनी सेना मे भर्ती किया।

एक बार वह अपनी जवानो की सेना के साथ किसी राज्य पर आक्रमण करने जा रहा था किन्तु मार्ग भूल गया और एक बीहड वन मे जा फसा। बहुत खोजने पर भी रास्ता नही मिला। सभी प्यास के कारण छटपटाने लगे। पानी कही भी दिखाई नही दिया। तब किसी व्यक्ति ने राजा से प्रार्थना की—"महाराज! हमे तो इस विपत्ति से उबरने का कोई मार्ग नही सूझता, कोई अनुभवी वयोवृद्ध हो तो वही सकट टाल सकता है।" यह सुनकर राजा ने उसी समय घोषणा करवाई—'सैन्यदल मे अगर कोई अनुभवी व्यक्ति हो तो वह हमारे समक्ष आकर हमे सलाह प्रदान करे।'

सौभाग्यवश सेना मे एक वयोवृद्ध योद्धा छद्मवेश मे आया हुआ था, जिसे उसका पितृभक्त सैनिक पुत्र लाया था। वह राजा के समीप आया और राजा ने उससे प्रश्न किया—"महानुभाव! मेरी सेना को जल-प्राप्त हो सके ऐसा उपाय बताइये।" वृद्ध पुरुष ने कुछ क्षण विचार करके कहा—"महाराज! गधो को छोड दीजिए। वे जहाँ पर भूमि को सूघेगे वही सेना के लिए जल प्राप्त हो जायगा।" राजा ने ऐसा ही किया तथा जल प्राप्त कर सभी सैनिक तरोताजा होकर अपने गन्तव्य की ओर चल पडे। यह स्थविर पुरुष की वैनयिकी बुद्धि के द्वारा सम्भव हुआ।

(८) **लक्षण**—एक व्यापारी ने अपने घोडो की रक्षा के लिए एक व्यक्ति को नियुक्त किया और वेतन के रूप मे उसे दो घोडे देने को कहा। व्यक्ति ने इसे स्वीकार कर लिया तथा घोडो की रक्षा व सार-सभाल करना प्रारम्भ कर दिया। कुछ समय मे व्यापारी की पुत्री से उसका स्नेह हो गया। सेवक चतुर था अत उसने कन्या से पूछ लिया—"इन सब घोडो मे से कौन से घोडे श्रेष्ठ हैं?" लडकी ने उत्तर दिया—"यो तो सभी घोडे उत्तम है किन्तु पत्थरो से भरे हुए कुप्पे को वृक्ष पर से गिराने पर उसकी आवाज से जो भयभीत न हो वे श्रेष्ठ लक्षण-सम्पन्न है।"

लडकी के कथनानुसार उस व्यक्ति ने उक्त विधि से सब घोडो की परीक्षा कर ली। दो घोडे उनमे से छाट लिए। जब वेतन लेने का समय आया तो उसने व्यापारी से उन्ही दो घोडो की माग की। अश्वो का स्वामी मन ही मन घबराया कि ये दोनो ही सर्वोत्तम घोडे ले जायगा। अत. बोला—"भाई! इन घोडो से भी अधिक सुन्दर और हृष्ट-पुष्ट घोडे ले जा।" सेवक नही माना तब चिन्तित गृहस्वामी अन्दर जाकर अपनी पत्नी से बोला—"भलीमानस! यह सेवक तो बडा चतुर निकला। न जाने कैसे इसने अपने सबसे अच्छे दोनो घोडो की पहचान कर ली है और उन्ही को वेतन के रूप मे माँग रहा है। अत. अच्छा यही है कि इसे गृहजामाता बना ले।"

यह सुनकर स्त्री नाराज हुई, कहने लगी—"तुम्हारा दिमाग फिर गया है क्या? नौकर को जमाई बनाओगे?" इस पर व्यापारी ने उसे समझाया—"अगर ये सर्वलक्षण युक्त दोनो घोड़े चले गये

तो हमारी सब तरह से हानि होगी। हम भी इस सेवक जैसे हो जाएँगे। किन्तु इसे जामाता बना लेने से घोडे यही रहेगे तथा और भी गुणयुक्त घोडे बढ जाएँगे। सभी प्रकार से हमारी उन्नति होगी। दूसरे, यह अश्व-रक्षक सुन्दर युवक तो है हो, बहुत बुद्धिमान् भो है।" स्त्री सहमत हो गई और सेवक को स्वामी ने जमाई बनाकर दूरदर्शिता का परिचय दिया। यह सब अश्वो के व्यापारी की विनय से उत्पन्न बुद्धि के कारण हुआ।

(९) **ग्रन्थि**—किसी समय पाटलिपुत्र मे मुरुण्ड नामक राजा राज्य करता था। एक अन्य राजा ने उसे तीन विचित्र वस्तुएँ भेजी। वे इस प्रकार थी—ऐसा सूत जिसका छोर नही था, एक ऐसी लाठी जिसकी गाँठ का पता नही चलता था और एक डिब्बा जिसका द्वार दिखाई नही देता था। उन सब पर लाख इस प्रकार लगाई गई थी कि किसी को इनका पता नही चलता था। राजा ने सभी दरबारियो को दिखाया किन्तु कोई भी इनके विषय मे नही बता सका।

राजा ने तब आचार्य पादलिप्त को बुलवाया और उनसे पूछा—"भगवन्! क्या आप इन सबके विषय मे बता सकते हैं?" आचार्य ने स्वीकृति देते हुए गर्म पानी मँगवाया और पहले उसमे सूत को डाल दिया। उसमे लगी हुई लाख पिघल गई और सूत का छोर नजर आने लगा। तत्पश्चात् लाठी को पानी मे डाला तो गाँठवाला भारी किनारा पानी मे डूब गया, जिससे यह साबित हुआ कि लाठी मे अमुक किनारे पर गाँठ है। अन्त मे डिब्बे को भी गरम पानी मे डाला गया और लाक्षा पिघलते ही उसका द्वार दिखाई देने लगा। सभी व्यक्तियो ने एक स्वर से आचार्य की प्रशसा की।

तत्पश्चात् राजा मुरुण्ड ने आचार्य पादलिप्त से प्रार्थना की—"देव! आप भी कोई ऐसी कौतुकपूर्ण वस्तु तैयार कीजिए जिसे मै बदले मे भेज सकूँ।" इस पर आचार्य ने एक तूम्बे को बडी सावधानी से काटा और उसमे रत्न भरकर यत्नपूर्वक काटे हुए हिस्से को जोड दिया। दूसरे राज्य से आए हुए पुरुषो से कहा—"इसे तोड़े बिना इसमे से रत्न निकाल लेना।" किन्तु उनके राज्य मे कोई भी बिना तूम्बे को तोडे रत्न नही निकाल सका। इस पर पुन राजा समेत समस्त सभासदो ने आचार्य की वैनयिकी बुद्धि की भूरि-भूरि सराहना की।

(१०) **अगद**—एक नगर के राजा के पास सेना बहुत थोडी थी। पडोसी शत्रु राजा ने उसके राज्य को चारो ओर से घेर लिया। इस पर राजा ने आदेश दिया कि जिसके पास भी विष हो वह ले आए। बहुत से व्यक्ति राजाज्ञानुसार विष लाए और नगर के बाहर स्थित उस कूप के पानी को विषमय बना दिया, जहाँ से शत्रु के सैन्य-दल को पानी मिलता था। इसी बीच एक वैद्य भी बहुत अल्प मात्रा मे विष लेकर आया। राजा एक वैद्य को अत्यल्प विष लाया देखकर बहुत क्रुद्ध हुआ। किन्तु वैद्यराज ने कहा—"महाराज! आप क्रोध न करे। यह सहस्रवेधी विष है। अभी तक जितना विष लाया गया होगा और उससे जितने लोग मर सकेंगे उससे अधिक नर-सहार तो इतने से विष से ही हो जाएगा।" राजा ने आश्चर्य से कहा—"यह कैसे हो सकता है? क्या आप इसका प्रमाण दे सकेंगे?"

वैद्य ने उसी समय एक वृद्ध हाथी मँगवाया और उसकी पूछ का एक बाल उखाड लिया। फिर ठीक उसी स्थान पर सुई की नोक से विष का सचार किया। विष जैसे-जैसे शरीर मे आगे बढा वैसे-वैसे ही हाथी के शरीर का भाग जड़ होता चला गया। तब वैद्य ने कहा—'महाराज! देखिए! यह हाथी विषमय हो गया है, इसे जो भी खाएगा, वह विषमय हो जायेगा। इसीलिए इस विष को सहस्रवेधी कहा जाता है।'

राजा को वैद्य की बात पर विश्वास हो गया किन्तु हाथी के प्राण जाते देख उसने कहा—"वैद्य जी ! क्या यह पुन स्वस्थ नही हो सकता ?" वैद्य बोला—"क्यो नही हो सकता।" वैद्य ने पूँछ के बाल के उसी रन्ध्र मे अन्य किसी औषधि का सचार किया और देखते ही देखते हाथी सचेतन हो गया। वैद्य की विनयजा बुद्धि के चमत्कार की राजा ने खूब सराहना की। उसे पुरस्कृत किया।

(११-१२) **रथिक एव गणिका**- रथिक अर्थात् रथ के सारथी और गणिका के उदाहरण स्थूल-भद्र की कथा मे वर्णित हैं। वे भी वैनयिकी बुद्धि के उदाहरण हैं।

(१३) **शाटिका, तृण तथा क्रौञ्च**—किसी नगर मे अत्यन्त लोभी राजा था। उसके राजकुमार एक बडे विद्वान् आचार्य से शिक्षा प्राप्त करते थे। सभी राजकुमार अपने पिता से विपरीत उदार एव विनयवान् थे। अत आचार्य ने अपने उन सभी शिष्यो को गहरी लगन के साथ विद्याध्ययन कराया। शिक्षा समाप्त होने पर राजकुमारो ने अपने कलाचार्य को प्रचुर धन भेंट किया। राजा को जब इस बात का पता लगा तो उसने कलाचार्य को मारकर उसका धन ले लेने का विचार किया। राजकुमारो को किसी प्रकार इस बात का पता चल गया। अपने आचार्य के प्रति उनका असीम प्रेम तथा श्रद्धा थी अत उन्होने अपने गुरु की जान बचाने का निश्चय किया।

राजकुमार आचार्य के पास गये। उस समय वे भोजन से पहले स्नान करने की तैयारी मे थे। राजकुमारो से उन्होने पहनने के लिए सूखी धोती माँगी, पर कुमारो ने कह दिया—"शाटिका गीली है।" इतना ही नही, वे हाथ मे तृण लेकर बोले—"तृण लम्बा है।" एक और राजकुमार बोला—"पहले क्रौञ्च सदा प्रदक्षिणा किया करता था, अब वह बाईं ओर घूम रहा है।" आचार्य ने जब राजकुमारो की ऐसी अटपटी बाते सुनी तो उनका माथा ठनका और उनकी समझ मे आ गया कि—'मेरे धन के कारण कोई मेरा शत्रु बन गया है और मेरे प्रिय शिष्य मुझे चेतावनी दे रहे हैं।' यह ज्ञान हो जाने पर उन्होने अपने निश्चित किए हुए समय से पहले ही राजकुमारो से विदा लेकर चुपचाप अपने घर की ओर प्रस्थान कर दिया। यह राजकुमारो की एव कलाचार्य की वैनयिकी बुद्धि के उत्तम उदाहरण है।

(१४) **नीव्रोदक**—एक व्यापारी बहुत समय से विदेश मे था। उसकी पत्नी ने वासनापूर्ति के लिए अपनी सेविका द्वारा किसी व्यक्ति को बुलवा लिया। साथ ही एक नाई को भी बुलवा भेजा, जिसने आगत व्यक्ति के नाखून एव केशादि को सवारा तथा स्नानादि करवाकर शुभ्र वस्त्र पहनाए।

रात्रि के समय जब मूसलाधार पानी बरस रहा था, उस व्यक्ति ने प्यास लगने पर छज्जे से गिरते हुए वर्षा के पानी को ओक से पी लिया। संयोगवश उसी छज्जे के ऊपरी भाग पर एक मृत सर्प का कलेवर था और पानी उस पर से बहता हुआ आ रहा था। जल विष-मिश्रित हो गया था और उसे पीते ही दुराचारी पुरुष की मृत्यु हो गयी।

यह देखकर वणिक्पत्नी घबराई और सेवको के द्वारा उसी समय मृत व्यक्ति को एक जन-शून्य देवकुलिका मे डलवा दिया। प्रात:काल लोगो को मृतक का पता चला तथा राजपुरुषो ने आकर उसकी मृत्यु का कारण खोजना प्रारम्भ कर दिया। उन्होने देखा कि मृत व्यक्ति के नख व केश तत्काल ही काटे हुए हैं। इस पर शहर के नाइयो को बुलवाकर प्रत्येक से अलग-अलग पूछा गया कि इस व्यक्ति के नाखून और केश किसने काटे हैं ? उनमे से एक नाई ने मृतक को पहचानकर

बता दिया कि—"मैने अमुक वणिक्-पत्नी की दासी के बुलाए जाने पर इसके नख व केश काटे थे।" दासी को पकड लिया गया। उसने भयभीत होकर सम्पूर्ण घटना का वर्णन कर दिया। यह उदाहरण राजकर्मचारियो की वैनयिकी बुद्धि का उदाहरण है।

(१५) बैलों का चुराया जाना, अश्व की मृत्यु तथा वृक्ष से गिरना

एक व्यक्ति अत्यन्त ही पुण्यहीन था। वह जो कुछ भी करता उससे सकट मे पड जाता था। एक बार उसने अपने मित्र से हल चलाने के लिए बैल माँगे और कार्य समाप्त हो जाने पर उन्हे लौटाने के लिए ले गया। उसका मित्र उस समय खाना खा रहा था। अत अभागा आदमी बोला तो कुछ नही पर उसके सामने ही बैलो को बाडे मे छोड आया, यह सोचकर कि वह देख तो रहा ही है।

दुर्भाग्यवश बैल किसी प्रकार बाडे से बाहर निकल गये और उन्हे कोई चुराकर भगा ले गया। बैलो का मालिक बाडे मे अपने बैलो को न देखकर पुण्यहीन के पास जाकर बैलो को माँगने लगा। किन्तु वह बेचारा देता कहाँ से ? इस पर कोधित होकर उसका मित्र उसे पकडकर राजा के पास ले चला।

मार्ग मे एक घुडसवार सामने से आ रहा था। उसका घोड़ा बिदक गया और सवार को नीचे पटक कर भागने लगा। इस पर सवार चिल्लाकर बोला—"अरे भाई! इसे डण्डे मारकर रोको।" पुण्यहीन व्यक्ति के हाथ मे एक डडा था, अत उसने घुडसवार की सहायता करने के उद्देश्य से सामने आते हुए घोडे को डडा मारा, किन्तु उसकी भाग्यहीनता के कारण डडा घोडे के मर्मस्थल पर लगा और घोडे के प्राण-प्रखेरू उड गये। घोडे का स्वामी यह देखकर बहुत क्रोधित हुआ और उसे राजा के द्वारा दड दिलवाने के उद्देश्य से साथ हो लिया। इस प्रकार एक अपराधी और सजा दिलाने वाले दो, तीनो नगर की ओर चले।

चलते-चलते रात हो गई और नगर के द्वार बद मिले। अत वे बाहर ही एक सघन वृक्ष के नीचे सो गये, यह सोचकर कि प्रात काल द्वार खुलने पर प्रवेश करेंगे। किन्तु अभागे अपराधी को निद्रा नही आई और वह सोचने लगा—"भाग्य मेरा साथ नही देता। भला करने पर भी बुरा ही होता है। ऐसे जीवन से क्या लाभ ? मर जाऊँ तो सभी विपत्तियो से पिंड छूट जाएगा। अन्यथा न जाने और क्या-क्या कष्ट भोगने पडेंगे।"

यह विचारकर उसने मरने का निश्चय कर लिया और अपने दुपट्टे को उसी वृक्ष की डाल से बाँधकर फँदा बनाया और अपने गले मे डालकर लटक गया। पर मृत्यु ने भी उसका साथ नही दिया। दुपट्टा जीर्ण होने के कारण उसके भार को नही झेल पाया तथा टूट गया। परिणाम यह हुआ कि वह धम्म से गिरा भी तो नटो के मुखिया पर जो ठीक उसके नीचे सो रहा था। नटो के सरदार पर ज्यो ही वह गिरा, सरदार की मृत्यु हो गई। नटो में चीख-पुकार मच गई और सरदार की मौत का कारण उस पुण्यहीन को जानकर गुस्से के मारे वे लोग भी उसे पकड़कर सुबह होते ही राजा के पास ले चले।

राज-दरबार मे जब यह काफिला पहुचा, सभी चकित होकर देखने लगे। राजा ने इनके आने का कारण पूछा। सभी ने अपना-अपना अभियोग कह सुनाया। राजा ने पुण्यहीन व्यक्ति से

भी जानकारी की और उसने निराशापूर्वक सभी घटनाएँ बताते हुए कहा—"महाराज! मैंने जान-बूझकर कोई अपराध नही किया है। मेरा दुर्भाग्य ही इतना प्रबल है कि प्रत्येक अच्छा कार्य उलटा हो जाता है। ये लोग जो कह रहे है, सत्य है। मैं दण्ड भोगने के लिये तैयार हूँ।"

राजा बहुत विचारशील था। सब बाते सुनकर उसने समझ लिया कि इस बिचारे ने कोई अपराध मन से नही किया है, अत यह दण्ड का पात्र नही है। उसे दया आई और उसने चतुराई से फैसला करने का निर्णय किया। सर्वप्रथम बैल वाले को बुलाया गया और राजा ने उससे कहा—"भाई! तुम्हे अपने बैल लेने है तो पहले अपनी आँखे निकालकर इसे दे दो, क्योकि तुमने अपनी आँखो से इसे बाडे मे बैल छोडते हुए देखा था।"

इसके बाद घोडेवाले को बुलाकर राजा ने कहा—"अगर तुम्हे घोडा चाहिए तो पहले अपनी जिह्वा इसे काट लेने दो, क्योकि दोषी तुम्हारी जिह्वा है, जिसने इसे घोडे को डण्डा मारने के लिए कहा था। इसे दण्ड मिले और तुम्हारी जिह्वा बच जाए यह न्यायसंगत नही। ऐसा करना अन्याय है। अत पहले तुम जिह्वा दे दो फिर घोडा इससे दिलवा दिया जायगा।"

इसके बाद नटो को भी बुलाया गया। राजा ने कहा—"इस दीन व्यक्ति के पास क्या है जो तुम्हे दिलवाया जाय! अगर तुम्हे बदला लेना है तो इसे उसी वृक्ष के नीचे सुला देते है और अब जो तुम्हारा मुखिया बना हो, उससे कहो कि वह इसी व्यक्ति के समान गले मे फदा डालकर उसी डाल से लटक जाए और इस व्यक्ति के ऊपर गिर पडे।"

राजा के इन फैसलो को सुनकर तीनो अभियोगी चुप रह गये और वहाँ से चलते बने।

राजा की वैनयिकी बुद्धि ने उस अभागे व्यक्ति के प्राण बचा लिए।

(३) कर्मजा बुद्धि के उदाहरण

५१—उवओगदिट्ठसारा कम्मपसंगपरिलोघणविसाला।
साहुक्कारफलवई कम्मसमुत्था हवइ बुद्धी॥

हेरण्णिए करिसय, कोलिय डोवे य मुत्ति घय पवए।
तुन्नाग वड्ढई य, पूयइ घड चित्तकारे य॥

५१—उपयोग से जिसका सार-परमार्थ देखा जाता है, अभ्यास और विचार से जो विस्तृत बनती है और जिससे प्रशसा प्राप्त होती है, वह कर्मजा बुद्धि कही जाती है।

(१) सुवर्णकार, (२) किसान, (३) जुलाहा, (४) दर्वीकार, (५) मोती, (६) घी, (७) नट, (८) दर्जी, (९) बढई, (१०) हलवाई, (११) घट तथा (१२) चित्रकार। इन सभी के उदाहरण कर्म से उत्पन्न बुद्धि के परिचायक हैं। विवरण इस प्रकार है—

(१) हैरण्यक—सुनार ऐसा कुशल कलाकार होता है कि अपने कला-ज्ञान के द्वारा घोर अन्धकार मे भी हाथ के स्पर्शमात्र से ही सोने और चाँदी की परीक्षा कर लेता है।

(२) कर्षक (किसान)—एक चोर किसी वणिक् के घर चोरी करने गया। वहाँ उसने दीवार मे इस प्रकार सेंध लगाई कि कमल की आकृति बन गई। प्रात काल जब लोगों ने उस कलाकृति सेंध

को देखा तो चोरी होने की बात को भूलकर चोर की कला की प्रशसा करने लगे । उसी जन-समूह मे चोर भी खडा था और अपनी चतुराई की तारीफ सुनकर प्रसन्न हो रहा था । एक किसान भी वहाँ था, पर उसने प्रशसा करने के बदले कहा—'भाइयो ! इसमे इतनी प्रशसा या अचम्भे की क्या बात है ? अपने कार्य मे तो हर व्यक्ति कुशल होता है !

किसान की बात सुनकर चोर को बडा क्रोध आया और एक दिन वह छुरा लेकर किसान को मारने के लिए उसके खेत मे जा पहुँचा । जब वह छुरा उठाकर किसान की ओर लपका तो एकदम पीछे हटते हुए किसान ने पूछा—'तुम कौन हो और मुझे क्यो मरना चाहते हो ?' चोर बोला—'तूने उस दिन मेरी लगाई हुई सेंध की प्रशसा क्यो नही की थी ?'

किसान समझ गया कि यह वही चोर है । तब वह बोला—"भाई, मैंने तुम्हारी बुराई तो नही की थी, यही कहा था कि जो व्यक्ति जिस कार्य को करता है उसमे वह अपने अभ्यास के कारण कुशल हो ही जाता है । अगर तुम्हे विश्वास न हो तो मैं अपनी कला तुम्हे दिखाकर विश्वस्त कर दूँ । देखो, मेरे हाथ मे मूँग के ये दाने है । तुम कहो तो मै इन सबको एक साथ ऊर्ध्वमुख, अधोमुख अथवा पार्श्व से गिरा दूँ ।"

चोर चकित हुआ । उसे विश्वास नही आ रहा था । तथापि किसान के कथन की सचाई जानने के लिए वह बोला -"इन सबको अधोमुख डालकर बताओ ।"

किसान ने उसी वक्त पृथ्वी पर एक चादर फैलाई और मूँग के दाने इस कुशलता से बिखेरे कि सभी अधोमुख हो गिरे । चोर ने ध्यान से दानो को देखा और कहा—"भाई ! तुम तो मुझसे भी कुशल हो अपने कार्य मे ।" इतना कहकर वह पुन लौट गया । उक्त उदाहरण तस्कर एव कृषक, दोनों की कर्मजा बुद्धि का है ।

(३) कौलिक—जुलाहा अपने हाथ मे सूत के धागो को लेकर ही सही-सही बता देता है कि इतनी सख्या के कण्डो से यह वस्त्र तैयार हो जायगा ।

(४) डोव—तरखान अनुमान से ही सही-सही बता सकता है कि इस कुडछी मे इतनी मात्रा मे वस्तु आ सकेगी ।

(५) मोती—सिद्धहस्त मणिकार के लिये कहा जाता है कि वह मोतियो को इस प्रकार उछाल सकता है कि वे नीचे खडे हुए सूअर के बालो मे आकर पिरोये जा सकते हैं ।

(६) घृत—कोई-कोई घी का व्यापारी भी इतना कुशल होता है कि वह चाहने पर गाडी या रथ मे बैठा-बैठा ही नीचे स्थित कुडियो मे बिना एक बूँद भी इधर-उधर गिराये घी डाल देता है ।

(७) प्लवक (नट)—नटो की चतुराई जगत् प्रसिद्ध है । वे रस्सी पर ही अनेको प्रकार के खेल करते है किन्तु नीचे नही गिरते और लोग दाँतो तले अंगुली दबा लिया करते हैं ।

(८) तृण्णाग—कुशल दरजी कपडे की इस प्रकार सफाई से सिलाई करता है कि सीवन किस जगह है, इसका पता नही पड़ता ।

(९) बड्ढइ (बढई)—बढई लकड़ी पर इतनी सुन्दर कलाकृति का निर्माण करता है तथा

विभिन्न प्रकार के सुन्दर चित्र बनाता है कि वे सजीव दिखाई देते हैं। इसके अतिरिक्त लकड़ी को तराश कर इस प्रकार जोडता है कि जोड कही नजर नही आता।

(१०) आपूपिक—चतुर हलवाई नाना प्रकार व्यञ्जन बनाता है तथा तोल-नाप के विना ही किसमे कितना द्रव्य लगेगा, इसका अनुमान कर लेता है। कोई व्यक्ति तो अपनी कला मे इतने माहिर होते हैं कि दूर-दूर के देशो तक उनकी प्रसिद्धि फैल जाती है तथा वह नगर उस विशिष्ट व्यञ्जन के द्वारा भी प्रसिद्धि प्राप्त कर लेता है।

(११) घट—कुम्भकार घडो का निर्माण करने मे इतना चतुर होता है कि चलते हुए चाक पर जल्दी-जल्दी रखने के लिये भी मिट्टी का उतना ही पिण्ड उठाता है, जितने से घट बनता है।

(१२) चित्रकार—कुशल चित्रकार अपनी तूलिका के द्वारा फूल, पत्ती, पेड, पौधे, नदी अथवा झरने आदि के ऐसे चित्र बनाता है कि उनमे असली-नकली का भेद करना कठिन हो जाता है। वह पशु-पक्षी अथवा मानव के चित्रो मे भी प्राण फूँक देता है। क्रोध, भय, हास्य तथा घृणा आदि के भाव चेहरो पर इस प्रकार अकित करता है कि देखने वाला दग रह जाय।

उल्लिखित सभी उदाहरण कार्य करते-करते अभ्यास से समुत्पन्न कर्मजा बुद्धि के परिचायक हैं। ऐसी बुद्धि ही मानव को अपने व्यवसाय मे दक्ष बनाती है।

(४) पारिणामिकी बुद्धि के लक्षण

५२—अणुमान-हेउ-दिट्ठंतसाहिआ, वय-विवाग-परिणामा।
हिय-निस्सेयस फलवई, बुद्धी परिणामिया नाम॥

५२—अनुमान, हेतु और दृष्टान्त से कार्य को सिद्ध करने वाली, आयु के परिपक्व होने से पुष्ट, लोकहितकारी तथा मोक्षरूपी फल प्रदान करने वाली बुद्धि पारिणामिकी कही गई है।

पारिणामिकी बुद्धि के उदाहरण

५३—अभए सिट्ठी कुमारे, देवी उदियोदए हवइ राया।
साहू य नंदिसेणे, धणदत्ते सावग अमच्चे॥
खमए अमच्चपुत्ते चाणक्के चेव थूलभद्दे य।
नासिक्क सुंदरीनंदे, वइरे परिणाम बुद्धीए॥
चलणाहण आमंडे, मणी य सप्पे य खग्गिथूभिंदे।
परिणामिय-बुद्धीए, एवमाई उदाहरणा॥

से त्तं असुयनिस्सियं।

५३—(१) अभयकुमार, (२) सेठ, (३) कुमार, (४) देवी, (५) उदितोदय, (६) साधु और नन्दिघोष, (७) धनदत्त, (८) श्रावक, (९) अमात्य, (१०) क्षपक, (११) अमात्यपुत्र, (१२) चाणक्य, (१३) स्थूलिभद्र, (१४) नासिक का सुन्दरीनन्द, (१५) वज्रस्वामी, (१६) चरणाहत, (१७) आवला,

मणि (१९) सर्प (२०) गेडा (२१) स्तूप-भेदन। ये सभी उदाहरण पारिणामिकी बुद्धि के उदाहरण हैं।

अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान का निरूपण पूर्ण हुआ।

(१) **अभयकुमार**—बहुत समय पहले उज्जयिनी नगरी मे राजा चण्डप्रद्योतन राज्य करता था। एक बार उसने अपने साढूभाई और राजगृह के राजा श्रेणिक को दूत द्वारा कहलवा भेजा—'अगर अपना और राज्य का भला चाहते हो तो अनुपम बकचूड हार, सेचनक हाथी, अभयकुमार पुत्र अथा रानी चेलना को अविलम्ब मेरे पास भेज दो।'

दूत के द्वारा चडप्रद्योतन का यह सदेश सुनकर श्रेणिक आगबबूला हो गया और दूत से कहा -"अवध्य होने के कारण तुम्हे छोड देता हूँ पर अपने राजा से जाकर कह देना कि यदि तुम अपनी कुशल चाहते हो तो अग्निरथ, अनिलगिरि हस्ती, वज्रजघ दूत तथा शिवादेवी रानी, इन चारो को मेरे यहा शीघ्रातिशीघ्र भेज दो।"

दूत के द्वारा यह उत्तर सुनते ही चडप्रद्योतन भारी सेना लेकर राजगृह पर चढाई करने के लिए रवाना हो गया और राजगृह के चारो ओर घेरा डाल दिया। श्रेणिक ने भी युद्ध करने की तैयारी करली। सेना सुसज्जित हो गई। किन्तु पारिणामिकी बुद्धि के धारक अभयकुमार ने अपने पिता श्रेणिक से नम्रतापूर्वक कहा -"महाराज ! अभी आप युद्ध करने का आदेश मत दीजिये, मै कुछ ऐसा उपाय करूगा कि 'साँप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे।' अर्थात् मौसा चडप्रद्योतन स्वय भाग जाएँ और हमारी सेना भी नष्ट न होने पाए।" श्रेणिक को अपने पुत्र पर विश्वास था अत उसने अभयकुमार की बात मान ली।

इधर रात्रि को ही अभयकुमार काफी धन लेकर नगर से बाहर आया और उसे चडप्रद्योतन क डेरे के पीछे भूमि मे गडवा दिया। तत्पश्चात् वह चंडप्रद्योतन के समक्ष आया। प्रमाण करके बोला—"मौसा जी ! आप किस फेर मे हैं ? इधर आप राजगृह को जीतने का स्वप्न देख रहे हैं और उधर आपके सभी वरिष्ठ सेनाधिकारियो को पिताजी ने घूस देकर अपनी ओर मिला लिया है। वे सूर्योदय होते ही आपको बन्दी बनाकर मेरे पिताजी के समक्ष उपस्थित कर देगे। आप मेरे मौसा है, अत आपको मैं धोखा खाकर अपमानित होते नही देख सकता।" चडप्रद्योतन ने कुछ अविश्वास पूर्वक पूछा—"तुम्हारे पास इस बात का क्या प्रमाण है ?" तब अभयकुमार ने उन्हे चुपचाप अपने साथ ले जाकर गडा हुआ धन निकाल कर दिखाया। धन देखकर चडप्रद्योतन को अपनी सेना के मुख्याधिकारियो की गद्दारी का विश्वास हो गया और वह उसी समय घोड पर सवार होकर उज्जयिनी की ओर चल दिया।

प्रात काल जब सेनापति आदि चडप्रद्योतन के डेरे मे राजगृह पर धावा करने की आज्ञा लेने के लिए आए तो डेरा खाली मिला। न राजा था और न ही उसका घोडा। सबने समझ लिया कि राजा वापिस नगर को लौट गए है। बिना दूल्हे की बरात के समान सेना फिर क्या करती ! सभी वापिस उज्जयिनी लौट गये।

वहाँ आने पर सभी उनके रातो रात लौट आने का कारण जानने के लिए महल मे गए। राजा ने सभी को धोखेबाज समझकर मिलने से इकार कर दिया। बहुत प्रार्थना करने पर और

दयनीयता प्रदर्शित करने पर राजा उनसे मिला तथा गद्दारी के लिए फटकारने लगा। बेचारे पदाधिकारी घोर आश्चर्य मे पड गए पर अन्त मे विनम्र भाव से एक ने कहा—"देव! वर्षों से आपका नमक खा रहे हैं। भला हम इस प्रकार आपके साथ छल कर सकते हैं? यह चालबाजी अभयकुमार की ही है। उसने आपको भुलावे मे डालकर अपने पिता का व राज्य का बचाव कर लिया है।"

चडप्रद्योतन के गले यह बात उतर गई। उसे अभयकुमार पर बडा क्रोध आया और नगर मे ढिंढोरा पिटवा दिया कि—'जो कोई अभयकुमार को पकड़कर मेरे पास लाएगा उसे राज्य की ओर से बहुमूल्य पुरस्कार दिया जाएगा।'

नगर में घोषणा तो हो गई किन्तु बिल्ली के गले मे घटी बाँधने जाए कौन? राजा के मत्री, सेनापति आदि से लेकर साधारण व्यक्ति तक सभी को मानो साँप सूँघ गया। किसी की हिम्मत नही हुई कि अभयकुमार को पकडने जाय। आखिर एक वेश्या ने यह कार्य करना स्वीकार किया और राजगृह जाकर वहाँ श्राविका के समान रहने लगी। कुछ काल बीतने पर उस पाखडी श्राविका ने एक दिन अभयकुमार को अपने यहाँ भोजन करने के लिये निमत्रण भेजा। श्राविका समझकर अभयकुमार ने न्यौता स्वीकार कर लिया। वेश्या ने खाने की वस्तुओ मे कोई नशीली चीज मिला दी। उसे खाते ही अभयकुमार मूछित हो गया। गणिका इसी पल की प्रतीक्षा कर रही थी। उसने अविलम्ब अभयकुमार को अपने रथ मे डलवाया और उज्जयिनी ले जाकर चडप्रद्योतन राजा को सौंप दिया। राजा हर्षित हुआ तथा होश मे आने पर अभयकुमार से व्यगमिश्रित परिहासपूर्वक बोला—"क्यो बेटा! धोखेबाजी का फल मिल गया? किस चतुराई से मैंने तुझे यहाँ पकडवा मगाया है।"

अभयकुमार ने तनिक भी घबराए बिना निर्भयतापूर्वक तत्काल उत्तर दिया—"मौसाजी! आपने तो मुझे बेहोश होने पर रथ मे डालकर यहाँ मगवाया है किन्तु मैं तो आपको पूरे होशोहवास मे रथ पर बैठाकर जूते मारता हुआ राजगृह ले जाऊँगा।"

राजा ने अभय की बात को उपहास समझकर टाल दिया और उसे अपने यहाँ रख लिया किन्तु अभयकुमार ने बदला लेने की ठान ली थी। वह मौके की ताक मे रहने लगा।

कुछ दिन बीत जाने पर अभयकुमार ने एक योजना बनाई। उसके अनुसार एक ऐसे व्यक्ति को खोज निकाला जिसकी आवाज ठीक चडप्रद्योतन राजा जैसी थी। उस गरीब व्यक्ति को भारी इनाम का लालच देकर अपने पास रख लिया और अपनी योजना समझा दी। तत्पश्चात् एक दिन अभयकुमार उसे रथ पर बैठाकर नगरी के बीच से उसके सिर पर जूते मारता हुआ निकला। जूते खाने वाला चिल्लाकर कहता जा रहा था—"अरे, अभयकुमार मुझे जूतो से पीट रहा है, कोई छुडाओ! मुझे बचाओ!" अपने राजा की जैसी आवाज सुनकर लोग दौडे और उसे छुडाने लगे, किन्तु लोगो के आते ही जूते मारने वाला और जूते खाने वाला, दोनो ही खिलखिला कर हँस पडे। अभयकुमार का खेल समझ लोग चुपचाप चल दिये। अभयकुमार निरतर पाच दिन तक इसी प्रकार करता रहा। बाजार के व्यक्ति यह देखते पर कुमार की क्रीडा समझकर हँसते रहते। कोई उस व्यक्ति को छुडाने नही आता।

छठे दिन मौका पाकर अभयकुमार ने राजा चडप्रद्योतन को ही बाँध लिया और बलपूर्वक रथ पर बैठाकर सिर पर जूते मारता हुआ बीच बाजार से निकला। राजा चिल्ला रहा था—"अरे

दौड़ो ! दौड़ो ! ! पकड़ो ! अभयकुमार मुझे जूते मारता हुआ ले जा रहा है।" लोगों ने देखा, किन्तु प्रतिदिन की तरह अभयकुमार का मनोरजक खेल समझकर हँसते रहे, कोई भी राजा को छुड़ाने नही आया। नगरी से बाहर आते ही अभयकुमार ने पवन-वेग से रथ को दौडाया तथा राजगृह आकर ही दम लिया। यथासमय दरबार में अपने पिता राजा श्रेणिक के समक्ष चडप्रद्योतन को उपस्थित किया। चडप्रद्योतन अभयकुमार के चातुर्य से मात खाकर अत्यन्त लज्जित हुआ। उसने श्रेणिक से क्षमायाचना की। राजा श्रेणिक ने चडप्रद्योतन को उसी क्षण हृदय से लगाया तथा राजसी सम्मान प्रदान करते हुए उज्जयिनी पहुँचा दिया। राजगृह के निवासियो ने पारिणामिकी बुद्धि के अधिकारी अपने कुमार की मुक्त कठ से सराहना की।

(२) **सेठ**— एक सेठ की पत्नी चरित्रहीन थी। पत्नी के अनाचार से क्षुब्ध होकर उसने पुत्र पर घर की जिम्मेदारी डाल दी और स्वय सयम ग्रहण कर साधु बन गया। इसके बाद ही सयोगवश जनता ने श्रेष्ठिपुत्र को वहाँ का राजा बना दिया। वह राज्य करने लगा। कुछ काल पश्चात् मुनि विचरण करते हुए उसी राज्य मे आए। राजा ने अपने मुनि हो गये पिता से उसी नगर मे चातुर्मास करने की प्रार्थना की। राजा की आकाक्षा एव आग्रह के कारण मुनि ने वहा वर्षावास किया। मुनि के उपदेशो से जनता बहुत प्रभावित हुई, किन्तु जैन शासन के विरोधियो को यह सह्य नही हुआ और उन्होने मुनि को बदनाम करने के लिए षड्यन्त्र रचा। जब चातुर्मास काल सम्पन्न हुआ और मुनि विहार करने के लिये तैयार हुए तो विरोधियो के द्वारा सिखाई-पढाई एक गर्भवती दासी आकर कहने लगी—"मुनिराज ! मैं तो निकट भविष्य मे ही तुम्हारे बच्चे की माँ बनने वाली हूँ और तुम मुझे छोडकर अन्यत्र जा रहे हो ! पीछे मेरा क्या होगा ?"

मुनि निष्कलक थे पर उन्होने विचार किया— "अगर इस समय मैं चला जाऊँगा तो शासन का अपयश होगा तथा धर्म की हानि होगी।" वे एक शक्तिसम्पन्न साधक थे, दासी की झूठी बात सुनकर कह दिया—"अगर यह गर्भ मेरा होगा तो प्रसव स्वाभाविक होगा, अन्यथा वह तेरा उदर फाडकर निकलेगा।"

दासी आसन्न-प्रसवा थी किन्तु मुनि पर झूठा कलक लगाने के कारण प्रसव नही हो रहा था। असह्य कष्ट होने पर उसे पुन मुनि के समक्ष ले जाया गया और उसने सच उगलते हुए कहा— "महाराज ! आपके द्वेषियो के कथनानुसार मैंने आप पर झूठा लाछन लगाया था। कृपया मुझे क्षमा करते हुए इस सकट से मुक्त करे।"

मुनि के हृदय मे कषाय का लेश भी नही था। उसी क्षण उन्होने दासी को क्षमा कर दिया और प्रसव सकुशल हो गया। धर्म-विरोधियो की थू-थू होने लगी तथा मुनि व जैन धर्म का यश और बढ गया। यह सब मुनिराज की पारिणामिकी बुद्धि से ही हुआ।

(४) **देवी**—प्राचीन काल मे पुष्पभद्र नामक नगर मे पुष्पकेतु राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम पुष्पवती, पुत्र का पुष्पचूल तथा पुत्री का पुष्पचूला था। भाई-बहन जब बडे हुए, दुर्भाग्य से माता पुष्पवती का देहान्त हो गया और वह देवलोक मे पुष्पवती नाम की देवी के रूप मे उत्पन्न हुई।

देवी रूप मे उसने अवधिज्ञान मे अपने परिवार को देखा तो उसके मन मे आया कि अगर पुष्पचूला आत्म-कल्याण के पथ को आपना ले तो कितना अच्छा हो ! यह विचारकर उसने पुष्पचूला

को स्वप्न मे स्वर्ग तथा नरक के दृश्य स्पष्ट दिखाए। स्वप्न देखने से पुष्पचूला को प्रतिबोध हो गया और उसने सासारिक सुखो का त्याग करके सयम ग्रहण कर लिया। अपने दीक्षाकाल मे शुद्ध संयम का पालन करते हुए उसने घाती कर्मों का क्षयकर केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्तकर सदा के लिए जन्म-मरण से छुटकारा पा लिया। देवी पुष्पवती की पारिणामिकी बुद्धि का यह उदाहरण है।

(५) **उदितोदय**—पुरिमतालपुर का राजा उदितोदय था। उसकी रानी का नाम श्रीकान्ता था। दोनो बड़े धार्मिक विचारो के थे तथा श्रावकवृत्ति धारणकर धर्मानुसार सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे थे।

एक बार एक परिव्राजिका उनके अन्त पुर मे आई। उसने रानी को शौचमूलक धर्म का उपदेश दिया। किन्तु महारानी ने उसका विशेष आदर नही किया, अत परिव्राजिका स्वय को अपमानित समझ कर क्रुद्ध हो गई। बदला लेने के लिए उसने वाराणसी के राजा धर्मरुचि को चुना तथा उसके पास रानी श्रीकान्ता के अतुलनीय रूप-यौवन की प्रशसा की। धर्मरुचि ने श्रीकान्ता को प्राप्त करने के लिए पुरिमतालपुर पर चढाई की। चारो ओर घेरा डाल दिया। रात्रि को उदितोदय ने विचारा—"अगर युद्ध करूगा तो भीषण नर-सहार होगा और असख्य निरपराध प्राणी व्यर्थ प्राणो से हाथ धो बैठेंगे। अत कोई अन्य उपाय करना चाहिए।"

जन-सहार को बचाने के लिए राजा ने वैश्रमण देव की आराधना करने का निश्चय किया तथा अष्टमभक्त ग्रहण किया। अष्टमभक्त की समाप्ति होने पर देव प्रकट हुआ और राजा ने उसके समक्ष अपना विचार रखा। राजा की उत्तम भावना देखकर वैश्रमण देवता ने अपनी वैक्रिय शक्ति के द्वारा पुरिमतालपुर नगर को ही अन्य स्थान पर ले जाकर स्थित कर दिया। इधर अगले दिन जब धर्मरुचि राजा ने देखा कि पुरिमतालपुर नगर का नामोनिशान ही नही है, मात्र खाली मैदान दिखाई दे रहा है तो निराश और चकित हो सेना सहित लौट चला। उदितोदय की पारिणामिकी बुद्धि ने सम्पूर्ण नगर की रक्षा की।

(६) **साधु और नन्दिषेण**—नन्दिषेण राजगृह के राजा श्रेणिक का पुत्र था। विवाह के योग्य हो जाने पर श्रेणिक ने अनेक लावण्यवती एव गुण-सम्पन्न राजकुमारियो के साथ उसका विवाह किया तथा उनके साथ नन्दिषेण सुखपूर्वक समय व्यतीत करने लगा।

एक बार भगवान् महावीर राजगृह नगर मे पधारे। राजा सपरिवार भगवान् के दर्शनार्थ गया। नन्दिषेण एव उसकी पत्नियाँ भी साथ थी। धर्मदेशना सुनी। सुनकर नन्दिषेण ससार के नश्वर सुखो से विरक्त हो गया। माता-पिता की अनुमति प्राप्त कर उसने सयम अगीकार कर लिया। अत्यन्त तीव्र बुद्धि होने के कारण मुनि नन्दिषेण ने अल्पकाल मे ही शास्त्रो का गहन अध्ययन किया तथा अपने धर्मोपदेशो से अनेक भव्यात्माओ को प्रतिबोधित करके मुनिधर्म अगीकार कराया।

भगवान् महावीर की आज्ञा लेकर अपनी शिष्यमडली सहित मुनि नन्दिषेण ने राजगृह से अन्यत्र विहार कर दिया।

बहुत काल तक ग्रामानुग्राम विचरण करने पर एक बार मुनि नन्दिषेण को ज्ञात हुआ कि उनका एक शिष्य सयम के प्रति अरुचि रखने लगा है तथा पुनः सासारिक सुख भोगने की इच्छा रखता है। कुछ विचार कर नन्दिषेण ने शिष्य-समुदाय सहित पुन राजगृह की ओर प्रस्थान किया।

अपने पुत्र मुनि नन्दिषेण के आगमन का समाचार सुनकर राजा श्रेणिक को अपार हर्ष हुआ। वह अपने अन्त पुर के सम्पूर्ण सदस्यो के साथ नगर के बाहर, जहाँ मुनिराज ठहरे थे, दर्शनार्थ आया। सभी सतो ने राजा श्रेणिक को, उनकी रानियो को तथा अपने गुरु नन्दिषेण की अनुपम रूपवती पत्नियो को देखा। उन्हे देख कर मुनि-वृत्ति त्यागने के इच्छुक, विचलित मन वाले उस साधु ने सोचा—"अरे! मेरे गुरु ने तो अप्सराओ को भी मात करने वाली इन रूपवती स्त्रियो को त्याग कर मुनि-धर्म ग्रहण किया है तथा मन, वचन, कर्म से सम्यक्तया इसका पालन कर रहे हैं, और मै वमन किये हुए विषय-भोगो का पुन सेवन करना चाहता हू! धिक्कार है मुझे! मुझे इस प्रकार विचलित होने का प्रायश्चित्त करना चाहिए।" ऐसे विचार आने पर वह मुनि पुन सयम मे दृढ हो गया तथा आत्म-कल्याण मे और अधिक तन्मयता से प्रवृत्त हुआ।

यह सब मुनि नन्दिषेण की पारिणामिकी बुद्धि के कारण हो सका।

(७) **धनदत्त**—धनदत्त का उदाहरण श्रीज्ञाताधर्मकथाङ्ग सूत्र के अठारहवें अध्ययन मे विस्तारपूर्वक दिया गया है, अत उसमे से जानना चाहिए।

(८) **श्रावक**—एक व्यक्ति ने श्रावक के बारह व्रत ग्रहण किये। 'स्वदारसंतोष' भी उनमे से एक था। बहुत समय तक वह अपने व्रतो का पालन करता रहा किन्तु कर्म-संयोग से एक बार उसने अपनी पत्नी की सखी को देख लिया और आसक्त होकर उसे पाने की इच्छा करने लगा। अपनी इस इच्छा को लज्जा के कारण वह व्यक्त नही करता था, किन्तु मन ही मन दुखी रहने के कारण दुर्बल होता चला जा रहा था। यह देखकर उसकी पत्नी ने एक दिन आग्रह करके उससे कारण पूछा।

श्रावक की पत्नी बडी गुण-सम्पन्न श्राविका थी। उसने पति का तिरस्कार नही किया अपितु विचार करने लगी—'अगर मेरे पति का इन्ही कुविचारो के साथ निधन होगा तो उन्हे दुर्गति प्राप्त होगी। अत ऐसा करना चाहिए कि इनके कलुषित विचार नष्ट हो जाएँ और व्रत-भग न हो।' बहुत सोच विचार कर उसने एक उपाय खोज निकाला। वह एक दिन पति से बोली—"स्वामिन्! मैने अपनी सखी से बात कर ली है। वह आज रात्रि को आपके पास आएगी, किन्तु आएगी अँधेरे मे। वह कुलीन घर की है अत उजाले मे आने मे लज्जा अनुभव करती है।" पति से यह कहकर वह अपनी सखी के पास गई और उससे वही वस्त्राभूषण माँग लाई, जिन्हे पहने हुए उसके पति ने उसे देखा था। रात्रि को उसने उन्हे ही धारण किया और चुपचाप अपने पति के पास चली गई। किन्तु प्रात काल होने पर श्रावक को घोर पश्चात्ताप हुआ। वह अपनी पत्नी से कहने लगा—"मैंने बडा अनर्थ किया है कि अपना अगीकृत व्रत भग कर दिया।"

पति को सच्चे हृदय से पश्चात्ताप करते देखकर पत्नी ने यथार्थ बात कह दी। श्रावक ने स्वय को पतित होने से बचाने वाली अपनी पत्नी की सराहना की। अपने गुरु के समक्ष जाकर आलोचना करके प्रायश्चित्त किया।

श्राविका पत्नी ने पारिणामिकी बुद्धि के द्वारा ही पति को नाराज किये बिना उसके व्रत की रक्षा की।

(९) **अमात्य**—बहुत काल पहले काम्पिल्यपुर मे ब्रह्म नामक राजा था। उसकी रानी का नाम चुलनी था। चुलनी रानी ने एक बार चक्रवर्त्ती के जन्म-सूचक चौदह स्वप्न देखे तथा यथा-समय

एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम ब्रह्मदत्त रखा गया। ब्रह्मदत्त के बचपन मे ही राजा ब्रह्म का देहान्त हो गया अत राज्य का भार ब्रह्मदत्त के वयस्क होने तक के लिए राजा के मित्र दीर्घपृष्ठ को सौपा गया। दीर्घपृष्ठ चरित्रहीन था और रानी चुलनी भी। दोनो का अनुचित सम्बन्ध स्थापित हो गया।

राजा ब्रह्म का धनु नामक मन्त्री राजा व राज्य का बहुत वफादार था। उसने बडी सावधानी पूर्वक राजकुमार ब्रह्मदत्त की देख-रेख की और उसके बडे होने पर दीर्घपृष्ठ तथा रानी के अनुचित सम्बन्ध के विषय मे बता दिया। युवा राजकुमार ब्रह्मदत्त को माता के अनाचार पर बडा क्रोध आया। उसने उन्हे चेतावनी देने का निश्चय किया। अपने निश्चय के अनुसार वह पहली बार एक कोयल और एक कौए को पकड लाया तथा अन्त पुर मे माता के समक्ष आकर बोला—"इन पक्षियो के समान जो वर्णसकरत्व करेगे, उन्हे मै निश्चय ही दण्ड दूँगा।"

रानी पुत्र की बात सुनकर घबराई पर दीर्घपृष्ठ ने उसे समझा दिया—"यह तो बालक है, इसकी बात पर ध्यान देने की क्या जरूरत है?"

दूसरी बार एक श्रेष्ठ हथिनी और एक निकृष्ट हाथी को साथ देखकर भी राजकुमार ने रानी एव दीर्घपृष्ठ को लक्ष्य करते हुए व्यगात्मक भाषा मे अपनी धमकी दोहराई।

तीसरी बार वह एक हसिनी और बगुले को लाया तथा गम्भीर स्वर से कहा—"इस राज्य मे जो भी इनके सदृश आचरण करेगा उन्हे मैं मृत्यु दण्ड दूँगा।"

तीन बार इसी तरह की धमकी राजकुमार से सुनकर दीर्घपृष्ठ के कान खडे हो गये। उसने सोचा—"अगर मै राजकुमार को नही मरवाऊँगा तो यह हमे मार डालेगा।" यह सोचकर वह रानी से बोला—"अगर हमे अपना मार्ग निष्कटक बनाकर सदा सुखपूर्वक जीवन बिताना है तो राजकुमार का विवाह करके उसे पत्नी सहित एक लाक्षागृह मे भेजकर उसमे आग लगा देना चाहिए।" कामाध व्यक्ति क्या नही कर सकता! रानी माता होने पर भी पुत्र की हत्या के लिए तैयार हो गई।

राजकुमार ब्रह्मदत्त का विवाह राजा पुष्पचूल की कन्या से कर दिया गया तथा लाक्षागृह भी बडा सुन्दर बन गया। उधर जब मन्त्री धनु को सारे षड्यन्त्र का पता चला तो वह दीर्घपृष्ठ के समीप गया और बोला—"देव! मै वृद्ध हो गया हू। अब काम करने की शक्ति भी नही रह गई है। अत शेष जीवन मैं भगवद्-भजन मे व्यतीत करना चाहता हू। मेरा पुत्र वरधनु योग्य हो गया है, अब राज्य की सेवा वही करेगा।"

इस प्रकार दीर्घपृष्ठ से आज्ञा लेकर मत्री धनु वहा से रवाना हो गया और गगा के किनारे एक दानशाला खोलकर दान देने लगा। पर इस कार्य की आड मे उसने अतिशीघ्रता से एक सुरग खुदवाई जो लाक्षागृह मे निकली थी। राजकुमार का विवाह तथा लाक्षागृह का निर्माण सम्पन्न होने तक सुरग भी तैयार हो चुकी थी।

विवाह के पश्चात् नवविवाहित ब्रह्मदत्त कुमार और दुल्हन को वरधनु के साथ लाक्षागृह मे पहुचाया गया, किन्तु अर्धरात्रि के समय अचानक आग लग गई और लाक्षागृह पिघलने लगा। यह देखकर कुमार ने घबराकर वरधनु से पूछा—"मित्र! यह क्या हो रहा है? आग कैसे लग गई?" तब वरधनु ने सक्षेप मे दीर्घपृष्ठ और रानी के षड्यन्त्र के विषय मे बताया। साथ ही कहा—"आप

घबराएं नही, मेरे पिताजी ने इस लाक्षागृह से गगा के किनारे तक सुरग बनवा रखी है और वहा घोडे तैयार खडे हैं। वे आपको इच्छित स्थान तक पहुचा देंगे। शीघ्र चलिए ! आप दोनो को सुरग द्वारा यहाँ से निकालकर मैं गगा के किनारे तक पहुचा देता हूँ।"

इस प्रकार अमात्य धनु की पारिणामिकी बुद्धि द्वारा बनवाई हुई सुरग से राजकुमार ब्रह्मदत्त सकुशल मौत के मुह से निकल गये तथा कालान्तर मे अपनी वीरता एव बुद्धिबल से षट्खड जीतकर चक्रवर्ती सम्राट् बने।

(१०) **क्षपक**—एक बार तपस्वी मुनि भिक्षा के लिए अपने शिष्य के साथ गये। लौटते समय तपस्वी के पैर के नीचे एक मेढक दब गया। शिष्य ने यह देखा तो गुरु से शुद्धि के लिये कहा, किन्तु शिष्य की बात पर तपस्वी ने ध्यान नही दिया। सायकाल प्रतिक्रमण करने के समय पुन. शिष्य ने मेंढक के मरने की बात स्मरण कराते हुए गुरु से विनयपूर्वक प्रायश्चित्त लेने के लिए कहा। किन्तु तपस्वी आग बबूला हो उठा और शिष्य को मारने के लिए झपटा। झोंक मे वह तेजी से आगे बढा किन्तु अधकार होने के कारण शिष्य के पास तो नही पहुँच पाया, एक खभे से मस्तक के बल टकरा गया। सिर फूट गया और उसी क्षण वह मृत्यु का ग्रास बन गया। मरकर वह ज्योतिष्क देव हुआ। फिर वहाँ से च्यवकर दृष्टि-विष सर्प की योनि मे जन्मा। उस योनि मे जातिस्मरण ज्ञान से उसे अपने पूर्व जन्मो का पता चला तो वह घोर पश्चात्ताप से भर गया और फिर बिल मे ही रहने लगा, यह विचारकर कि मेरी दृष्टि के विष से किसी प्राणी का घात न हो जाय।

उन्ही दिनो समीप के राज्य मे एक राजकुमार सर्प के काटने पर मर गया। राजा ने दु ख और क्रोध मे भरकर कई सपेरो को बुलाया तथा राज्यभर के सर्पों को पकडकर मारने की आज्ञा दे दी। एक सपेरा उस दृष्टि-विष सर्प के बिल पर भी जा पहुँचा। उसने सर्प को बाहर निकालने के लिए कोई दवा बिल पर छिडक दी। दवा के प्रभाव से उसे निकलना ही था किन्तु यह सोचकर कि दृष्टि के कारण कोई व्यक्ति मर न जाए, उस सर्प ने पू छ के बल से निकलना प्रारभ किया। ज्यो-ज्यो वह निकलता गया सपेरे ने उसके शरीर के टुकडे-टुकड़े कर दिये। मरते समय भी सर्प ने किंचित् मात्र भी रोष न करते हुए पूर्ण समभाव रखा और उसके परिणामस्वरूप वह उसी राज्य के राजा के यहाँ पुत्र बन कर उत्पन्न हुआ। उसका नाम नागदत्त रखा गया।

नागदत्त पूर्वजन्म के उत्तम सस्कार लेकर जन्मा था, अत वह बाल्यावस्था मे ही ससार से विरक्त हो गया और मुनि बन गया। अपने विनय, सरलता, सेवा एव क्षमा आदि असाधारण गुणो से वह देवो के लिये भी वदनीय बन गया। अन्य मुनि इसी कारण उससे ईर्ष्या करने लगे। पिछले जन्म मे तिर्यंच होने के कारण उसे भूख अधिक लगती थी। इसी कारण वह अनशन तपस्या नही कर सकता था। एक उपवास करना भी उसके लिये कठिन था। एक दिन, जबकि अन्य मुनियो के उपवास थे, नागदत्त भूख सहन न कर पाने के कारण अपने लिए आहार लेकर आया। विनयपूर्वक आहार उसने अन्य मुनियो को दिखाया पर उन्होने उसे भुखमरा कहकर तिरस्कृत करते हुए उस आहार मे थूक दिया। नागदत्त मे इतना सम-भाव एव क्षमा का जबर्दस्त गुण था कि उसने तनिक भी रोष तो नही ही किया, उलटे भूखा न रह पाने के कारण अपनी निन्दा तथा अन्य सभी की प्रशसा करता रहा। ऐसी उपशान्त वृत्ति तथा परिणामो की विशुद्धता के कारण उसी समय उसे केवल-ज्ञान हो गया और देवता कैवल्य-महोत्सव मनाने के लिये उपस्थित हुए। यह देखकर अन्य तपस्वियो

को अपने व्यवहार पर घोर पश्चात्ताप होने लगा। पश्चात्ताप के परिणामस्वरूप उनकी आत्माओ के निर्मल हो जाने से उन्हे भी केवलज्ञान उपलब्ध हो गया।

विपरीत परिस्थितियो मे भी पूर्ण समता एव क्षमा-भाव रखकर कैवल्य को प्राप्त कर लेना नागदत्त की पारिणामिकी बुद्धि के कारण ही सभव हो सका।

(११) **अमात्य पुत्र**—काम्पिल्यपुर के राजा का नाम ब्रह्म, मन्त्री का धनु, राजकुमार का ब्रह्मदत्त तथा मन्त्री के पुत्र का नाम वरधनु था। ब्रह्म की मृत्यु हो जाने पर उसके मित्र दीर्घपृष्ठ ने राज्यकार्य सभाला किन्तु रानी चुलनी से उसका अनैतिक सम्बन्ध हो गया। राजकुमार ब्रह्मदत्त को जब यह ज्ञात हुआ तो उसने अपनी माता तथा दीर्घपृष्ठ को मार डालने की धमकी दी। इस पर दोनो ने कुमार को अपने मार्ग का कटक समझकर उसका विवाह करने तथा विवाहोपरान्त पुत्र और पुत्रवधू को लाक्षागृह मे जला देने का निश्चय किया। किन्तु ब्रह्मदत्त कुमार का वफादार मन्त्री धनु एव उसके पुत्र वरधनु की सहायता से लाक्षागृह मे से निकल गया। वह वृत्तान्त पाठक पढ चुके हैं। तत्पश्चात् जब वे जगल मे जा रहे थे, ब्रह्मदत्त को प्यास लगी। वरधनु राजकुमार को एक वृक्ष के नीचे बिठाकर स्वय पानी लेने चला गया।

इधर जब दीर्घपृष्ठ को राजकुमार के लाक्षागृह से भाग निकलने का पता चला तो उसने कुमार और उसके मित्र वरधनु को खोजकर पकड लाने के लिये अनुचरो को दौडा दिया। सेवक दोनो को खोजते हुए जगल के सरोवर के उसी तीर पर पहुँचे जहाँ वरधनु राजकुमार के लिए पानी भर रहा था। कर्मचारियो ने वरधनु को पकड लिया पर उसी समय वरधनु ने जोर से इस प्रकार शब्द किया कि कुमार ब्रह्मदत्त ने सकेत समझ लिया और वह उसी क्षण घोडे पर सवार होकर भाग निकला।

सेवको ने वरधनु से राजकुमार का पता पूछा, किन्तु उसने नही बताया। तब उन्होने उसे मारना-पीटना आरम्भ कर दिया। इस पर चतुर वरधनु इस प्रकार निश्चेष्ट होकर पड गया कि अनुचर उसे मृत समझकर छोड गये। उनके जाते ही वह उठ बैठा तथा राजकुमार को ढूढने लगा। राजकुमार तो नही मिला पर रास्ते मे उसे सजीवन और निर्जीवन, दो प्रकार की औषधिया प्राप्त हो गई जिन्हे लेकर वह नगर की ओर लौट आया।

जब वह नगर के बाहर ही था, उसे एक चाडाल मिला, उसने बताया कि तुम्हारे परिवार के सभी व्यक्तियो को राजा ने बदी बना लिया है। यह सुनकर वरधनु ने चाडाल को इनाम का लालच देकर उसे 'निर्जीवन' औषधि दी तथा कुछ समझाया। चाडाल ने सहर्ष उसकी बात को स्वीकार कर लिया और किसी तरह वरधनु के परिवार के पास जा पहुँचा। परिवार के मुखिया को उसने औषधि दे दी और वरधनु की बात कही। वरधनु के कथनानुसार निर्जीवन औषधि को पूरे परिवार ने अपनी आखो मे लगा लिया। उसके प्रभाव मे सभी मृतक के समान निश्चेष्ट होकर गिर पडे। यह जानकर दीर्घपृष्ठ ने उन्हे चाडाल को सौपकर कहा—"इन्हे श्मशान मे ले जाओ!" 'अन्धा क्या चाहे, दो आँखे।' चाडाल यही तो चाहता था। वह सभी को श्मशान मे वरधनु के द्वारा बताये गये स्थान पर रख आया। वरधनु ने आकर उन सभी की आँखो मे 'सजीवन' औषधि आज दी। क्षण-मात्र मे ही सब स्वस्थ होकर उठ बैठे और वरधनु को अपने समीप पाकर हर्षित हुए। तत्पश्चात् वरधनु ने अपने परिवार को किसी सम्बधी के यहाँ सकुशल रखा और स्वय राजकुमार ब्रह्मदत्त को

खोजने निकल पडा । दूर जगल मे उसे राजकुमार मिल गया और दोनो मित्र साथ-साथ वहाँ से चले । मार्ग मे अनेक राजाओ से युद्ध करके उन्हे जीता, अनेक कन्याओ से ब्रह्मदत्त का विवाह भी हुआ । धीरे-धीरे छह खण्ड को जीतकर ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती काम्पिल्यपुर आए और दीर्घपृष्ठ को मारकर चक्रवर्ती की ऋद्धि का उपभोग करते हुए सुख एव ऐश्वर्यपूर्ण जीवन व्यतीत करने लगे ।

इस प्रकार मन्त्रीपुत्र वरधनु ने अपनी कुटुम्ब की एव ब्रह्मदत्त की रक्षा करते हुए ब्रह्मदत्त को चक्रवर्ती बनने मे सहायता देकर पारिणामिकी बुद्धि का प्रमाण दिया ।

(१२) **चाणक्य**—नन्द पाटलिपुत्र का राजा था । एक बार किसी कारण उसने चाणक्य नामक ब्राह्मण को अपने नगर से बाहर निकाल दिया । सन्यासी का वेश धारण करके चाणक्य घूमता-फिरता मौर्य देश मे जा पहुँचा । वहाँ पर एक दिन उसने देखा कि एक क्षत्रिय पुरुष अपने घर के बाहर उदास बैठा है । चाणक्य ने इसका कारण पूछ लिया । क्षत्रिय ने बताया—"मेरी पत्नी गर्भवती है और उसे चन्द्रपान करने की इच्छा है । मै इस इच्छा को पूरी नही कर सकता । अत वह अत्यधिक कृश होती जा रही है । डर है कि इस दोहद को लिए हुए वह मर न जाय ।" यह सुनकर चाणक्य ने उसकी पत्नी की इच्छा पूर्ण कर देने का आश्वासन दिया ।

सोच विचारकर चाणक्य ने नगर के बाहर एक तबू लगवाया । उसमे ऊपर की तरफ एक चन्द्राकार छिद्र कर दिया । पूर्णिमा के दिन क्षत्राणी को किसी बहाने उसके पति के साथ वहाँ बुलवाया और तम्बू मे ऊपरी छिद्र के नीचे एक थाली मे कोई पेय-पदार्थ डाल दिया । जब चन्द्र उस छेद के ठीक ऊपर आया तो उसका प्रतिबिम्ब थाली मे भरे हुए पदार्थ पर पडने लगा । उसी समय चाणक्य ने उस स्त्री से कहा—"बहन ! लो इस थाली मे चन्द्र है, इसे पी लो ।" क्षत्राणी प्रसन्न होकर उसे पीने लगी और ज्योही उसने पेय-वस्तु समाप्त की चाणक्य ने रस्सी खीचकर उस छिद्र को बन्द कर दिया । स्त्री ने यही समझा कि मैंने 'चन्द्र' पी लिया है । चन्द्रपान की इच्छा पूर्ण हो जाने से वह शीघ्र स्वस्थ हो गई तथा समय आने पर उसने चन्द्र के समान ही एक अत्यन्त तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया । नाम उसका चन्द्रगुप्त रखा गया । चन्द्रगुप्त जब बडा हुआ तो उसने अपनी माता को 'चन्द्र-पान' कराने वाले चाणक्य को अपना मन्त्री बना लिया तथा उसकी पारिणामिकी बुद्धि की सहायता से नन्द को मारकर पाटलिपुत्र पर अपना अधिकार कर लिया ।

(१३) **स्थूलिभद्र**—जिस समय पाटलिपुत्र मे राजा नन्द राज्य करता था, उसका मन्त्री शकटार नामक एक चतुर पुरुष था । उसके स्थूलिभद्र एव श्रियक नाम के दो पुत्र थे तथा यक्षा, यक्षदत्ता, भूता, भूतदत्ता, सेणा, वेणा और रेणा नाम की सात पुत्रियाँ थी । सबकी स्मरणशक्ति बडी तीव्र थी । अन्तर यही था कि सबसे बडी पुत्री यक्षा एक बार जिस बात को सुन लेती उसे ज्यो की त्यो याद कर लेती । दूसरी यक्षदत्ता दो बार सुनकर और इसी प्रकार बाकी कन्याएँ क्रमश तीन, चार, पाँच, छ और सात बार सुनकर किसी भी बात को याद करके सुना सकती थी ।

पाटलिपुत्र मे ही वररुचि नामक एक ब्राह्मण भी रहता था । वह बडा विद्वान् था । प्रतिदिन एक सौ आठ श्लोको की रचना करके राज-दरबार मे राजा नन्द की स्तुति करता था । नन्द स्तुति सुनता और मन्त्री शकटार की ओर इस अभिप्राय से देखता था कि वह प्रशसा करे तो उसके अनुसार पुरस्कार-स्वरूप कुछ दिया जा सके । किन्तु शकटार मौन रहता अत राजा उसे कुछ नही देता था । वररुचि प्रतिदिन खाली हाथ लौटता था । घर पर उसकी पत्नी उससे झगडा किया करती थी

कि वह कुछ कमाकर नही लाता तो घर का खर्च कैसे चले ? प्रतिदिन पत्नी के उपालम्भ सुन-सुनकर वररुचि बहुत खिन्न हुआ और एक दिन शकटार के घर गया। शकटार की पत्नी ने उसके आने का कारण पूछा तो वररुचि ने सारा हाल कह सुनाया और कहा—"मैं रोज नवीन एक सौ आठ श्लोक बनाकर राजा की स्तुति करता हूँ किन्तु मन्त्री के मौन रहने से राजा मुझे कुछ नही देते और घर मे पत्नी कलह किया करती है। कहती है—कुछ लाते तो हो नही फिर दिन भर कलम क्यो घिसते हो ?"

शकटार की पत्नी बुद्धिमती और दयालु थी। उसने सायकाल शकटार से कहा—"स्वामी ! वररुचि प्रतिदिन एक सौ आठ नए श्लोको के द्वारा राजा की स्तुति करता है। क्या वे श्लोक आपको अच्छे नही लगते ? अच्छे लगते हो तो आप पडित की सराहना क्यो नही करते ?" उत्तर मे मन्त्री ने कहा—"वह मिथ्यात्वी है इसलिये।" पत्नी ने पुन विनयपूर्वक आग्रह करते हुए कहा—'अगर आपके उसकी प्रशसा मे कहे गये दो बोल उस गरीब का भला करते है तो कहने मे हानि ही क्या है ?' शकटार चुप रह गया।

अगले दिन जब वह दरबार मे गया तो वररुचि ने अपने नये श्लोको से राजा की स्तुति की। पत्नी की बात याद आने पर उसने मात्र इतना ही कहा —"उत्तम है।" उसके कहने की देर थी कि राजा ने उसी समय एक सौ आठ सुवर्ण-मुद्राएँ वररुचि को प्रदान कर दी। वररुचि हर्षित होता हुआ अपने घर आ गया। उसके चले जाने पर मन्त्री राजा से बोला—"महाराज ! आपने उसे स्वर्ण-मुद्राएँ वृथा दी। वह तो पुराने व प्रचलित श्लोको से आपकी स्तुति कर जाता है।"

राजा ने आश्चय से कहा—"क्या प्रमाण है इसका कि वे श्लोक किसी के द्वारा पूर्वरचित है ?"

मत्री ने कहा—"मैं सत्य कह रहा हूँ। वह जो श्लोक सुनाता है वे सब तो मेरी लडकियो को भी कठस्थ है। आपको विश्वास न हो तो कल ही दरबार मे प्रमाणित कर दू गा।"

चालाक मत्री अगले दिन अपनी कन्याओ को ले आया और उन्हे परदे के पीछे बैठा दिया। समय पर वररुचि आया और उसने फिर अपने नवीन श्लोको से राजा की स्तुति की। किन्तु शकटार का इशारा पाते ही उसकी सबसे बडी कन्या आई और राजा के समक्ष उसने वररुचि के द्वारा सुनाये गये समस्त श्लोक ज्यो के त्यो सुना दिये। वह एक बार जो सुनती वही उसे याद हो जाता था। राजा ने यह देखकर क्रोधित होकर वररुचि को राजदरबार से निकाल दिया।

वररुचि राजा के व्यवहार से बहुत परेशान हुआ। शकटार से बदला लेने का विचार करते हुए लकडी का एक तख्ता गगा के किनारे ले गया। आधे तख्ते को उसने जल मे डालकर मोहरो की थैली उस पर रख दी और जल से बाहर वाले भाग पर स्वय बैठकर गगा की स्तुति करने लगा। स्तुति पूर्ण होने पर ज्योही उसने तख्ते को दबाया, अगला मोहरो वाला हिस्सा ऊपर उठ आया। इन पर वररुचि ने लोगो को वह थैली दिखाते हुए कहा—"राजा मुझे इनाम नही देता तो क्या हुआ, गगा तो प्रसन्न होकर देती है !"

गगा माता की वररुचि पर कृपा करने की बात सारे नगर मे फैल गई और राजा के कानो तक भी जा पहुँची। राजा ने शकटार से इस विषय मे पूछा तो उसने कह दिया—"महाराज ! सुनी

सुनाई बातो पर विश्वास न करके प्रात काल हमे स्वय वहाँ चलकर आँखो से देखना चाहिये ।" राजा मान गया । घर आकर शकटार ने अपने एक सेवक को आदेश दिया कि तुम रात को गगा के किनारे छिपकर बैठ जाना और जब वररुचि मोहरो की थैली पानी मे रखकर चला जाए तो उसे निकाल लाना । सेवक ने ऐसा ही किया और थैली लाकर मन्त्री को सौप दी ।

अगले दिन सुबह वररुचि आया और सदा की तरह तख्ते पर बैठकर गगा की स्तुति करने लगा । इतने मे ही राजा और मन्त्री भी वहाँ आ गए । स्तुति समाप्त हुई पर तख्ते को दबाने पर भी जब थैली ऊपर नही आई, कोरा तख्ता ही दिखाई दिया तब शकटार ने व्यगपूर्वक कहा—"पडित-प्रवर ! रात को गगा मे छुपाई हुई आपकी थैली तो इधर मेरे पास है ।" यह कहकर शकटार ने सब उपस्थित लोगो को थैली दिखाते हुए वररुचि की पोल खोल दी । वररुचि कटकर रह गया । वह मन्त्री से बदला लेने का अवसर देखने लगा ।

कुछ समय पश्चात् शकटार ने अपने पुत्र श्रियक का विवाह रचाया और राजा को उस खुशी के मौके पर भेट देने के लिये उत्तम शस्त्रास्त्र बनवाने लगा । वररुचि को मौका मिला और उसने अपने कुछ शिष्यो को निम्न श्लोक याद करके नगर मे उसका प्रचार करवा दिया—

"त न विजाणेइ लोओ, ज सकडालो करिस्सइ ।
नन्दराउ मारेवि करि, सिरियउ रज्जे ठवेस्सइ ।।"

अर्थात्—लोग नही जानते कि शकटार मन्त्री क्या करेगा ? वह राजा नन्द को मारकर श्रियक को राज-सिहासन पर आसीन करेगा ।

राजा ने भी यह बात सुनी । उसने शकटार के षड्यन्त्र को सच मान लिया । मन्त्री जब दरबार मे आया और राजा प्रणाम करने लगा तो राजा ने कुपित होकर मुह फेर लिया । राजा के इस व्यवहार से शकटार भयभीत हो गया । और घर आकर सब बताते हुए श्रियक से बोला—

"बेटा ! राजा का भयकर कोप सम्पूर्ण वश का भी नाश कर सकता है । अतएव कल जब मैं राजसभा मे जाऊ और राजा फिर मुँह फेर ले तो तुम मेरे गले पर उसी समय तलवार चला देना । मैं उस समय तालपुट विष अपने मुँह मे रख लूँगा । मेरी मृत्यु उस विष से हो जाएगी, तुम्हे पितृहत्या का पाप नही लगेगा ।" श्रियक ने विवश होकर पिता की बात मान ली ।

अगले दिन शकटार श्रियक सहित दरबार मे गया । जब वह राजा को प्रणाम करने लगा तो राजा ने पुन मुँह फेर लिया । इस पर श्रियक ने उसी झुकी हुई गर्दन को धड से अलग कर दिया । यह देखकर राजा ने चकित होकर कहा—"श्रियक, यह क्या कर दिया ?" श्रियक ने शाति से उत्तर दिया—"देव ! जो व्यक्ति आपको अच्छा न लगे वह हमे कैसे इष्ट हो सकता है ?" शकटार की मृत्यु से राजा खिन्न हुआ, किन्तु श्रियक की वफादारी भरे उत्तर से सतुष्ट भी । उसने कहा—"श्रियक ! अपने पिता के मन्त्री पद को अब तुम्ही सभालो ।" इस पर श्रियक ने विनयपूर्वक उत्तर दिया—"प्रभो ! मै मन्त्री का पद नही ले सकता । मेरे बडे भाई स्थूलिभद्र, जो बारह वर्ष से कोशा गणिका के यहाँ रह रहे है, पिताजी के बाद इस पद के अधिकारी हैं ।" श्रियक की यह बात सुनकर राजा ने उसी समय कर्मचारी को आदेश दिया कि स्थूलिभद्र को कोशा के यहाँ से ससम्मान ले आओ । उसे मन्त्रिपद दिया जायगा ।

राज-सेवक कोशा के यहाँ गये और स्थूलिभद्र को सारा वृत्तान्त सुनाते हुए बोले—"आप राजसभा मे पधारे, महाराज ने बुलाया है।" स्थूलिभद्र उनके साथ दरबार मे आया। राजा ने आसन की ओर इगित करते हुए कहा—"तुम्हारे पिता का निधन हो गया है। अब तुम मन्त्रिपद को सम्हालो।"

स्थूलिभद्र को राजा के प्रस्ताव से तनिक भी प्रसन्नता नही हुई। वह पिता के वियोग से दु खी था ही, साथ ही पिता की मृत्यु मे राजा को ही कारण जानकर अत्यधिक खिन्न भी था। वह भली-भाँति समझ गया था कि राजा का कोई भरोसा नही। आज वह जिस मन्त्रिपद को सहर्ष प्रदान कर रहा है, उसे कल कुपित होकर छीन भी सकता है। अत ऐसे पद व धन के प्राप्त करने से क्या लाभ !

इस प्रकार विचार करते-करते स्थूलिभद्र को विरक्ति हो गई। वह राज-दरबार से उलटे पैरो लौट आया और आचार्य सम्भूतिविजय के समक्ष जाकर उनका शिष्य बन गया। स्थूलिभद्र के मुनि बन जाने पर राजा ने श्रियक को अपना मत्री बनाया।

स्थूलिभद्र मुनि अपने गुरु के साथ ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए सयम का पालन करते रहे तथा ज्ञान-ध्यान मे रत बने रहे। एक बार भ्रमण करते हुए वे पाटलिपुत्र के समीप पहुँचे तथा चातुर्मासकाल निकट होने से गुरुदेव ने वही वर्षावास करने का निश्चय किया। उनके स्थूलिभद्र सहित चार शिष्य थे। चारो ने ही उस बार भिन्न-भिन्न स्थानो पर वर्षाकाल बिताने की गुरु से आज्ञा ले ली। एक ने सिह की गुफा मे, दूसरे ने भयानक सर्प के बिल पर, तीसरे ने एक कुए के किनारे पर तथा चौथे स्थूलिभद्र ने कोशा वेश्या के घर पर। चारो ही अपने-अपने स्थानो पर चले गये।

कोशा वेश्या स्थूलिभद्र मुनि को देखकर अत्यत प्रसन्न हुई और विचार करने लगी कि पूर्व के समान ही भोग-विलास मे समय व्यतीत हो सकेगा। स्थूलिभद्र की इच्छानुसार कोशा ने अपनी चित्रशाला मे उन्हे ठहरा दिया। वह नित्य भाति-भाति के शृ गार तथा हाव-भावादि के द्वारा उन्हे भोगो की ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करने लगी, किन्तु स्थूलिभद्र अब पहले वाले स्थूलिभद्र नही थे। वह तो प्रारभ मे मधुर, आकर्षक और प्रिय लगने वाले किन्तु बाद मे असहनीय पीडा प्रदान करने वाले किंपाक फल के सदृश काम-भोगो को त्याग चुके थे। अत किस प्रकार उनमे पुन लिप्त होकर आत्मा को पतन की ओर अग्रसर करते ? कहा भी है -

"विषयासक्तचित्तो हि यतिर्मोक्ष न विदति।"

—जिसका चित्त साधु-वेश धारण करने के पश्चात् भी विषयासक्त रहता है, ऐसी आत्मा मोक्ष की प्राप्ति नही कर सकती।

कोशा के लाख प्रयत्न करने पर भी उनका मन विचलित नही हुआ। पूर्ण निर्विकार भाव से वह अपनी साधना मे रत रहे। स्थूलिभद्र का शात एव विकार-रहित मुख देखकर कोशा की भोग-लालसा ठीक उसी प्रकार शात हो गई जैसे अग्नि पर शीतल जल गिरने से वह शात हो जाती है। जब स्थूलिभद्र ने यह देखा तो कोशा को प्रतिबोधित किया। उसने श्रावक के व्रत ग्रहण कर लिये।

चातुर्मास की समाप्ति पर चारो शिष्य गुरु की सेवा मे पहुँचे। गुरुजी ने सिह की गुफा

मे, सर्प के बिल तथा कुए के किनारे पर वर्षावास बिताने वाले तीनो शिष्यो की प्रशसा करते हुए कहा—'तुमने दुष्कर कार्य किया ।' किन्तु जब मुनि स्थूलिभद्र ने अपना मस्तक गुरु के चरणो मे झुकाया तो उन्होने कहा—'तुमने अतिदुष्कर कार्य किया है ।' स्थूलिभद्र के लिए गुरु के द्वारा ऐसा कहे जाने से अन्य शिष्यो के हृदय मे ईर्ष्याभाव उत्पन्न हो गया । वे स्वय को स्थूलिभद्र के समान साबित करने का अवसर देखने लगे ।

अगला चातुर्मास आते ही अवसर मिल गया । सिह की गुफा मे चातुर्मास करने वाले शिष्य ने इस बार कोशा वेश्या की चित्रशाला मे वर्षाकाल बिताने की आज्ञा माँगी । गुरु ने उसे आज्ञा नही दी पर वह बिना आज्ञा के ही कोशा के निवास की ओर चल दिया । कोशा ने उसे अपनी रग-शाला मे चातुर्मास व्यतीत करने की अनुमति दे दी । किन्तु मुनि तो उसका रूप-लावण्य देखकर ही अपनी तपस्या व साधना को भूल गया और उससे प्रेम-निवेदन करने लगा । यह देखकर कोशा को बहुत दुख हुआ किन्तु उसने मुनि को सन्मार्ग पर लाने के लिए उपाय खोज निकाला । मुनि से कहा—"मुनिराज ! पहले मुझे एक लाख मोहरे दो ।" भिक्षु यह माग सुनकर चकराया और बोला—भिक्षु हूँ, मेरे पास तो फूटी कौडी भी नही है ।" कोशा ने तब कहा—"नेपाल-नरेश प्रत्येक साधु को एक-एक रत्न-कबल प्रदान करता है जिसका मूल्य एक लाख मोहरे होता है । तुम वहाँ जाकर राजा से कबल माँग लाओ और मुझे दो ।"

काम के वशीभूत हुआ व्यक्ति क्या नही करता ? मुनि भी अपनी सयम-साधना को एक ओर रखकर रत्न-कबल लाने चल दिया । मार्ग मे अनेक कष्ट सहता हुआ वह जैसे-तैसे नेपाल पहुँचा और वहाँ के राजा से एक कबल माँगकर लौटा । किन्तु मार्ग मे चोरो ने उसका कबल छीन लिया और वह रोता-झीकता वापिस नेपाल गया । राजा से अपनी रामकहानी कहकर बडी कठिनाई से उसने दूसरा कबल लिया और उसे एक बॉस मे छिपाकर पुन लौटा । मार्ग मे लुटेरे फिर मिले किन्तु बॉस की लकडी मे छिपे रत्न-कबल को वे नही पा सके और चले गये । इसके बाद भी भूख-प्यास तथा अनेक शारीरिक कष्टो को सहता हुआ मुनि किसी तरह पाटलिपुत्र लौटा और कोशा को उसने रत्न-कबल दिया । किन्तु कोशा ने वह अतिमूल्यवान् रत्नकबल दुर्गन्धमय अशुचि स्थान पर फेक दिया । मुनि ने हडबडाकर कहा—"यह क्या किया ? मैं तो अनेकानेक कष्ट सहकर इतनी दूर से इसे लाया और तुमने यो ही फेक दिया ?"

कोशा ने उत्तर दिया—"मुनिराज ! यह सब मैने तुम्हे पुन सन्मार्ग मे लाने के लिये किया है । रत्न-कबल मूल्यवान् है पर सीमित मूल्य का, किन्तु तुम्हारा सयम तो अनमोल है । सारे ससार का वैभव भी इसकी तुलना मे नगण्य है । ऐसे सयम-धन को तुम काम-भोग रूपी कीचड मे डालकर मलिन करने जा रहे हो ? जरा विचार करो, जिन विषय-भोगो को तुमने विष मानकर त्याग दिया था, क्या अब वमन किये हुए भोगो को पुन ग्रहण करोगे ?"

कोशा की बात सुनकर मुनि की आँखे खुल गई । घोर पश्चात्ताप करता हुआ वह कहने लगा—

"स्थूलिभद्रः स्थूलिभद्रः स एकोऽखिलसाधुषु ।
युक्त दुष्कर-दुष्करकारको गुरुणा जगे ।।"

—वस्तुत सम्पूर्ण साधुओ में स्थूलिभद्र मुनि ही दुष्कर-दुष्कर क्रिया करनेवाले अद्वितीय हैं। गुरुदेव ने उसके लिए जो 'दुष्करातिदुष्कर-कारक' शब्द कहे थे वे यथार्थ हैं।

यही सोचता हुआ मुनि गुरु के समीप आया और अपने पतन के लिये पश्चात्ताप करते हुए प्रायश्चित्त लिया। अपनी आलोचना करते हुए उसने पुन पुन स्थूलिभद्र की प्रशसा की और कहा—

"वेश्या रागवती सदा तदनुगा षड्भी रसैर्भोजन।
शुभ्र धाम मनोहर वपुरहो! नव्यो वयःसगमः॥
कालोऽयं जलदाविलस्तदपि यः, कामजिगायादरात्।
त वंदे युवतिप्रबोधकुशल, श्रीस्थूलभद्र मुनिम्॥

अर्थात्—प्रेम करने वाली तथा उसमे अनुरक्त वेश्या, षट्रस भोजन, मनोहारी महल, सुन्दर शरीर, तरुणावस्था और वर्षाकाल, इन सब अनुकूलताओ के होते हुए भी जिसने कामदेव को जीत लिया, ऐसे वेश्या को प्रतिबोध देकर धर्म मार्ग पर लाने वाले मुनि स्थूलिभद्र को मैं प्रणाम करता हूँ।

वास्तव मे अपनी पारिणामिकी बुद्धि के कारण मत्रिपद और उसके द्वारा प्राप्त भोग के साधन धन-वैभव को ठुकराकर आत्म-कल्याण कर लेने वाले स्थूलिभद्र प्रशसा के पात्र है।

(१४) नासिकपुर का सुन्दरीनन्द—नासिकपुर के नन्द नामक सेठ की सुन्दरी नाम की अत्यन्त रूपवती स्त्री थी। सेठ उसमे इतना अनुरक्त था कि पल भर के लिये भी उसे अपने नेत्रो से ओझल नही करता था। सुन्दरी पत्नी मे इतनी अनुरक्ति देखकर लोग उसे सुन्दरीनन्द ही कहा करते थे।

सुन्दरीनन्द सेठ का एक छोटा भाई मुनि बन गया था। उसे जब ज्ञात हुआ कि स्त्री मे अनुरक्त मेरा बडा भाई अपना भान भूल बैठा है तो वह उसे प्रतिबोध देने के विचार से नासिकपुर आया। जनता को मुनि के आगमन का पता चला तो वह धर्मोपदेश श्रवण करने के लिए गई किन्तु सुन्दरीनन्द वहाँ नही गया। प्रवचन के पश्चात् मुनि ने आहार की गवेषणा करते हुए सुन्दरीनन्द के घर मे भी प्रवेश किया। अपने भाई की स्थिति देखकर मुनि के मन मे विचार आया—जब तक इसे अधिक प्रलोभन नही मिलेगा, इसकी पत्नी-आसक्ति कम नही होगी। उन्होने एक सुन्दर वानरी अपनी वैक्रियलब्धि के द्वारा बनाई और सेठ से पूछा- "क्या यह सुन्दरी जैसी है?" सेठ ने कहा— "यह सुन्दरी से आधी सुन्दर है।" मुनि ने फिर एक विद्याधरी बनाई और सेठ से पूछा—"तुम्हे कैसी लगी?" सेठ ने उत्तर दिया—"यह सुन्दरी जैसी है।" तीसरी बार मुनि ने देवी की विकुर्वणा की और भाई से पुन. वही प्रश्न किया। इस बार सेठ ने उत्तर दिया—"यह तो सुन्दरी से भी अधिक सुन्दर है।" इस पर मुनि ने कहा—"अगर तुम थोडा भी धर्माचार करो तो ऐसी अनेक सुन्दरियाँ तुम्हे सहज ही प्राप्त हो सकती हैं।" मुनि के इन प्रतिबोधपूर्ण वचनो को सुनने से सेठ की समझ मे आ गया कि मुनि का उद्देश्य क्या है? उसी क्षण से उसकी आसक्ति पत्नी मे कम हो गई और कुछ समय पश्चात् उसने भी सयम की आराधना करके आत्म-कल्याण किया। यह सब मुनि ने अपनी पारिणामिकी बुद्धि के द्वारा सभव बनाया।

(१५) वज्रस्वामी—अवन्ती देश मे तुम्बवन सन्निवेश था। वहाँ धनगिरि नामक एक श्रेष्ठि-

पुत्र रहता था। धनगिरि का विवाह धनपाल सेठ की पुत्री सुनन्दा से हुआ था। विवाह के पश्चात् ही धनगिरि की इच्छा सयम ग्रहण करने की हो गई किन्तु सुनन्दा ने किसी प्रकार रोक लिया। कुछ समय पश्चात् ही देवलोक से च्यवकर एक पुण्यवान् जीव सुनन्दा के गर्भ मे आया। पत्नी को गर्भवती जानकर धनगिरि ने कहा—"तुम्हारे जो पुत्र होगा उसके सहारे ही जीवनयापन करना, मै अब दीक्षा ग्रहण करूँगा।" पति की उत्कट इच्छा के कारण सुनन्दा को स्वीकृति देनी पडी। धनगिरि ने आचाय सिहगिरि के पास जाकर मुनिवृत्ति धारण कर ली। सुनन्दा के भाई आर्यसमित भी पहले से ही सिंहगिरि के पास दीक्षित थे। सत-मडली ग्रामानुग्राम विचरण करने लगी।

इधर नौ मास पूरे होने पर सुनन्दा ने एक पुण्यवान् पुत्र को जन्म दिया। जिस समय उसका जन्मोत्सव मनाया जा रहा था, किसी स्त्री ने करुणा से भरकर कहा—"इस बच्चे का पिता अगर मुनि न होकर आज यहाँ होता तो कितना अच्छा लगता ?" बच्चे के कानो मे यह बात गई तो उसे जातिस्मरण हो गया और वह विचार करने लगा—"मेरे पिताजी ने तो मुक्ति का मार्ग अपना ही लिया है, अब मुझे भी कुछ ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे मै ससार से मुक्त हो सकूँ तथा मेरी माँ भी मासारिक बधनो से छुटकारा पा सके।" यह विचार कर उस बालक ने दिन-रात रोना प्रारभ कर दिया। उसका रोना बद करने के लिए उसकी माता तथा सभी स्वजनो ने अनेक प्रयत्न किये पर सफलता नही मिली। सुनन्दा बहुत ही परेशान हुई।

सयोगवश उन्ही दिनो आचार्य सिहगिरि अपने शिष्यो सहित पुन तुम्बवन पधारे। आहार का समय होने पर मुनि आर्यसमित तथा धनगिरि नगर की ओर जाने लगे। उसी समय शुभ शकुनो के आधार पर आचार्य ने उनसे कह दिया—"आज तुम्हे महान् लाभ प्राप्त होगा, अत जो कुछ भी भिक्षा मे मिले, ले आना।" गुरु की आज्ञा स्वीकार कर दोनो मुनि शहर की ओर चल दिये।

जिस समय मुनि सुनन्दा के घर पहुँचे, वह अपने रोते हुए शिशु को चुप करने के लिये प्रयत्न कर रही थी। मुनि धनगिरि ने झोली खोलकर आहार लेने के लिए पात्र बाहर रखा। सुनन्दा के मन मे एकाएक न जाने क्या विचार आया कि उसने बालक को पात्र मे डाल दिया और कहा—"महाराज! अपने बच्चे को आप ही सम्हाले।" अनेक स्त्री-पुरुषो के सामने मुनि धनगिरि ने बालक को ग्रहण किया तथा बिना कुछ कहे झोली उठाकर मथर गति से चल दिये। आश्चर्य सभी को इस बात का हुआ कि बालक ने भी रोना बिल्कुल बद कर दिया था।

आचार्य सिंहगिरि के समक्ष जब वे पहुँचे तो उन्होने झोली को भारी देखकर पूछा—"यह वज्र जैसी भारी वस्तु क्या लाये हो ?" धनगिरि ने बालक सहित पात्र गुरु के आगे रख दिया। गुरु पात्र मे तेजस्वी शिशु को देखकर चकित भी हुए और हर्षित भी। उन्होने यह कहते हुए कि यह बालक आगे चलकर शासन का आधारभूत बनेगा, उसका नाम 'वज्र' ही रख दिया। बच्चा छोटा था अत उन्होने उसके पालन-पोषण का भार सघ को सौप दिया। शिशु वज्र चन्द्रमा की कलाओ के समान तेजोमय बनता हुआ दिन-प्रतिदिन बडा होने लगा। कुछ समय बाद सुनन्दा ने सघ से अपना पुत्र वापिस माँगा किन्तु सघ ने उसे 'अन्य की अमानत' कहकर देने से इन्कार कर दिया। मन मारकर सुनन्दा वापिस लौट आई और अवसर की प्रतीक्षा करने लगी। वह अवसर उसे तब प्राप्त हुआ, तब आचार्य सिंहगिरि विचरण करते हुए अपने शिष्य-समुदाय सहित पुन तुम्बवन पधारे। सुनन्दा ने आचार्य के आगमन का समाचार सुनते ही उनके पास जाकर अपना पुत्र माँगा किन्तु आचार्य के न देने पर

वह दुखी होकर वहाँ के राजा के पास पहुँची। राजा ने सारी बात सुनी और सोच-विचारकर कहा—'एक ओर बच्चे की माता को बैठाया जाय तथा दूसरी ओर उसके मुनि बन चुके पिता को। बच्चा दोनों में से जिसके पास चला जाय, उसी के पास रहेगा।'

अगले दिन ही राजसभा मे यह प्रबध किया गया। वज्र की माता सुनन्दा बच्चो को लुभाने वाले आकर्षक खिलौने तथा खाने-पीने की अनेक वस्तुएँ लेकर एक ओर बैठी तथा राजसभा के मध्य मे बैठे हुए अपने पुत्र को अपनी ओर आने का सकेत करने लगी। किन्तु बालक ने सोचा—"अगर मैं माता के पास नही जाऊगा तो यह मोहरहित होकर आत्म-कल्याण मे जुट जाएगी। इससे हम दोनो का कल्याण होगा।' यह विचारकर बालक ने न तो माता के समक्ष रखे हुए उत्तमोत्तम पदार्थों की ओर देखा और न ही वहा से इच मात्र भी हिला।

अब बारी आई उसके पिता मुनि धनगिरि की। मुनि ने बच्चे को सबोधित करते हुए कहा—

"जइसि कयज्झवसाओ, धम्मज्झयमूसिअं इमं वइर!
गिण्ह लहु रयहरणं, कम्म-रयपमज्जणं धीर!!"

अर्थात् हे वज्र! अगर तुमने निश्चय कर लिया है तो धर्माचरण के चिह्नभूत और कर्मरज को प्रमार्जित करने वाले इस रजोहरण को ग्रहण करो।

ये शब्द सुनने की ही देर थी कि बालक ने तुरन्त अपने पिता की ओर जाकर रजोहरण उठा लिया।

यह देखकर राजा ने बालक आचार्य सिंहगिरि को सौंप दिया और उन्होने उसी समय राजा एवं सघ की आज्ञा प्राप्त कर उसे दीक्षा प्रदान कर दी।

सुनन्दा ने विचारा—"जब मेरे पति, पुत्र एव भाई सभी सासारिक बधनो को तोडकर दीक्षित हो गए हैं तो मैं ही अकेली घर में रहकर क्या करूगी?" बस, वह भी सयम लेने के लिये तैयार हो गई और आत्मकल्याण के मार्ग पर अग्रसर हुई।

आचार्य सिंहगिरि ने अन्यत्र विहार कर दिया। वज्रमुनि बडा मेधावी था। जिस समय आचार्य अन्य मुनियो को वाचना देते, वह एकाग्र एव दत्तचित्त होकर सुनता रहता। मात्र सुन-सुनकर ही उसने ग्यारह अगो का ज्ञान प्राप्त कर लिया और क्रमश पूर्वों का भी ज्ञान प्राप्त किया।

एक बार आचार्य उपाश्रय से बाहर गए हुए थे। अन्य मुनि आहार के लिये निकल गये थे। तब वज्रमुनि ने, जो उस समय भी बालक ही थे, खेल-खेल मे ही सतो के वस्त्र एव पात्रादि को पक्ति-बद्ध रखा और स्वय उन के मध्य मे बैठ गये। तत्पश्चात् उन वस्त्र-पात्रो को ही अपने शिष्य मानकर वाचना देना प्रारभ कर दिया। जब आचार्य बाहर से लौटे तो दूर से ही उन्हे वाचना देने की ध्वनि सुनाई दी। वे वही रुककर सुनने लगे। उन्होने वज्रमुनि की आवाज पहचानी और उनकी वाचना देने की शैली और ज्ञान को समझा। सभी कुछ देखकर वे घोर आश्चर्य मे पड गये कि इतने छोटे से बालक मुनि को इतना ज्ञान कैसे हो गया? और वाचना देने का इतना सुन्दर ढग भी किस प्रकार आया? उसकी प्रतिभा के कायल होते हुए उन्होंने उपाश्रय मे प्रवेश किया। आचार्य को देखते ही वज्रमुनि ने उठकर उनके चरणो मे विनयपूर्वक नमस्कार किया तथा समस्त उपकरणो

को यथास्थान रख दिया। इसी बीच अन्य मुनि भी आ गए तथा आहारादि ग्रहण करके अपने-अपने कार्यों मे व्यस्त हो गये।

इसके अनन्तर आचार्य सिंहगिरि कुछ समय के लिए अन्यत्र विहार कर गये और वज्रमुनि को वाचना देने का कार्य सौप गये। बालक वज्रमुनि आगमो के सूक्ष्म से सूक्ष्म रहस्य को इस सहजता से समझाने लगे कि मन्दबुद्धि मुनि भी उसे हृदयगम करने लगे। यहाँ तक कि उन्हे पूर्व प्राप्त ज्ञान मे जो शकाएँ थी, वज्रमुनि ने शास्त्रो की विस्तृत व्याख्या के द्वारा उनका भी समाधान कर दिया। सभी साधुओं के हृदय मे वज्रमुनि के प्रति असीम श्रद्धा उत्पन्न हो गई और वे विनयपूर्वक उनसे वाचना लेते रहे।

आचार्य पुन लौटे तथा मुनियो से वज्रमुनि की वाचना के विषय मे पूछा। मुनियो ने पूर्ण सन्तोष व्यक्त करते हुए उत्तर दिया- "गुरुदेव ! वज्रमुनि सम्यक् प्रकार से हमे वाचना दे रहे है, कृपया सदा के लिए यह कार्य इन्हे सौप दीजिए।" आचार्य यह सुनकर अत्यन्त सन्तुष्ट एव प्रसन्न हुए और बोले—"वज्रमुनि के प्रति आप सबका स्नेह व सद्भाव जानकर मुझे सन्तोष हुआ। मैंने इनकी योग्यता तथा कुशलता का परिचय देने के लिये ही इन्हे यह कार्य सौपकर विहार किया था।" तत्पश्चात् यह सोचकर कि गुरुमुख से ग्रहण किये बिना कोई वाचनागुरु नही बन सकता, आचार्य ने श्रुतधर वज्रमुनि को अपना ज्ञान स्वय प्रदान किया।

ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए एक समय आचार्य अपने सन्त समुदाय सहित दशपुर नगर मे पधारे। उन्ही दिनो अवन्ती नगरी मे आचार्य भद्रगुप्त वृद्धावस्था के कारण स्थिरवास कर रहे थे। सिहगिरि ने अपने दो अन्य शिष्यो के साथ वज्रमुनि को उनकी सेवा मे भेज दिया। वज्रमुनि ने आचार्य भद्रगुप्त की सेवा मे रहकर उनसे दस पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किया। उसके बाद ही आचार्य सिहगिरि देवलोकवासी हुए किन्तु उससे पहले उन्होने वज्रमुनि को आचार्यपद प्रदान कर दिया।

अब आचार्य वज्रमुनि विचरण करते हुए स्व-परकल्याण मे रत हो गये। उनके तेजस्वी स्वरूप, अथाह शास्त्रीय ज्ञान, अनेक लब्धियो और इसी प्रकार की अन्य विशेषताओ ने सर्व दिशाओ मे उनके प्रभाव को फैला दिया और असख्य भटकी हुई आत्माओ ने उनसे प्रतिबोध प्राप्तकर आत्म-कल्याण किया।

वज्रमुनि ने अपनी पारिणामिकी बुद्धि के द्वारा ही माता के मोह को दूर करके उसे मुक्ति के मार्ग पर लगाया तथा स्वय भी सयम ग्रहण करके अपना तथा अनेकानेक भव्य प्राणियो का उद्धार किया।

(१६) **चरणाहत**—किसी नगर मे एक युवा राजा राज्य करता था। उसकी अपरिपक्व अवस्था का लाभ उठाने के लिये कुछ युवको ने आकर उसे सलाह दी- -"महाराज ! आप तरुण है तो आपका कार्य-सचालन करने के लिए भी तरुण व्यक्ति ही होने चाहिए। ऐसे व्यक्ति अपनी शक्ति व योग्यता से कुशलतापूर्वक राज्य-कार्य करेंगे। वृद्धजन अशक्त होने के कारण किसी भी कार्य को ठीक प्रकार से नही कर सकते।"

राजा यद्यपि नवयुवक था, किन्तु अत्यन्त बुद्धिमान् था। उसने उन युवको की परीक्षा लेने का विचार करते हुए पूछा—"अगर मेरे मस्तक पर कोई अपने पैर से प्रहार करे तो उसे क्या दड देना चाहिये ?"

युवकों ने तुरन्त उत्तर दिया—"ऐसे व्यक्ति के टुकडे-टुकडे कर देना चाहिए।" राजा ने यही प्रश्न दरबार के अनुभवी वृद्धो से भी किया। उन्होने सोच विचारकर उत्तर दिया—"देव! जो व्यक्ति आपके मस्तक पर चरणो से प्रहार करे उसे प्यार करना चाहिए तथा वस्त्राभूषणो से लाद देना चाहिये।"

वृद्धो का उत्तर सुनकर नवयुवक आपे से बाहर हो गये। राजा ने उन्हे शात करते हुए उन वृद्धों से अपनी बात को स्पष्ट करने के लिये कहा। एक बुजुर्ग दरबारी ने उत्तर दिया—"महाराज! आपके मस्तक पर चरणो का प्रहार आपके पुत्र के अलावा और कौन करने का साहस कर सकता है? और शिशु राजकुमार को भला कौन-सा दड दिया जाना चाहिए?"

वृद्ध का उत्तर सुनकर सभी नवयुवक अपनी अज्ञानता पर लज्जित होकर पानी-पानी हो गये। राजा ने प्रसन्न होकर अपने वयोवृद्ध दरबारियो को उपहार प्रदान किये तथा उन्हे ही अपने पदो पर रखा। युवको से राजा ने कहा—"राज्यकार्य मे शक्ति की अपेक्षा बुद्धि की आवश्यकता अधिक होती है।" इस प्रकार वृद्धो ने तथा राजा ने भी अपनी पारिणामिकी बुद्धि का परिचय दिया।

(१७) **आँवला**—एक कुम्हार ने किसी व्यक्ति को मूर्ख बनाने के लिये पीली मिट्टी का एक आँवला बनाकर दिया जो ठीक आँवले के सदृश ही था। आँवला हाथ मे लेकर वह व्यक्ति विचार करने लगा—"यह आकृति मे तो आँवले जैसा है, किन्तु कठोर है और यह ऋतु भी आँवलो की नही है।" अपनी पारिणामिकी बुद्धि से उसने आँवले की कृत्रिमता को जान लिया और उसे फेंक दिया।

(१८) **मणि**—किसी जगल मे एक मणिधर सर्प रहता था। रात्रि मे वह वृक्ष पर चढकर पक्षियो के बच्चो को खा जाता था। एक बार वह अपने शरीर को सभाल नही सका और वृक्ष से नीचे गिर पडा। गिरते समय उसकी मणि भी वृक्ष की डालियो मे अटक गई। उस वृक्ष के नीचे एक कुआ था। मणि के प्रकाश से उसका पानी लाल दिखाई देने लगा। प्रात काल एक बालक खेलता हुआ उधर आ निकला और कुए के चमकते हुए पानी को देखकर घर जाकर अपने वृद्ध पिता को बुला लाया। वृद्ध पिता पारिणामिकी बुद्धि से सम्पन्न था। उसने पानी को देखा और जहाँ से पानी का प्रतिबिब पडता था, वृक्ष के उस स्थान पर चढकर मणि खोज लाया। अत्यन्त प्रसन्न होकर पिता पुत्र घर की ओर चल दिये।

(१९) **सर्प**—भगवान् महावीर ने दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् प्रथम चातुर्मास अस्थिक ग्राम मे किया तथा चातुर्मास के पश्चात् श्वेताम्बिका नगरी की ओर विहार कर दिया। कुछ आगे बढने पर ग्वालो ने उनसे कहा—"भगवन्! आप इधर से न पधारे क्योकि मार्ग मे एक बडा भयकर दृष्टिविष सर्प रहता है, जिसके कारण दूर-दूर तक कोई भी प्राणी जाने का साहस नही करता। आप श्वेताम्बिका नगरी के लिए दूसरा मार्ग ग्रहण करे।" भगवान् ने ग्वालो की बात सुनी पर उस सर्प को प्रतिबोध देने की भावना से वे उसी मार्ग पर आगे बढ गये।

चलते-चलते वे विषधर सर्प की बाँबी पर पहुँचे और वही कायोत्सर्ग मे स्थिर हो गए। कुछ क्षणो के पश्चात् ही नाग बाहर आया और अपने बिल के समीप ही एक व्यक्ति को खडे देखकर क्रोधित हो गया। उसने अपनी विषैली दृष्टि भगवान् पर डाली किन्तु उन पर कोई असर नही हुआ। यह देखकर सर्प ने आगबबूला होकर सूर्य की ओर देखा तथा फुफकारते हुए पुन विषाक्त

दृष्टि उन पर फेंकी। उसका भी जब असर नही हुआ तो उसने तेजी से सरसराते हुए आकर भगवान् के चरण के अँगूठे को जोर से डस लिया। पर डसने के बाद स्वय ही यह देखकर घोर आश्चर्य मे पड गया कि उसके विष का तो कोई प्रभाव हुआ नही उलटे अँगूठे से निकले हुए रक्त का स्वाद ही बडा मधुर और विलक्षण है! यह अनुभव करने के बाद उसे विचार आया—यह साधारण नही अपितु कोई विलक्षण और अलौकिक पुरुष है। बस, सर्प का क्रोध शान्त तो हुआ ही, उलटा वह बहुत भयभीत होकर दीन-दृष्टि से ध्यानस्थ भगवान् की ओर देखने लगा।

तब महावीर प्रभु ने ध्यान खोला और अत्यन्त स्नेहपूर्ण दृष्टि से उसे सम्बोधित करते हुए कहा—"हे चण्डकौशिक! बोध को प्राप्त करो तथा अपने पूर्व भव को स्मरण करो! पूर्व जन्म मे तुम साधु थे और एक शिष्य के गुरु भी। एक दिन तुम दोनो आहार लेकर लौट रहे थे, तब तुम्हारे पैर के नीचे एक मेढक दबकर मर गया था। तुम्हारे शिष्य ने उसी समय तुमसे आलोचना करने के लिए कहा था किन्तु तुमने ध्यान नही दिया। शिष्य ने सोचा—'गुरुदेव स्वय तपस्वी है, सायकाल स्वय आलोचना करेंगे।' किन्तु तुमने सायकाल प्रतिक्रमण के समय भी आलोचना नही की तो सहज भाव से शिष्य ने आलोचना करने का स्मरण कराया। पर उसकी बात सुनते ही तुम क्रोध मे पागल होकर शिष्य को मारने के लिए दौडे परन्तु मध्य मे स्थित एक खंभे से टकरा गये। तुम्हारा मस्तक स्तभ से टकराकर फट गया और तुम मृत्यु को प्राप्त हुए। भयकर क्रोध करते समय मरने मे तो तुम्हे यह सर्प-योनि मिली है और अब पुन क्रोध के वशीभूत होकर अपना जन्म बिगाड रहे हो! चण्डकौशिक, अब स्वय को सम्हालो, प्रतिबोध को प्राप्त करो।"

ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से तथा भगवान् के उपदेश से चण्डकौशिक को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। उसने अपने पूर्वभव को जाना। अपने क्रोध व अपराध के लिए पश्चात्ताप करने लगा। उसी समय उसने भगवान् को विनयपूर्वक वन्दना की तथा आजीवन अनशन कर लिया। साथ ही दृष्टिविष होने के कारण उसने अपना मुह बिल मे डाल लिया, शरीर बाहर रहा।

कुछ काल पश्चात् ग्वाले भगवान् की तलाश मे उधर आए। उन्हे सकुशल वहाँ से रवाना होते देख वे महान् आश्चर्य मे पड गए। इधर जब उन्होने चण्डकौशिक को बिल मे मुह डालकर पडे देखा तो उस पर पत्थर तथा लकडी आदि से प्रहार करने लगे। चण्डकौशिक सभी चोटो को समभाव से सहन करता रहा। उसने बिल से बाहर अपना मुंह नही किया। जब आसपास के लोगो को इस बात का पता चला तो झुड के झुड बनाकर सब सर्प को देखने के लिए आने लगे। सर्प के शरीर पर पडे घावो पर चीटियाँ और अन्य जीव इकट्ठे हो गये थे और उसके शरीर को उन सबने काट-काटकर चालनी के समान बना दिया था। पन्द्रह दिन तक चण्डकौशिक सर्प सब यातनाओ को शाति से सहता रहा। यहाँ तक कि उसने अपने शरीर को भी नही हिलाया, यह सोचकर कि मेरे हिलने से चीटियाँ अथवा अन्य छोटे-छोटे कीडे-मकोडे दब कर मर जाएगे।

पन्द्रह दिन पश्चात् अपने अनशन को पूरा कर वह मृत्यु को प्राप्त हुआ तथा सहस्रार नामक आठवें देवलोक मे उत्पन्न हुआ। यह उसकी पारिणामिकी बुद्धि थी।

(२०) **गेंडा**—एक व्यक्ति ने युवावस्था मे श्रावक के व्रतो को धारण किया किन्तु उन्हे सम्यक् प्रकार से पाल नही सका। कुछ काल पश्चात् वह रोगग्रस्त हो गया और अपने भग किये हुए व्रतों की आलोचना नही कर पाया। वैसी स्थिति मे जब उसकी मृत्यु हो गई तो धर्म से पतित होने

के कारण एक जंगल मे गेडे के रूप मे उत्पन्न हुआ। अपने क्रूर परिणामो के कारण वह जगल के अन्य जीवो को तो मारता ही था, आने-जाने वाले मनुष्यो को भी मार डालता था।

एक बार कुछ मुनि उस जगल में से विहार करते हुए जा रहे थे। गेडे ने ज्यो ही उन्हे देखा, क्रोधपूर्वक उन्हे मारने के लिए दौडा। किन्तु मुनियो के तप, तेज व अहिंसा आदि धर्म के प्रभाव से वह उन तक पहुँच नही पाया और अपने उद्देश्य मे असफल रहा। गेंडा यह देखकर विचार मे पड गया और अपने निस्तेज होने के कारण को खोजने लगा। धीरे-धीरे उसका क्रोध शात हुआ और उसे ज्ञानावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से जातिस्मरण ज्ञान हो गया। अपने पूर्वभव को जानकर उसे बडी ग्लानि हुई और उसी समय उसने अनशन कर लिया। आयुष्य पूरा हो जाने पर वह देवलोक मे देव हुआ। अपनी पारिणामिकी बुद्धि के कारण ही गेडे ने देवत्व प्राप्त किया।

(२१) **स्तूप-भेदन**—कुणिक और विहल्लकुमार, दोनो ही राजा श्रेणिक के पुत्र थे। श्रेणिक ने अपने जीवनकाल मे ही सेचनक हाथी तथा वङ्कचूड हार दोनो विहल्लकुमार को दे दिये थे तथा कुणिक राजा बन गया था। विहल्लकुमार प्रतिदिन अपनी रानियो के साथ हाथी पर बैठकर जल-क्रीडा के लिये गगातट पर जाता था। हाथी रानियो को अपनी सूंड से उठाकर नाना प्रकार से उनका मनोरजन करता था। विहल्लकुमार तथा उसकी रानियो की मनोरजक क्रीडाएँ देखकर जनता भाति-भाति से उनकी सराहना करती थी तथा कहती थी कि राज्य-लक्ष्मी का सच्चा उपभोग तो विहल्लकुमार ही करता है।

राजा कुणिक की रानी पद्मावती के मन मे यह सब सुनकर ईर्ष्या होती थी। वह सोचती थी—महारानी मैं हूँ पर अधिक सुख-भोग विहल्लकुमार की रानियाँ करती है। उसने अपने पति राजा कुणिक से कहा—"यदि सेचनक हाथी और प्रसिद्ध हार मेरे पास नही है तो मै रानी किस प्रकार कहला सकती हूँ ? मुझे दोनो चीजे चाहिए।" कुणिक ने पहले तो पद्मावती की बात पर ध्यान नही दिया किन्तु उसके बार-बार आग्रह करने पर विहल्लकुमार से हाथी और हार देने के लिये कहा। विहल्लकुमार ने उत्तर मे कहा—"अगर आप हार और हाथी लेना चाहते है तो मेरे हिस्से का राज्य मुझे दे दीजिए।" कुणिक इस बात के लिए तैयार नही हुआ और उसने दोनो चीजे विहल्ल से जबर्दस्ती ले लेने का निश्चय किया। विहल्ल को इस बात का पता चला तो वह हार और हाथी लेकर रानियो के साथ अपने नाना राजा चेडा के पास विशाला नगरी मे चला गया।

राजा कुणिक को बडा क्रोध आया और उसने राजा चेडा के पास दूत द्वारा सदेश भेजा—"राज्य की श्रेष्ठ वस्तुएँ राजा की होती हैं, अत हार और हाथी सहित विहल्लकुमार व उसके अन्त पुर को आप वापिस भेज दे अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जाएँ।"

कुणिक के सदेश के उत्तर मे चेडा ने कहलवा दिया -"जिस प्रकार राजा श्रेणिक व चेलना रानी का पुत्र कुणिक मेरा दौहित्र है, उसी प्रकार विहल्लकुमार भी है। विहल्ल को श्रेणिक ने अपने जीवनकाल मे ही ये दोनो चीजें प्रदान कर दी थी, अत उसी का अधिकार उस पर है। फिर भी अगर कुणिक इन दोनो को लेना चाहता है तो विहल्लकुमार को आधा राज्य दे दे। ऐसा न करने पर अगर वह युद्ध करना चाहे तो मैं भी तैयार हूँ।"

राजा चेडा का उत्तर दूत ने कुणिक को ज्यो का त्यो कह सुनाया। सुनकर कुणिक क्रोध के मारे आपे मे न रहा और अपने अन्य भाइयो के साथ विशाल सेना लेकर विशाला नगरी पर चढाई

करने के लिये चल दिया । राजा चेडा ने भी कई अन्य गण-राजाओ को साथ लेकर कुणिक का सामना करने के लिये युद्ध के मैदान की ओर प्रयाण किया ।

दोनो पक्षो मे भीषण युद्ध हुआ और लाखो व्यक्ति काल-कवलित हो गये । इस युद्ध मे राजा चेडा पराजित हुआ और वह पीछे हटकर विशाला नगरी मे आ गया । नगरी के चारो ओर विशाल परकोटा था, जिसमे रहे हुए सब द्वार बद करवा दिए गए । कुणिक ने परकोटे को जगह-जगह से तोडने की कोशिश की पर सफलता नही मिली । इस बीच आकाशवाणी हुई—"अगर कूलबालक साधु मागधिका वेश्या के साथ रमण करे तो कुणिक नगरी का कोट गिराकर उस पर अपना अधिकार कर सकता है ।"

कुणिक आकाशवाणी सुनकर चकित हुआ पर उस पर विश्वास करते हुए उसने उसी समय मागधिका गणिका को लाने के लिए राज-सेवको को दौडा दिया । मागधिका आ गई और राजा की आज्ञा शिरोधार्य करके वह कूलबालक मुनि को लाने चल दी ।

कूलबालक एक महाक्रोधी और दुष्ट-बुद्धि साधु था । जब वह अपने गुरु के साथ रहता था तो उनकी हितकारी शिक्षा का भी गलत अर्थ निकालकर उनपर क्रुद्ध होता रहता था । एक बार वह अपने गुरु के साथ किसी पहाडी मार्ग पर चल रहा था कि किसी बात पर क्रोध आते ही उसने गुरुजी को मार डालने के लिए एक बडा भारी पत्थर पीछे से उनकी ओर लुढका दिया । अपनी ओर पत्थर आता देखकर आचार्य तो एक ओर होकर उससे बच गए किन्तु शिष्य के ऐसे घृणित और असहनीय कुकृत्य पर कुपित होकर उन्होने कहा—"दुष्ट ! किसी को मार डालने जैसा नीच कर्म भी तू कर सकता है ? जा ! तेरा पतन भी किसी स्त्री के द्वारा होगा ।"

कूलबालक सदैव गुरु की आज्ञा से विपरीत ही कार्य करता था । उनकी इस बात को भी झूठा साबित करने के लिए वह एक निर्जन प्रदेश मे चला गया । वहाँ स्त्री तो क्या पुरुष भी नही रहते थे । वही एक नदी के किनारे ध्यानस्थ होकर वह तपस्या करता था । आहार के लिए भी कभी वह गाव मे नही जाता था अपितु सयोगवश कभी कोई यात्री उधर से गुजरता तो उससे कुछ प्राप्त करके शरीर को टिकाये रहता था । एक बार नदी मे बडे जोरो से बाढ आई, उसके बहाव मे वह पलमात्र मे बह सकता था, किन्तु उसकी घोर तपस्या के कारण ही नदी का बहाव दूसरी ओर हो गया । यह आश्चर्यजनक घटना देखकर लोगो ने उसका नाम 'कूलबालक मुनि' रख दिया ।

इधर जब राजा कुणिक ने मागधिका वेश्या को भेजा तो उसने पहले तो कूलबालक के स्थान का पता लगाया और फिर स्वय ढोगी श्राविका बनकर नदी के समीप ही रहने लगी । अपनी सेवाभक्ति से द्वारा उसने कूलबालक को आकर्षित किया तथा आहार लेने के लिए आग्रह किया । जब वह भिक्षा लेने के लिए मागधिका के यहाँ गया तो उसने खाने की वस्तुएँ विरेचक औषधि-मिश्रित दे दी, जिनके कारण कूलबालक को अतिसार की बीमारी हो गई । बीमारी के कारण वेश्या साधु की सेवा-शुश्रूषा करने लगी । इसी दौरान वेश्या के स्पर्श से साधु का मन विचलित हो गया और वह अपने चारित्र से भ्रष्ट हुआ । साधु की यह स्थिति अपने अनुकूल जानकर वेश्या उसे कुणिक के पास ले आई ।

कुणिक ने कूलबालक साधु से पूछा—"विशाला नगरी का यह दृढ और महाकाय कोट कैसे तोडा जा सकता है ?" कूलबालक अपने साधुत्व से भ्रष्ट तो हो ही चुका था, उसने नैमित्तिक का

वेष धारण किया और राजा से बोला—"महाराज ! मैं नगरी मे जाता हूँ पर जब श्वेत वस्त्र हिलाकर आपको सकेन दूँ तब आप सेना को लेकर कुछ पीछे हट जाइयेगा।"

नैमित्तिक का रूप होने से उसे नगर मे प्रवेश करने दिया गया और नगरवासियो ने पूछा—"महाराज ! राजा कुणिक ने हमारी नगरी के चारो ओर घेरा डाल रखा है, इस सकट से हमे कैसे छुटकारा मिल सकता है ?" कूलबालक ने अपने ज्ञानाभ्यास द्वारा जान लिया था कि नगरी मे जो स्तूप बना हुआ है, इसका प्रभाव जबतक रहेगा, कुणिक विजय प्राप्त नही कर सकता। अत उन नगरवासियो के द्वारा ही छल से उसे गिरवाने का उपाय सोच लिया। वह बोला—"भाइयो ! तुम्हारी नगरी मे अमुक स्थान पर जो स्तूप खडा है, जबतक वह नष्ट नही हो जायगा, तबतक कुणिक घेरा डाले रहेगा और तुम्हे सकट से मुक्ति नही मिलेगी। अत इसे गिरा दो तो कुणिक हट जाएगा।"

भोले नागरिको ने नैमित्तिक की बात पर विश्वास करके स्तूप को तोडना प्रारम्भ कर दिया। इसी बीच कपटी नैमित्तिक ने सफेद वस्त्र हिलाकर अपनी योजनानुसार कुणिक को पीछे हटने का सकेत किया और कुणिक सेना को कुछ पीछे हटा ले गया। नागरिको ने जब यह देखा कि स्तूप के थोडा सा तोडते ही कुणिक की सेना पीछे हट रही है तो उसे पूरी तरह भगा देने के लिये स्तूप को बडे उत्साह से तोडना प्रारम्भ कर दिया। कुछ समय मे ही स्तूप धराशायी हो गया। पर हुआ यह कि ज्योही स्तूप टूटा, उसका नगर-कोट की दृढता पर रहा हुआ प्रभाव समाप्त हो गया और कुणिक ने तुरन्त आगे बढकर कोट तोडते हुए विशाला पर अपना अधिकार कर लिया।

कूलबालक साधु को अपने वश मे कर लेने की पारिणामिकी बुद्धि वेश्या की थी और स्तूप-भेदन कराकर कुणिक को विजय प्राप्त कराने मे कूलबालक की पारिणामिकी बुद्धि ने कार्य किया।

अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान का वर्णन पूर्ण हुआ।

श्रुतनिश्रित मतिज्ञान

५३—से किं त सुयनिस्सिय ?

सुयनिस्सिय चउव्विहं पण्णत्तं, त जहा—

(१) उग्गहे (२) ईहा (३) अवाओ (४) धारणा। ॥ सूत्र २७ ॥

५३—शिष्य ने पूछा—श्रुतनिश्रित मतिज्ञान कितने प्रकार का है ?

गुरु ने उत्तर दिया—वह चार प्रकार का है यथा—

(१) अवग्रह (२) ईह (३) अवाय (४) धारणा।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि कभी तो मतिज्ञान स्वतत्र रूप से कार्य करता है और कभी श्रुतज्ञान के सहयोग से। जो मतिज्ञान श्रुतज्ञान के पूर्वकालिक सस्कारो के निमित्त से उत्पन्न होता है, उसके चार भेद हो जाते है—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। इनकी सक्षिप्त व्याख्या निम्न प्रकार से है—

(१) अवग्रह—जो ज्ञान नाम, जाति, विशेष्य, विशेषण आदि विशेषताओ से रहित, मात्र सामान्य को ही जानता है वह अवग्रह कहलाता है। वादिदेवसूरि लिखते हैं—"विषय—विषयिसन्नि-

पातानन्तरसमुद्भूत-सत्तामात्रगोचर-दर्शनाज्जातमाद्यम्, अवान्तरसामान्याकारविशिष्टवस्तुग्रहणमवग्रह ।"

—प्रमाणनयतत्त्वालोक, परि २ सू०

अर्थात्—विषय-पदार्थ और विषयी-इन्द्रिय, नो-इन्द्रिय आदि का यथोचित देश मे सम्बन्ध होने पर सत्तामात्र (महासत्ता) को जाननेवाला दर्शन उत्पन्न होता है। इसके अनन्तर सबसे पहले मनुष्यत्व, जीवत्व, द्रव्यत्व आदि अवान्तर (अपर) सामान्य से युक्त वस्तु को जाननेवाला ज्ञान अवग्रह कहलाता है।

जैनागमो मे उपयोग के दो प्रकार बताये हैं—(१) साकार उपयोग तथा (२) अनाकार उपयोग। इन्ही को ज्ञानोपयोग एव दर्शनोपयोग भी कहा गया है। ज्ञान का पूर्वभावी होने से दर्शनोपयोग का भी वर्णन ज्ञानोपयोग का वर्णन करने के लिए किया गया है। ज्ञान की यह धारा उत्तरोत्तर विशेष की ओर झुकती जाती है।

(२) **ईहा**—भाष्यकार ने ईहा की परिभाषा करते हुए बताया है—अवग्रह मे सत् और असत् दोनो से अतीत सामान्यमात्र का ग्रहण होता है किन्तु उसकी छानबीन करके असत् को छोडते हुए सत् रूप का ग्रहण करना ईहा का कार्य है। प्रमाणनय-तत्त्वालोक मे भी ईहा का स्पष्टीकरण करते हुए बताया है "अवगृहीतार्थविशेषाकाङ्क्षणमीहा।"

अर्थात् अवग्रह से जाने हुए पदार्थ मे विशेष जानने की जिज्ञासा को ईहा कहते है। दूसरे शब्दो मे अवग्रह से कुछ आगे और अवाय से पूर्व सत्-रूप अर्थ की पर्यालोचनरूप चेष्टा ही ईहा कहलाती है।

(३) **अवाय**—निश्चयात्मक या निर्णयात्मक ज्ञान को अवाय कहते है। प्रमाणनयतत्त्वालोक मे अवाय की व्याख्या की गई है—"ईहितविशेषनिर्णयोऽवाय ।"

अर्थात्—ईहा द्वारा जाने गए पदार्थ मे विशेष का निर्णय हो जाना अवाय है। निश्चय और निर्णय आदि अवाय के ही पर्यायान्तर है। इसे 'अपाय' भी कहते है।

(४) **धारणा**—"स एव दृढतमावस्थापन्नो धारणा ।"

—प्रमाणनयतत्त्वालोक

—जब अवाय ज्ञान अत्यन्त दृढ हो जाता है, तब उसे धारणा कहते है। निश्चय तो कुछ काल तक स्थिर रहता है फिर विषयान्तर मे उपयोग के चले जाने पर वह लुप्त हो जाता है। किन्तु उससे ऐसे सस्कार पड जाते है, जिनसे भविष्य मे किसी निमित्त के मिल जाने पर निश्चत किए हुए विषय का स्मरण हो जाता है। उसे भी धारणा कहा जाता है। धारणा के तीन प्रकार होते हैं—

(१) अविच्युति—अवाय मे लगे हुए उपयोग से च्युत न होना। अविच्युति धारणा का अधिक से अधिक काल अन्तर्मुहूर्त्त का होता है। छद्मस्थ का कोई भी उपयोग अन्तर्मुहूर्त्त से अधिक काल तक स्थिर नही रहता।

(२) वासना—अविच्युति से उत्पन्न सस्कार वासना कहलाती है। ये सस्कार सख्यात वर्ष की आयु वालो के सख्यात काल तक और असख्यात काल की आयु वालो के असख्यात काल तक भी रह सकते है।

(३) स्मृति—कालान्तर मे किसी पदार्थ को देखने से अथवा किसी अन्य निमित्त के द्वारा सस्कार प्रबुद्ध होने से जो ज्ञान होता है, उसे स्मृति कहा जाता है।

श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के ये चारो प्रकार क्रम से ही होते है। अवग्रह के बिना ईहा नही होती, ईहा के बिना अवाय (निश्चय) नही होता और अवाय के अभाव मे धारणा नही हो सकती।

(१) अवग्रह

५४—से किं त उग्गहे ?

उग्गहे दुविहे पण्णत्ते, त जहा—अत्थुग्गहे य वंजणुग्गहे य। ॥ सूत्र० २८ ॥

प्रश्न—अवग्रह कितने प्रकार का है ?

उत्तर—वह दो प्रकार से प्रतिपादित किया गया है। (१) अर्थावग्रह (२) व्यजनावग्रह।

विवेचन— सूत्र मे अवग्रह के दो भेद बताए गए हैं। एक अर्थावग्रह और दूसरा व्यजनावग्रह। 'अर्थ' वस्तु को कहते है। वस्तु और द्रव्य, ये दोनो पर्यायवाची शब्द है। जिसमे सामान्य और विशेष दोनो प्रकार के धर्म रहते हैं, वह द्रव्य कहलाता है। अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा, ये चारो सम्पूर्ण द्रव्यग्राही नही है। ये प्राय पर्यायो को ही ग्रहण करते है। पर्याय से अनन्त धर्मात्मक वस्तु का ग्रहण स्वत हो जाता है। द्रव्य के अवस्थाविशेष को पर्याय कहते है। कर्मो मे आवृत देहगत आत्मा को इन्द्रियो और मन के माध्यमो से ही बाह्य पदार्थो का ज्ञान होता है।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर के अगोपाङ्गनामकर्म के उदय से द्रव्येन्द्रियाँ प्राप्त होती है तथा ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से भावेन्द्रियाँ प्राप्त होती है। द्रव्येन्द्रियाँ तथा भावेन्द्रियाँ, दोनो ही एक दूसरी के बिना अकिंचित्कर है। इसलिए जिन-जिन जीवो को जितनी-जितनी इन्द्रियाँ मिलती हैं वे उसके द्वारा उतना-उतना ही ज्ञान प्राप्त करते है। जैसे एकेन्द्रिय जीव को केवल स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा अर्थावग्रह और व्यजनावग्रह होता है। अर्थावग्रह पटुक्रमी तथा व्यजनावग्रह मन्दक्रमी होता है। अर्थावग्रह अभ्यास से तथा विशेष क्षयोपशम से होता है और व्यजनावग्रह अभ्यास के विना तथा क्षयोपशम की मन्दता मे होता है।

यद्यपि सूत्र मे प्रथम अर्थावग्रह का और फिर व्यजनावग्रह का निर्देश किया गया है किन्तु उनकी उत्पत्ति का क्रम इससे विपरीत है, अर्थात् पहले व्यजनावग्रह और तत्पश्चात् अर्थावग्रह उत्पन्न होता है।

'व्यज्यते अनेनेति व्यञ्जन' अथवा 'व्यज्यते इति व्यञ्जनम्' अर्थात् जिसके द्वारा व्यक्त किया जाए या जो व्यक्त हो, वह व्यजन कहलाता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार व्यजन के तीन अर्थ फलित होते है—(१) उपकरणेन्द्रिय (२) उपकरणेन्द्रिय तथा उसका अपने ग्राह्य विषय के साथ सयोग और (३) व्यक्त होने वाले शब्दादि विषय।

सर्वप्रथम होने वाले दर्शनोपयोग के पश्चात् व्यञ्जनावग्रह होता है। इसका काल असख्यात समय है। व्यजनावग्रह के अन्त मे अर्थावग्रह होता है और इसका काल एक समय मात्र है। अर्थावग्रह के द्वारा सामान्य का बोध होता है। यद्यपि व्यजनावग्रह के द्वारा ज्ञान नही होता तथापि उसके अन्त मे होने वाले अर्थावग्रह के ज्ञानरूप होने से, अर्थात् ज्ञान का कारण होने से व्यजनावग्रह भी उपचार

से ज्ञान माना गया है। एवं व्यजनावग्रह मे भी अत्यल्प-अव्यक्त ज्ञान की कुछ मात्रा होती अवश्य है, क्योकि यदि उसके असख्यात समयो मे लेश मात्र भी ज्ञान न होता तो उसके अन्त मे अर्थावग्रह में यकायक ज्ञान कैसे हो जाता! अतएव अनुमान किया जा सकता है कि व्यजनावग्रह मे भी अव्यक्त ज्ञानाश होता है किन्तु अति स्वल्प रूप मे होने के कारण वह हमारी प्रतीती मे नही आता।

दर्शनोपयोग महासमान्य--सत्ता मात्र का ग्राहक है, जबकि अवग्रह मे अपरसामान्य—मनुष्यत्व आदि—का बोध होता है।

५५—से किं तं वंजणुग्गहे ?

वजणुग्गहे चउव्विहे पण्णत्ते, त जणा- (१) सोइंदिग्रवंजणुग्गहे (२) घाणिंदियवंजणुग्गहे (३) जिब्भिदियवंजणुग्गहे (४) फासिंदियवंजणुग्गहे, से त्त वंजणुग्गहे।

५५--प्रश्न—वह व्यजनावग्रह कितने प्रकार का है ?

उत्तर—व्यजनावग्रह चार प्रकार का कहा गया है। यथा –(१) श्रोत्रेन्द्रियव्यजनावग्रह (२) घ्राणेन्द्रियव्यजनावग्रह (३) जिह्वे न्द्रियव्यजनावग्रह (४) स्पर्शेन्द्रियव्यजनावग्रह।

यह व्यजनावग्रह हुआ।

विवेचन -चक्षु और मन के अतिरिक्त शेष चारो इन्द्रिया प्राप्यकारी होती हैं। श्रोत्रेन्द्रिय विषय को केवल स्पृष्ट होने मात्र से ही ग्रहण करती है। स्पर्शन, रसन और घ्राणेन्द्रिय, ये तीनो विषय को बद्ध स्पृष्ट होने पर ग्रहण करती हैं। जैसे रसनेन्द्रिय का जब तक रस से सम्बन्ध नही हो जाता, तब तक उसका अवग्रह नही हो सकता। इसी प्रकार स्पर्श और घ्राण के विषय मे भी जानना चाहिये। किन्तु चक्षु और मन को विषय ग्रहण करने के लिये स्पृष्टता तथा बद्धस्पृष्टता आवश्यक नही है। ये दोनो दूर से ही विषय को ग्रहण करते हैं। नेत्र अपने मे आजे गए अजन को न देख पाकर भी दूर की वस्तुओ को देख लेते है। इसी प्रकार मन भी स्वस्थान पर रहकर ही दूर रही वस्तुओ का चिन्तन कर लेता है। यह विशेषता चक्षु और मन मे ही है, अन्य इन्द्रियो मे नही। इसीलिये चक्षु और मन को अप्राप्यकारी माना गया है। इनपर विषयकृत अनुग्रह या उपघात नही होता जब कि अन्य चारो पर होता है।

५६—से किं त अत्थुग्गहे ?

अत्थुग्गहे छव्विहे पण्णत्ते, त जहा- (१) सोइंदियअत्थुग्गहे (२) चक्खिंदियअत्थुग्गहे (३) घाणिंदियअत्थुग्गहे (४) जिब्भिंदियअत्थुग्गहे (५) फासिंदियअत्थुग्गहे, (६) नोइंदियअत्थुग्गहे।

५६—**अर्थावग्रह** कितने प्रकार का है ?

वह छह प्रकार का कहा गया है। यथा—(१) श्रोत्रेन्द्रियअर्थावग्रह (२) चक्षुरिन्द्रिय-अर्थावग्रह (३) घ्राणेन्द्रियअर्थावग्रह (४) जिह्वे न्द्रियअर्थावग्रह (५) स्पर्शेन्द्रियअर्थावग्रह (६) नोइन्द्रियअर्थावग्रह।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे अर्थावग्रह के छह प्रकार बताए गए है। अर्थावग्रह उसे कहते है जो रूपादि अर्थों का सामान्य रूप मे ही ग्रहण करता है किन्तु वही सामान्य ज्ञान उत्तरकालभावी

ईहा, अवाय और धारणा से स्पष्ट एव परिपक्व बनता है। जिस प्रकार एक छोटी सी लौ अथवा चिनगारी से विराट् प्रकाशपुञ्ज बन जाता है, उसी प्रकार अर्थ का सामान्य बोध होने पर विचार-विमर्श, चिन्तन-मनन एव अनुप्रेक्षा आदि के द्वारा उसे विशाल बनाया जा सकता है। इस प्रकार अर्थ की धूमिल-सी झलक का अनुभव होना अर्थावग्रह कहलाता है। उसके बिना ईहा आदि अगले ज्ञान उत्पन्न नही होते। दूसरे शब्दो मे ईहा का मूल अर्थावग्रह होता है।

आगे सूत्रकार ने 'नोइदिय अत्थुग्गह' पद दिया है। नोइन्द्रिय अर्थात् मन। मन भी दो प्रकार का होता है—द्रव्यरूप और भावरूप। जीव मे मन पर्याप्ति नामकर्मोदय से ऐसी शक्ति पैदा होती है, जिससे मनोवर्गणा के पुद्गलो को ग्रहण करके द्रव्य मन की रचना की जाती है। जिस प्रकार उत्तम आहार से शरीर पुष्ट होकर कार्य करने की क्षमता प्राप्त करता है, उसी प्रकार मनोवर्गणा के नए-नए पुद्गलो को ग्रहण करके मन कार्य करने मे सक्षम बनता है। उसे द्रव्य-मन कहा जाता है। चूर्णिका मे कहा गया है—"मणपज्जत्तिनामकम्मोदयओ तज्जोग्गे मणोदव्वे घेत्तु मणत्तणेण परिणामिया दव्वा दव्वमणो भण्णइ।"

द्रव्यमन के होते हुए जीव का मननरूप जो परिणाम है, उस को भाव-मन कहते है। द्रव्य-मन के बिना भावमन कार्यकारी नही हो सकता। भावमन के अभाव मे भी द्रव्यमन होता है, जैसे भवस्थ केवली के द्रव्यमन रहता है, किन्तु वह कार्यकारी नही होता है। जब इन्द्रियो की अपेक्षा के बिना केवल मन से ही अवग्रह होता है तब वह नोइन्द्रिय-अर्थावग्रह कहा जाता है, अन्यथा वह इन्द्रियो का सहयोगी बना रहता है।

५७—तस्स ण इमे एगट्ठिया नाणाघोसा, नाणावजणा पंच नामधिज्जा भवंति, त जहा ओगेण्हणया, उवधारणया, सवणया, अवलबणया, मेहा, से त्त उग्गहे।

५७—अर्थावग्रह के एक अर्थवाले, उदात्त आदि नाना घोष वाले तथा 'क' आदि नाना व्यञ्जन वाले पाँच नाम हैं। यथा—(१) अवग्रहणता (२) उपधारणता (३) श्रवणता (४) अवलम्बनता (५) मेघा। यही अवग्रह है।

विवेचन—इस सूत्र मे अर्थावग्रह के पर्यायान्तर नाम दिये गये है। प्रथम समय मे आए हुए शब्द आदि पुद्गलो का ग्रहण करना अवग्रह कहलाता है जो तीन प्रकार का होता है। जैसे-व्यजनावग्रह, सामान्यार्थावग्रह और विशेषसामान्यार्थावग्रह। विशेषसामान्य-अर्थावग्रह औपचारिक है।

(१) अवग्रहणता—व्यजनावग्रह अन्तर्मुहूर्त का होता है। उसके प्रथम समय मे पुद्गलो के ग्रहण करना रूप परिणाम को अवग्रहणता कहते है।

(२) उपधारणता—व्यजनावग्रह के प्रथम समय के पश्चात् शेष समयो मे नये-नये पुद्गलो को प्रतिसमय ग्रहण करना और पूर्व समयो मे ग्रहण किये हुए को धारण करना उपधारणता है।

(३) श्रवणता—एक समय के सामान्यार्थावग्रह बोधरूप परिणाम को श्रवणता कहते हैं।

(४) अवलम्बनता—जो सामान्य ज्ञान से विशेष की ओर अग्रसर हो तथा उत्तरवर्ती ईहा, अवाय और धारणा तक पहुँचने वाला हो उसे अवलम्बनता कहते है।

(५) मेधा—मेधा सामान्य-विशेष को ही ग्रहण करती है।

एगट्ठिया—इस पद के भावानुसार, यद्यपि अवग्रह के पाच नाम बताए गए है तदपि ये पाँचो नाम शब्दनय की दृष्टि से एक ही अर्थयुक्त समझने चाहिये। समभिरूढ तथा एवभूत नय की दृष्टि से पाँचो के अर्थ भिन्न-भिन्न है।

नाणाघोसा—अवग्रह के जो पाँच पर्यायान्तर बताए गये है, उनका उच्चारण भिन्न-भिन्न है।

नाणावजना—अवग्रह के उक्त पाँचो नामो मे स्वर और व्यजन भिन्न भिन्न है।

(२) ईहा

५८ से किं त ईहा ? ईहा छव्विहा पण्णत्ता, त जहा—(१) सोइंदिय-ईहा (२) चक्खिदिय-ईहा (३) घाणिदिय-ईहा (४) जिब्भिदिय-ईहा (५) फासिदिय-ईहा (६) नोइंदिय-ईहा। तीसे ण इमे एगट्ठिया नाणाघोसा नाणावजणा पच नामधिज्जा भवति, त जहा (१) आभोगणया (२) मग्गणया (३) गवेसणया (४) चिंता (५) वीमसा, से त्त ईहा।

५८- भगवन् ! वह ईहा कितने प्रकार की है ?

ईहा छह प्रकार की कही गई है। जैसे--(१) श्रोत्रेन्द्रिय-ईहा (२) चक्षु-इन्द्रिय-ईहा (३) घ्राण-इन्द्रिय-ईहा (४) जिह्वा-इन्द्रिय-ईहा (५) स्पर्श-इन्द्रिय-ईहा और (६) नोइन्द्रिय-ईहा।

ईहा के एकार्थक, नानाघोष, और नाना व्यजन वाले पाँच नाम इस प्रकार है—

(१) आभोगनता (२) मार्गणता (३) गवेषणता (४) चिन्ता तथा (५) विमर्श।

विवेचन—एकार्थक, नानाघोष तथा नाना व्यजनो के युक्त ईहा के पाच नामो का विवरण इस प्रकार है -

(१) आभोगनता--अर्थावग्रह के अनन्तर सद्भूत अर्थविशेष के अभिमुख पर्यालोचन को आभोगनता कहा जाता है। टोकाकार कहते है—"आभोगन -अर्थावग्रह-समनन्तरमेव सद्भूतार्थ-विशेषाभिमुखमालोचन, तस्य भाव आभोगनता।"

(२) मार्गणता—अन्वय एव व्यतिरेक धर्मों के द्वारा पदार्थों के अन्वेषण करने को मार्गणा कहते हैं।

(३) गवेषणता—व्यतिरेक धर्म का त्यागकर, अन्वय धर्म के साथ पदार्थों के पर्यालोचन करने को गवेषणता कहा गया है।

(४) चिन्ता—पुनः पुन विशिष्ट क्षयोपशम से स्वधर्मानुगत सद्भूतार्थ के विशेष चिन्तन को चिन्ता कहते हैं। कहा भी है—"ततो मुहुर्मुहु· क्षयोपशमविशेषत स्वधर्मानुगतसद्भूतार्थ-विशेषचिन्तन चिन्ता।"

(५) विमर्श—"तत ऊर्ध्वं क्षयोपशमविशेषात् स्पष्टतर सद्भूतार्थविशेषाभिमुखव्यतिरेक-धर्मपरित्यागतोऽन्वयधर्मापरित्यागतोऽन्वयधर्मविमर्शन विमर्श।"

अर्थात्—क्षयोपशमविशेष से स्पष्टतर—सद्भूतार्थ के अभिमुख, व्यतिरेक धर्म को त्यागकर और अन्वय धर्म को ग्रहण करके स्पष्टतया विचार करना विमर्श कहलाता है।

(३) अवाय

५९—से किं तं अवाए? अवाए छव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—(१) सोइंदियअवाए (२) चक्खिदियअवाए (३) घाणिंदियअवाए (४) जिब्भिंदियअवाए (५) फासिंदियअवाए (६) नोइंदियअवाए। तस्स णं इमे एगट्ठिया नाणाघोसा, नाणावंजणा पंच नामधिज्जा भवंति, तं जहा—(१) आउट्टणया (२) पच्चाउट्टणया (३) अवाए (४) बुद्धी (५) विण्णाणे। से तं अवाए।

५९—अवाय मतिज्ञान कितने प्रकार का है?

अवाय छह प्रकार का है, जैसे—(१) श्रोत्रेन्द्रिय-अवाय (२) चक्षुरिन्द्रिय-अवाय (३) घ्राणेन्द्रिय-अवाय (४) रसनेन्द्रिय-अवाय (५) स्पर्शेन्द्रिय-अवाय (६) नोइन्द्रिय-अवाय।

अवाय के एकार्थक, नानाघोष और नानाव्यञ्जन वाले पाँच नाम इस प्रकार है—(१) आवर्त्तनता (२) प्रत्यावर्त्तनता (३) अवाय (४) बुद्धि (५) विज्ञान। यह अवाय का वर्णन हुआ।

विवेचन—इस सूत्र मे अवाय और उसके भेद तथा पर्यायान्तर बताए गए हैं। ईहा के पश्चात् विशिष्ट बोध कराने वाला ज्ञान अवाय है। इसके पाँच नाम निम्न प्रकार है—

(१) आवर्त्तनता—ईहा के पश्चात् निश्चय के सन्मुख बोधरूप परिणाम से पदार्थों के विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करने के सन्मुख ज्ञान को आवर्त्तनता कहते हैं।

(२) प्रत्यावर्त्तनता—आवर्त्तनता के पश्चात्-अपाय-निश्चय के सन्निकट पहुँचा हुआ उपयोग प्रत्यावर्त्तनता कहलाता है।

(३) अवाय—पदार्थों के पूर्ण निश्चय को अवाय कहते हैं।

(४) बुद्धि—निश्चित ज्ञान को क्षयोपशम-विशेष से स्पष्टतर जानना।

(५) विज्ञान—विशिष्टतर निश्चय किये हुए ज्ञान को, जो तीव्र धारणा का कारण हो उसे विज्ञान कहते है। बुद्धि और विज्ञान से ही पदार्थों का सम्यक्तया निश्चय होता है।

(४) धारणा

६०—से किं त धारणा?

धारणा छव्विहा पण्णत्ता, त जहा—(१) सोइंदिय-धारणा (२) चक्खिदिय-धारणा (३) घाणिंदिय-धारणा (४) जिब्भिंदिय-धारणा (५) फासिंदिय-धारणा (६) नोइंदिय-धारणा।

तीसे ण इमे एगट्ठिया नाणाघोसा, नाणावंजणा, पंच नामधिज्जा भवंति, तं जहा—(१) धारणा (२) साधारणा (३) ठवणा (४) पइट्ठा (५) कोट्ठे। से त्तं धारणा।

६०—धारणा कितने प्रकार की है?

धारणा छह प्रकार की है। यथा—(१) श्रोत्रेन्द्रिय-धारणा (२) चक्षुरिन्द्रिय-धारणा (३) घ्राणेन्द्रिय-धारणा (४) रसनेन्द्रिय-धारणा (५) स्पर्शेन्द्रिय-धारणा (६) नोइन्द्रिय-धारणा।

धारणा के एक अर्थवाले, नाना घोष और नाना व्यजन वाले पाँच नाम इस प्रकार है—(१) धारणा (२) साधारणा (३) स्थापना (४) प्रतिष्ठा और (५) कोष्ठ। यह धारणा-मतिज्ञान हुआ।

विवेचन— धारणा के भी पूर्ववत् छह भेद हैं तथा एकार्थक, नाना घोष और नाना व्यजनवाले पाँच नाम इस प्रकार बताए गये हैं—

(१) धारणा—अन्तर्मुहूर्त्त तक पूर्वोक्त अपाय के उपयोग का सातत्य, उसका सस्कार और सख्यात या असख्यात काल व्यतीत हो जाने पर योग्य निमित्त मिलने पर स्मृति का जाग जाना धारणा है।

(२) साधारणा—जाने हुए अर्थ को स्मरणपूर्वक अन्तर्मुहूर्त्त तक धारण किये रहना साधारणा है।

(३) स्थापना--निश्चय किये हुए अर्थ को हृदय मे स्थापन किये रहना। उसे वासना (सस्कार) भी कहा जाता है।

(४) प्रतिष्ठा—अवाय के द्वारा निर्णीत अर्थों को भेद प्रभेदो सहित हृदय मे स्थापित करना प्रतिष्ठा कहलाता है।

(५) कोष्ठ -कोष्ठ मे रखे हुए सुरक्षित धान्य के समान ही हृदय मे किसी विषय को पूरी तरह सुरक्षित रखना कोष्ठ कहलाता है।

यद्यपि सामान्य रूप मे इनका अर्थ एक ही प्रतीत होता है फिर भी इन ज्ञानो की उत्तरोत्तर होने वाली विशिष्ट अवस्थाओ को प्रदर्शित करने के लिए पर्याय नामो का कथन किया गया है।

ज्ञान का जिस क्रम से उत्तरोत्तर विकास होता है, सूत्रकार ने उसी क्रम से अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा का निर्देश किया है। अवग्रह के अभाव मे ईहा नही, ईहा के अभाव मे अवाय नही और अवाय के अभाव मे धारणा नही हो सकती।

यहाँ ज्ञातव्य है कि मतिज्ञान के करणभेद की अपेक्षा से २८ मूल भेद किये गए हैं, किन्तु ये २८ भेद विषय की दृष्टि से बारह-बारह प्रकार के हो जाते है, अर्थात् बहु, बहुविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, उक्त, अनुक्त आदि बारह प्रकार के विषयो के कारण मतिज्ञान तीन सौ छत्तीस प्रकार का है। इनमे से व्यजनावग्रह के मन और नेत्रो को छोड कर चार ही इन्द्रियो से उत्पन्न होने के कारण ४८ भेद हैं, जबकि अर्थावग्रह ७२ प्रकार का है।

प्रश्न यह है कि जब अवग्रह सामान्य मात्र को ग्रहण करता है तो बहु (बहुत) बहुविध (बहुत प्रकार के) आदि को किस प्रकार ग्रहण कर सकता है? विशेष को जाने बिना ऐसा ज्ञान नही हो सकता। इस प्रश्न का उत्तर निम्नलिखित है—

अर्थावग्रह दो प्रकार का है—नैश्चयिक और व्यावहारिक। व्यजनावग्रह के पश्चात् जो एकसामयिक अर्थावग्रह होता है, वह नैश्चयिक (पारमार्थिक) अर्थावग्रह है। तत्पश्चात् ईहा और अवायज्ञान होते है। किन्तु बहुत बार अवाय द्वारा पदार्थ का निश्चय हो जाने के अनन्तर भी उसके किसी नवीन धर्म को जानने की अभिलाषा होती है। वह ईहा है। उसके पश्चात् पुन उस नवीन धर्म

का निश्चय-अवाय होता है। ऐसी स्थिति मे जिस अवाय के पश्चात् पुन ईहा ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अवाय, ईहाज्ञान का पूर्ववर्त्ती होने के कारण व्यावहारिक (उपचरित) अवग्रह कहा जाता है। इस प्रकार जिस-जिस अवाय के पश्चात् नवीन-नवीन धर्मों को जानने की अभिलाषा (ईहा) उत्पन्न हो, वे सभी अवाय व्यावहारिक अर्थावग्रह मे ही परिगणित है। उदाहरणार्थ—'यह मनुष्य है' इस प्रकार के निश्चयात्मक अवायज्ञान के पश्चात् 'देवदत्त है या जिनदत्त ?' यह सशय हुआ। फिर 'जिनदत्त होना चाहिए' यह ईहाज्ञान होने के अनन्तर 'जिनदत्त ही है' यह अवाय ज्ञान हुआ। इस क्रम मे 'यह मनुष्य है' यह अवाय व्यावहारिक अर्थावग्रह कहा जाएगा। किन्तु जिस अवाय के पश्चात् नवीन धर्म को जानने की ईहा नही होती, उसे व्यावहारिक अर्थावग्रह नही कहा जाता, वह अवाय ही कहलाता है।[1]

अवग्रह आदि का काल

६१—(१) उग्गहे इक्कसमइए, (२) अतोमुहुत्तिआ ईहा, (३) अतोमुहुत्तिए अवाए (४) धारणा सखेज्ज वा काल, असखेज्ज वा काल। ॥ सूत्र० ३५ ॥

६१—(१) अवग्रह ज्ञान का काल एक समय मात्र का है। (२) ईहा का काल अन्तर्मुहूर्त्त है। (३) अवाय भी अन्तर्मुहूर्त्त तक होता है तथा (४) धारणा का काल सख्यात अथवा (युगलियो की अपेक्षा से) असख्यात काल है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे चारो का कालप्रमाण बताया गया है। अर्थावग्रह एक समय तक, ईहा और अवाय का काल अलग-अलग अन्तर्मुहूर्त्त का है। धारणा अन्तर्मुहूर्त्त से लेकर सख्यात और असख्यात काल तक रह सकती है। इसका कारण यह है कि यदि किसी सज्ञी प्राणी की आयु सख्यात-काल की हो तो धारणा सख्यातकाल तक और अगर आयु असख्यात काल की हो तो धारणा भी असख्यात काल पर्यन्त रह सकती है।

धारणा की प्रबलता से प्रत्यभिज्ञान तथा जाति-स्मरण ज्ञान भी हो सकता है। अवाय हो

---

१ "सामण्णमेत्तगहण, निच्छयओ समयमोग्गहो पढमो।
तत्तोऽणतरमीहिय-वत्थुविसेसस्स जोऽवाओ॥
सो पुणरीहावाय विक्खाओ, उग्गहत्ति उवयरिओ।
एस विसेसावेक्खा, सामन्न गेण्हए जेण॥
तत्तोऽणतरमीहा, तओ अवायो य तव्विसेसस्स।
इह सामन्न-विसेसावेक्खा, जावन्तिमो भेओ॥
सव्वत्थेहावाया निच्छयओ, मोत्तु माइसामन्न।
सवहारत्थ पुण, सव्वत्थावग्गहोऽवाओ॥
तरतमजोगाभावेऽवाओ, च्चिय धारणा तदन्तम्मि।
सव्वत्थ वासणा पुण, भणिया कालन्तर मई य॥"
—विशेषावश्यकभाष्य

जाने पर भी अगर उपयोग उस विषय मे लगा रहे तो उसे अवाय नही वरन अविच्युति धारणा कहते है ।

अविच्युति धारणा से वासना उत्पन्न होती है । वासना जितनी दृढ होगी, निमित्त मिलने पर यह स्मृति को अधिकाधिक उद्बोधित करने मे कारण बनेगी । भाष्यकार ने उक्त चारो का कालमान निम्न प्रकार से बताया है-

"अत्थोग्गहो जहन्न समओ, सेसोग्गहावओ वोसु ।
अन्तोमुहुत्तमेगन्तु, वासणा धारण मोत्तुं ।।"

—इस गाथा का भाव पूर्व मे आ चुका है ।

व्यंजनावग्रह: प्रतिबोधक का दृष्टान्त

६२· एव अट्ठावीसइविहस्स आभिणिबोहियनाणस्स वजणुग्गहस्स परूवण करिस्सामि, पडिबोहगदिट्ठ तेण मल्लगदिट्ठ तेण य ।

से कि त पडिबोहगदिट्ठ तेण ?

पडिबोहगदिट्ठ तेण, से जहानामाए केइ पुरिसे कंचि पुरिस सुत्त पडिबोहिज्जा—'अमुगा ! अमुगत्ति !!' तत्थ चोयगे पन्नवग एव वयासी —कि एगसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छति ? दुसमय-पविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छति ? जाव दससमय-पविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति ? संखिज्जसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छति ? असखिज्जसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छति ?

एव वदत चोयग पण्णवए एव वयासी—नो एगसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छति, नो दुसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छति, जाव नो दससमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छति नो संखिज्ज-समयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छति, असखिज्जसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छति, से त पडिबोहग-दिट्ठ तेणं ।

६२— चार प्रकार का व्यजनावग्रह, छह प्रकार का अर्थावग्रह, छह प्रकार की ईहा, छह प्रकार का अवाय और छह प्रकार की धारणा, इस प्रकार अट्ठाईसविध आभिनिबोधक-मतिज्ञान के व्यजन अवग्रह की प्रतिबोधक और मल्लक के उदाहरण से प्ररूपणा करूँगा ।

प्रतिबोधक के उदाहरण से व्यजन-अवग्रह का निरूपण किस प्रकार है ?

प्रतिबोधक का दृष्टान्त इस प्रकार है—कोई व्यक्ति किसी सुप्त पुरुष को—"हे अमुक ! हे अमुक !!" इस प्रकार कह कर जगाए । शिष्य ने तब पुन प्रश्न किया—"भगवन् ! क्या ऐसा सबोधन करने पर उस पुरुष के कानो मे एक समय मे प्रवेश किए हुए पुद्गल ग्रहण करने मे आते हैं या दो समय मे अथवा दस समयो मे, सख्यात समयो मे या असख्यात समयो मे प्रविष्ट पुद्गल ग्रहण करने मे आते हैं ?"

ऐसा पूछने पर प्ररूपक -गुरु ने उत्तर दिया—

"एक समय मे प्रविष्ट हुए पुद्गल ग्रहण करने मे नही आते, न दो समय अथवा दस समय मे

और न ही सख्यात समय मे, अपितु असख्यात समयो मे प्रविष्ट हुए शब्द पुद्गल ग्रहण करने में आते हैं।" इस तरह यह प्रतिबोधक के दृष्टान्त से व्यजन अवग्रह का स्वरूप वर्णित किया गया।

विवेचन—सूत्रकार ने व्यजनावग्रह को समझाने के लिये प्रतिबोधक का दृष्टान्त देकर विषय को स्पष्ट किया है। जैसे—कोई व्यक्ति, प्रगाढ निद्रा-लीन किसी पुरुष को सबोधित करता है—"ओ भाई! अरे ओ भाई!!"

ऐसे प्रसग को ध्यान मे लाकर शिष्य ने पूछा—"भगवन्! क्या एक समय के प्रविष्ट हुए शब्द-पुद्गल श्रोत्र के द्वारा अवगत हो सकते हैं?" गुरु ने कहा—"नही।"

तब शिष्य ने पुन प्रश्न किया—"भगवन्! तब क्या दो समय, दस समय या सख्यात यावत् असख्यात समय मे प्रविष्ट हुए शब्द पुद्गलो को वह ग्रहण करता है?"

गुरु ने समझाया—"वत्स! एक समय से लेकर संख्यात समयो मे प्रविष्ट हुए शब्द-पुद्गलो को भी वह सुप्त पुरुष ग्रहण—जान नही सकता, अपितु असख्यात समय तक के प्रविष्ट हुए शब्द-पुद्गल ही अवगत होते है।" वस्तुत एक बार आँखो की पलकें झपकने जितने काल मे असख्यात समय लग जाते है। हाँ, इस बात को अवश्य ध्यान मे रखना चाहिए कि एक से लेकर सख्यात समय-पर्यन्त श्रोत्र मे जो शब्द-पुद्गल प्रविष्ट होते हैं, वे सब अत्यन्त अव्यक्त ज्ञान के जनक होते हैं। कहा भी है—"ज वजणोग्गहणमिति भणिय विण्णाण अव्वत्तमिति।" उक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि असख्यात समय के प्रविष्ट शब्द-पुद्गल ही ज्ञान के उत्पादक होते हैं।

व्यञ्जनावग्रह का कालमान जघन्य आवलिका के असख्येय भागमात्र है और उत्कृष्ट सख्येय आवलिका प्रमाण होता है, वह भी 'पृथक्त्व' (दो से लेकर नौ तक की सख्या) 'श्वासोच्छ्वास' प्रमाण जानना चाहिये।

सूत्र मे शिष्य के लिये 'चोयग' शब्द आया है उसका अर्थ है—प्रेरक। वह उत्तर के लिए प्रेरक है। प्रज्ञापक पद गुरु का वाचक है। वह सूत्र और अर्थ को प्ररूपणा करने के कारण प्रज्ञापक कहलाता है।

मल्लक के दृष्टान्त से व्यंजनावग्रह

६३—से किं तं मल्लगदिट्ठंतेणं? से जहानामाए केइ पुरिसे आवागसीसाओ मल्लगं गहाय तत्थेग उदगबिंदु पक्खेविज्जा, से नट्ठे, अण्णेऽवि पक्खित्ते सेऽवि नट्ठे, एवं पक्खिप्पमाणेसु पक्खिप्पमाणेसु होही से उदगबिंदू जे णं तं मल्लगं रावेहिइत्ति, होही से उदगबिंदू जे णं तंसि मल्लगंसि ठाहिति, होही से उदगबिंदू जे ण त मल्लग भरिहिति, होही से उदगबिंदू जेणं मल्लगं पवाहेहिति।

एवामेव पक्खिप्पमाणेहिं-पक्खिप्पमाणेहिं अणन्तेहिं पुग्गलेहिं जाहे तं वंजणं पूरिअं होइ, ताहे 'हुं' ति करेइ, तो चेव णं जाणइ के वेस सद्दाइ? तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ अमुगे एस सद्दाइ, तओ अवायं पविसइ, तओ से उवगयं हवइ, तओ ण धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं, असंखिज्जं वा कालं।

६३—शिष्य के द्वारा प्रश्न किया गया—'मल्लक के दृष्टान्त से व्यजनावग्रह का स्वरूप किस प्रकार है?'

गुरु ने उत्तर दिया—जिस प्रकार कोई व्यक्ति आपाकशीर्ष अर्थात् कुम्हार के बर्तन पकाने के स्थान को, जिसे 'आवा' कहते हैं, उससे एक सिकोरा अर्थात् प्याला लेकर उसमें पानी की एक बूँद डाले, उसके नष्ट हो जाने पर दूसरी, फिर तीसरी, इसी प्रकार कई बूँदें नष्ट हो जाने पर भी निरन्तर डालता रहे तो पानी की कोई बूँद ऐसी होगी जो उस प्याले को गीला करेगी। तत्पश्चात् कोई बूँद उसमे ठहरेगी और किसी बूँद से प्याला भर जाएगा और भरने पर किसी बूँद से पानी बाहर गिरने लगेगा।

इसी प्रकार वह व्यजन अनन्त पुद्गलो से क्रमश पूरित होता है अर्थात् जब शब्द के पुद्गल द्रव्य श्रोत्र मे जाकर परिणत हो जाते है, तब वह पुरुष हुकार करता है, किन्तु यह नही जानता कि यह किस व्यक्ति का शब्द है ? तत्पश्चात् वह ईहा मे प्रवेश करता है और तब जानता है कि यह अमुक व्यक्ति का शब्द है। तत्पश्चात् अवाय मे प्रवेश करता है, तब वह उपगत होता है अर्थात् शब्द का ज्ञान हो जाता है। इसके बाद धारणा मे प्रवेश करता है और सख्यात अथवा असख्यातकाल पर्यंत धारण किये रहता है।

विवेचन—सूत्रकार ने उक्त विषय को स्पष्ट करने के लिये तथा प्रतिबोधक के दृष्टान्त की पुष्टि के लिए एक और व्यावहारिक उदाहरण देकर समझाया है—

किसी व्यक्ति ने कुम्हार के आवे से मिट्टी का पका हुआ एक कोरा प्याला लिया। उस प्याले मे उसने जल की एक बूँद डाली। वह तुरन्त उस प्याले मे समा गई। व्यक्ति ने तब दूसरी, तीसरी और इसी प्रकार अनेक बूँदें डाली किन्तु वे सभी प्याले मे समाती चली गईं और प्याला सू-सू शब्द करता रहा। किन्तु निरन्तर बूँदे डालते जाने से प्याला गीला हो गया और उसमे गिरने वाली बूँदे ठहरने लगी। धीरे-धीरे प्याला बूँदो के पानी से भर गया और उसके बाद जल की जो बूँदे उसमे गिरी वे बाहर निकलने लगी। इस उदाहरण से व्यजनावग्रह का रहस्य समझ मे आ सकता है। यथा—

एक सुषुप्त व्यक्ति की श्रोत्रेन्द्रिय मे क्षयोपशम की मदता या अनभ्यस्त दशा मे अथवा अनुपयुक्त अवस्था मे समय-समय मे जब शब्द-पुद्गल टकराते रहते हैं, तब असख्यात समयो मे उसे कुछ अव्यक्त ज्ञान होता है। वही व्यजनावग्रह कहलाता है। तात्पर्य यह है कि जब श्रोत्रेन्द्रिय शब्द-पुद्गलो से परिव्याप्त हो जाती है, तभी वह सोया हुआ व्यक्ति 'हु' शब्द का उच्चारण करता है। उस समय सोये हुए व्यक्ति को यह ज्ञात नही होता कि यह शब्द क्या है ? किसका है ? उस समय वह जाति-स्वरूप, द्रव्य-गुण इत्यादि विशेष कल्पना से रहित सामान्य मात्र को ही ग्रहण कर पाता है। हुकार करने से पहले व्यजनावग्रह होता है। हुकार भी विना शब्द-पुद्गलो के टकराए नही निकलता और कभी-कभी तो हुकार करने पर भी उसे यह भान नही हो पाता कि मैने हुकार किया है। किन्तु बार-बार सबोधित करने से जब निद्रा कुछ भग हो जाती है और अगडाई लेते समय भी जब शब्द पुद्गल टकराते है, तब तक भी अवग्रह ही रहता है।

तत्पश्चात् जब व्यक्ति यह जिज्ञासा करने लगता है कि यह शब्द किसका है ? मुझे किसने पुकारा है, कौन मुझे जगा रहा है ? तब वह ईहा मे प्रवेश कर जाता है। ग्रहण किये हुए शब्द की छानबीन करने के बाद जब वह निश्चय की कोटि में पहुँचकर निर्णय कर लेता है कि—यह शब्द अमुक का है और अमुक मुझे सबोधित करके जगा रहा है, तब अवाय होता है। इसके पश्चात्

निश्चयपूर्वक सुने हुए शब्दों को वह सख्यात अथवा असंख्यात काल तक धारण किए रहता है। तब वह धारणा कहलाती है।

प्रतिबोधक और मल्लक, इन दोनो दृष्टान्तों का सम्बन्ध यहाँ केवल श्रोत्रेन्द्रिय के साथ है। उपलक्षण से घ्राण, रसना और स्पर्शन का भी समझ लेना चाहिये। अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा श्रुतज्ञान का निकटतम सम्बन्ध श्रोत्रेन्द्रिय से है। आत्मोत्थान और आत्म-कल्याण मे भी श्रुतज्ञान की प्रधानता है, अत: यहां श्रोत्रेन्द्रिय और शब्द के योग से व्यजनावग्रह तथा अर्थावग्रह का उल्लेख किया गया है।

अवग्रहादि के छह उदाहरण

६४—से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सद्दं सुणिज्जा, तेणं 'सद्दो' त्ति उग्गहिए, नो चेव णं जाणइ, 'के वेस सद्दाइ' ? तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ 'अमुगे एस सद्दे।' तओ णं अवायं पविसइ, तओ से अवगयं हवइ, तओ धारणं पविसइ, तओ ण धारेइ संखिज्जं वा कालं असंखिज्जं वा काल।

से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं रूवं पासिज्जा, तेणं 'रूवं' ति उग्गहिए, नो चेव णं जाणइ 'के वेसरूवं' ति ? तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ 'अमुगे एस रूवेत्ति' तओ अवायं पविसइ, तओ से उवगयं भवइ, तओ धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ, संखेज्जं वा कालं असंखिज्जं वा कालं।

से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं गंधं अग्घाइज्जा, तेणं 'गंधे' त्ति उग्गहिए, नो चेव णं जाणइ 'के वेस गंधे' त्ति ? तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ 'अमुगे एस गंधे।' तओ अवायं पविसइ, तओ से उवगयं हवइ, तओ धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ संखेज्जं वा कालं असंखेज्जं वा कालं।

से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्त रसं आसाइज्जा, तेणं 'रसो' त्ति उग्गहिए नो चेव णं जाणइ 'के वेस रसे' त्ति ? तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ 'अमुगे एस रसे।' तओ अवायं पविसइ, तओ से उवगयं हवइ, तओ धारण पविसइ, तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं--असंखिज्जं वा कालं।

से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं फासं पडिसंवेइज्जा, तेणं 'फासे' त्ति उग्गहिए, नो चेव णं जाणइ 'के वेस फासओ' त्ति ? तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ 'अमुगे एस सुफासे'। तओ अवायं पविसइ, तओ से उवगयं हवइ, तओ धारणं पविसइ, तओ ण धारेइ संखेज्जं वा कालं असंखेज्जं वा कालं।

से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सुमिणं पासिज्जा, तेणं 'सुमिणे' त्ति उग्गहिए, नो चेव णं जाणइ 'के वेस सुमिणे' त्ति ? तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ 'अमुगे एस सुमिणे'। तओ अवायं पविसइ, तओ से उवगयं होइ, तओ धारणं पविसइ, तओ धारेइ संखेज्जं वा कालं असंखेज्जं वा कालं। से त्तं मल्लगदिट्ठंतेणं।

६४—जैसे किसी पुरुष ने अव्यक्त शब्द को सुनकर 'यह कोई शब्द है' इस प्रकार ग्रहण किया किन्तु वह यह नही जानता कि 'यह शब्द क्या-किसका है ?' तब वह ईहा मे प्रवेश करता है, फिर यह जानता है कि 'यह अमुक शब्द है।' फिर अवाय अर्थात् निश्चय ज्ञान मे प्रवेश करता है। तत्पश्चात् उसे उपगत हो जाता है और फिर वह धारणा में प्रवेश करता है, और उसे संख्यात काल और असंख्यातकाल पर्यन्त धारण किये रहता है।

जैसे—अज्ञात नाम वाला कोई व्यक्ति अव्यक्त अथवा अस्पष्ट रूप को देखे, उसने यह कोई 'रूप है' इस प्रकार ग्रहण किया, परन्तु वह यह नही जान पाया कि 'यह क्या-किसका रूप है ?' तब वह ईहा में प्रविष्ट होता है तथा छानबीन करके यह 'अमुक रूप है' इस प्रकार जानता है। तत्पश्चात् अवाय में प्रविष्ट होकर उपगत हो जाता है, फिर धारणा मे प्रवेश करके उसे सख्यात काल अथवा असंख्यात तक धारणा कर रखता है।

जैसे—अज्ञातनामा कोई पुरुष अव्यक्त गध को सू घता है, उसने यह 'कोई गंध है' इस प्रकार ग्रहण किया, किन्तु वह यह नही जानता कि 'यह क्या-किस प्रकार की गध है ?' तदनन्तर ईहा मे प्रवेश करके जानता है कि 'यह अमुक गध है।' फिर अवाय में प्रवेश करके गध से उपगत हो जाता है। तत्पश्चात् धारणा करके उसे सख्यात व असंख्यात काल तक धारण किये रहता है।

जैसे—कोई व्यक्ति किसी रस का आस्वादन करता है। वह 'यह रस को ग्रहण करता है' किन्तु यह नही जानता कि 'यह क्या-कौन सा रस है' ? तब ईहा मे प्रवेश करके वह जान लेता है कि 'यह अमुक प्रकार का रस है।' तत्पश्चात् अवाय मे प्रवेश करता है। तब उसे उपगत हो जाता है। तदनन्तर धारणा करके सख्यात एव असख्यात काल तक धारण किये रहता है।

जैसे—कोई पुरुष अव्यक्त स्पर्श को स्पर्श करता है, उसने 'यह कोई स्पर्श है' इस प्रकार ग्रहण किया किन्तु 'यह नही जाना कि 'यह स्पर्श क्या-किस प्रकार का है ?' तब ईहा मे प्रवेश करता है और जानता है कि 'यह अमुक का स्पर्श है।' तत्पश्चात् अवाय मे प्रवेश करके वह उपगत होता है। फिर धारणा मे प्रवेश करने के बाद सख्यात अथवा असख्यात काल पर्यन्त धारण किये रहता है।

जैसे--कोई पुरुष अव्यक्त स्वप्न को देखे, उसने 'यह स्वप्न है' इस प्रकार ग्रहण किया, परन्तु वह यह नही जानता कि 'यह क्या-कैसा स्वप्न है ?' तब ईहा मे प्रवेश करके जानता है कि 'यह अमुक स्वप्न है।' उसके बाद अवाय मे प्रवेश करके उपगत होता है। तत्पश्चात् वह धारणा मे प्रवेश करके सख्यात या असख्यात काल तक धारण करता है।

इस प्रकार मल्लक के दृष्टात से अवग्रह का स्वरूप हुआ।

विवेचन—उल्लिखित सूत्र मे अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा का उदाहरणो सहित विस्तृत वर्णन किया गया है। जैसे कि जागृत अवस्था मे किसी व्यक्ति ने कोई अव्यक्त शब्द सुना किंतु उसे यह ज्ञात नहीं हुआ कि यह शब्द किसका है ? जीव अथवा अजीव का है ? अथवा किस व्यक्ति का है ? ईहा मे प्रवेश करने के बाद वह जानता है कि यह शब्द अमुक व्यक्ति का होना चाहिये, क्योकि वह अन्वय व्यतिरेक से ऊहापोह करके निर्णय के उन्मुख होता है। फिर अवाय में वह निश्चय करता है कि यह शब्द अमुक व्यक्ति का ही है। इसके पश्चात् निश्चय किये हुए शब्द को धारणा द्वारा सख्यातकाल या असख्यात काल तक धारण किये रहता है।

ध्यान मे रखना चाहिये कि चक्षुरिन्द्रिय का अर्थावग्रह होता है, व्यजनावग्रह नही। शेष सब वर्णन पूर्ववत् समझना चाहिये। नोइन्द्रिय का अर्थ मन है। उसे स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार ने स्वप्न का उदाहरण दिया है। स्वप्न मे द्रव्य इन्द्रियाँ कार्य नही करती, भावेन्द्रियाँ और मन ही काम करते हैं। व्यक्ति जो स्वप्न मे सुनता है, देखता है, सू घता है, चखता है, छूता है और चिन्तन-मनन करता है, इन सभी मे मुख्यता मन की होती है। जागृत होने पर वह स्वप्न मे देखे हुए दृश्यों को अथवा कही-सुनी बात को अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा तक ले आता है। कोई ज्ञान अवग्रह

तक, कोई ईहा तक और कोई अवाय तक ही रह जाता है। यह नियम नही कि प्रत्येक अवग्रह धारणा की कोटि तक पहुँचे ही।

सूत्रकार ने इस प्रकार प्रतिबोधक और मल्लक के दृष्टान्तो से व्यजनावग्रह का वर्णन करते हुए प्रसगवश मतिज्ञान के अट्ठाईस भेदो का भी विस्तृत वर्णन कर दिया है। वैसे मतिज्ञान के तीन सौ छत्तीस भेद भी होते है।

प्रस्तुत सूत्र की वृत्ति मे बताया गया है कि मतिज्ञान के अवग्रह आदि अट्ठाईस भेद होते है। प्रत्येक भेद को बारह भेदो मे गुणित करने से तीन सौ छत्तीस भेद हो जाते है। पाँच इन्द्रियाँ और मन, इन छह निमित्तो से होने वाले मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा रूप से चौबीस भेद होते है। वे सब विषय की विविधता और क्षयोपशम से बारह-बारह प्रकार के होते हैं। इन्हे निम्न प्रकार से सरलतापूर्वक समझा जा सकता है—

(१) बहुग्राही	(६) अवग्रह	(६) ईहा	(६) अवाय	(६) धारणा
(२) अल्पग्राही	,,	,,	,,	,,
(३) बहुविधग्राही	,,	,,	,,	,,
(४) एकविधग्राही	,,	,,	,,	,,
(५) क्षिप्रग्राही	,,	,,	,,	,,
(६) अक्षिप्रग्राही	,,	,,	,,	,,
(७) अनिश्रितग्राही	,,	,,	,,	,,
(८) निश्रितग्राही	,,	,,	,,	,,
(९) असदिग्धग्राही	,,	,,	,,	,,
(१०) सदिग्धग्राही	,,	,,	,,	,,
(११) ध्रुवग्राही	,,	,,	,,	,,
(१२) अध्रुवग्राही	,,	,,	,,	,,

(१) बहु—इसका अर्थ अनेक है, यह सख्या और परिमाण दोनो की अपेक्षा से हो सकता है। वस्तु की अनेक पर्यायो को तथा बहुत परिमाण वाले द्रव्य को जानना या किसी बहुत बडे परिमाण वाले विषय को जानना।

(२) अल्प—किसी एक ही विषय को, या एक ही पर्याय को स्वल्पमात्रा मे जानना।

(३) बहुविध—किसी एक ही द्रव्य को या एक ही वस्तु को या एक ही विषय को बहुत प्रकार से जानना। जैसे—वस्तु का आकार-प्रकार, रग-रूप, लबाई-चौडाई, मोटाई अथवा उसकी अवधि इत्यादि अनेक प्रकार से जानना।

(४) अल्पविध—किसी भी वस्तु या पर्याय को, जाति या संख्या आदि को अल्प प्रकार से जानना। अधिक भेदो सहित न जानना।

(५) क्षिप्र—किसी वक्ता या लेखक के भावो को शीघ्र ही किसी भी इन्द्रिय या मन के द्वारा जान लेना। स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा अन्धकार में भी किसी व्यक्ति या वस्तु को पहचान लेना।

(६) अक्षिप्र—क्षयोपशम की मदता से या विक्षिप्त उपयोग से किसी भी इन्द्रिय या मन के विषय को अनभ्यस्त अवस्था मे कुछ विलम्ब से जानना ।

(७) अनिश्रित—बिना ही किसी हेतु के, बिना किसी निमित्त के वस्तु की पर्याय और गुण को जानना । व्यक्ति के मस्तिष्क मे कोई ऐसी सूझबूझ पैदा होना जबकि वही बात किसी शास्त्र या पुस्तक मे भी लिखी मिल जाय ।

(८) निश्रित—किसी हेतु, युक्ति, निमित्त, लिंग आदि के द्वारा जानना । जैसे—एक व्यक्ति ने शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को उपयोग की एकाग्रता से अचानक चन्द्र-दर्शन कर लिया और दूसरे ने किसी और के कहने पर अर्थात् बाह्य निमित्त से चन्द्र-दर्शन किया । इनमे से पहला पहली कोटि मे और दूसरा दूसरी कोटि मे गर्भित हो जाता है ।

(९) असदिग्ध—किसी व्यक्ति ने जिस पर्याय को भी जाना, उसे सन्देह रहित होकर जाना । जैसे—'यह सतरे का रस, यह गुलाब का फूल है अथवा आने वाला व्यक्ति मेरा भाई है ।'

(१०) सदिग्ध—किसी वस्तु को सदिग्ध रूप से जानना । जैसे, कुछ अंधेरे मे यह ठूँठ है या पुरुष ? यह धुआ है या बादल ? यह पीतल है या सोना ? इस प्रकार सन्देह बना रहना ।

(११) ध्रुव—इन्द्रिय और मन को सही निमित्त मिलने पर विषय को नियम से जानना । किसी मशीन का कोई पुर्जा खराब हो तो उस विषय का विशेषज्ञ आकर खराब पुर्जे को अवश्यमेव पहचान लेगा । अपने विषय का गुण-दोष जान लेना उसके लिए अवश्यभावी है ।

(१२) अध्रुव—निमित्त मिलने पर भी कभी ज्ञान हो जाता है और कभी नही, कभी वह चिरकाल तक रहने वाला होता है, कभी नही ।

स्मरण रखना चाहिये कि बहु-बहुविध, क्षिप्र, अनिश्रित, असदिग्ध और ध्रुव इनमे विशेष क्षयोपशम, उपयोग की एकाग्रता एव अभ्यस्तता कारण हैं तथा अल्प, अल्पविध, अक्षिप्र, निश्रित, सदिग्ध और अध्रुव ज्ञानो मे क्षयोपशम की मन्दता, उपयोग की विक्षिप्तता, अनभ्यस्तता आदि कारण होते है ।

किसी के चक्षुरिन्द्रिय की प्रबलता होती है तो वह किसी भी वस्तु को, शत्रु-मित्रादि को दूर से ही स्पष्ट देख लेता है । किसी के श्रोत्रेन्द्रिय की प्रबलता हो तो वह मन्दतम शब्द को भी आसानी से सुन लेता है । घ्राणेन्द्रिय जिसकी तीव्र हो, वह परोक्ष मे रही हुई वस्तु को भी गध के सहारे पहचान लेता है, जिस प्रकार अनेक कुत्ते वायु मे रही हुई मन्दतम गध से ही चोर-डाकुओ को पकड़वा देते है । मिट्टी को सूघकर ही भूगर्भवेत्ता धातुओ की खाने खोज लेते हैं । चीटी आदि अनेक कीड़े-मकोड़े अपनी तीव्र घ्राणेन्द्रिय के द्वारा दूर रहे हुए खाद्य पदार्थों को ढूँढ लेते हैं । सूँघकर ही असली-नकली पदार्थों की पहचान की जाती है । व्यक्ति जिह्वा के द्वारा चखकर खाद्य-पदार्थों का मूल्याकन करता है तथा उसमे रहे हुए गुण-दोषों को पहचान लेता है । नेत्र-हीन व्यक्ति लिखे हुए अक्षरों को अपनी तीव्र स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा स्पर्श करते हुए पढ़कर सुना देते है । इसी प्रकार नोइन्द्रिय अर्थात् मन की तीव्र शक्ति होने पर व्यक्ति प्रबल चिन्तन-मनन से भविष्य मे घटने वाली घटनाओं के शुभाशुभ परिणाम को ज्ञात कर लेते हैं । ये सब ज्ञानावरणीय एव दर्शनावरणीय कर्मों के विशिष्ट क्षयोपशम के अद्‌भुत फल हैं ।

मतिज्ञान पाँच इन्द्रियो और छठे मन के माध्यम से उत्पन्न होता है। इन छहों को अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के साथ जोडने पर चौबीस भेद हो जाते हैं। चक्षु और मन को छोड़कर चार इन्द्रियों द्वारा व्यंजनावग्रह होता है, अत. चौबीस मे इन चार भेदो को जोड़ने से मतिज्ञान के अट्ठाईस भेद हो जाते हैं। तत्पश्चात् अट्ठाईस को बारह-बारह भेदो से गुणित करने पर तीन सौ छत्तीस भेद होते हैं। मतिज्ञान के ये तीन सौ छत्तीस भेद भी सिर्फ स्थूल दृष्टि से समझने चाहिये, वैसे तो मतिज्ञान के अनन्त भेद है।

मतिज्ञान का विषय वर्णन

६५—तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं, तजहा—दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ।

(१) तत्थ दव्वओ णं आभिणिबोहिअनाणी आएसेणं सव्वाइं दव्वाइं जाणइ, न पासइ।
(२) खेत्तओ णं आभिणिबोहिअनाणी आएसेणं सव्वं खेत्तं जाणइ, न पासइ।
(३) कालओ ण आभिणिबोहिअनाणी आएसेणं सव्वं काल जाणइ, न पासइ।
(४) भावओ णं आभिणिबोहिअनाणी आएसेणं सव्वे भावे जाणइ, न पासइ।

६५—वह आभिनिबोधिक-मतिज्ञान संक्षेप में चार प्रकार का प्रतिपादन किया गया है। जैसे—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से।

(१) द्रव्य से मतिज्ञानी सामान्य प्रकार से सर्व द्रव्यो को जानता है, किन्तु देखता नही।
(२) क्षेत्र से मतिज्ञानी सामान्य रूप से सर्व क्षेत्र को जानता है, किन्तु देखता नही।
(३) काल से मतिज्ञानी सामान्यत तीनो कालो को जानता है, किन्तु देखता नही।
(४) भाव से मतिज्ञान का धारक सामान्यत सब भावो को जानता है, पर देखता नही।

विवेचन—इस सूत्र मे मतिज्ञान के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से सक्षेप मे चार भेद वर्णन किये गये है। जैसे—(१) द्रव्यत —द्रव्य से आभिनिबोधिक ज्ञानी आदेश—सामान्य रूप से सभी द्रव्यो को जानता है, किन्तु देखता नही। यहाँ 'आदेश' शब्द का तात्पर्य है प्रकार। वह सामान्य और विशेष रूप, इन दो भेदो मे विभाजित है, किन्तु यहाँ पर केवल सामान्यरूप ही ग्रहण करना चाहिये। अत मतिज्ञानी सामान्य आदेश के द्वारा धर्मास्तिकायादि सर्व द्रव्यो को जानता है, किन्तु कुछ विशेषरूप से भी जानता है।

आदेश का एक अर्थ श्रुत भी होता है। इसके अनुसार शका हो सकती है कि श्रुत के आदेश से द्रव्यो का जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह तो श्रुतज्ञान हुआ, किन्तु यहाँ तो प्रकरण मतिज्ञान का है। इस शंका का निराकरण यह है कि श्रुतनिश्रित मति को भी मतिज्ञान बतलाया गया है। इस विषय मे भाष्यकार कहते हैं—

"आदेसो त्ति व सुत्तं, सुओवलद्धेसु तस्स मइनाणं।
पसरइ तब्भावणया, विणा वि सुत्तानुसारेणं॥

अर्थात् श्रुतज्ञान द्वारा ज्ञात पदार्थों में, तत्काल श्रुत का अनुसरण किये बिना, केवल उसकी वासना से मतिज्ञान होता है। अतएव उसे मतिज्ञान ही जानना चाहिए, श्रुतज्ञान नही।

सूत्रकार ने 'आएसेणं सव्वाइं दव्वाइं जाणइ न पासइ' इसमें 'न पासइ' पद दिया है, किन्तु व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र में ऐसा पाठ है—

"दव्वओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वदव्वाइं जाणइ, पासइ।"

—भगवती सूत्र, श० ८, उ० २, सू० २२२

वृत्तिकार अभयदेव सूरि ने इस विषय मे कहा है कि 'मतिज्ञानी सर्व द्रव्यों को अवाय और धारणा की अपेक्षा से जानता है और अवग्रह तथा ईहा की अपेक्षा से देखता है, क्योंकि अवाय और धारणा ज्ञान के बोधक हैं, तथा अवग्रह और ईहा, ये दोनो अपेक्षाकृत सामान्यबोधक होने से दर्शन के द्योतक हैं। अत: 'पासइ' पद ठीक ही है। किन्तु नन्दीसूत्र के वृत्तिकार लिखते हैं कि—'न पासइ' से यह अभिप्राय है कि धर्मास्तिकायादि द्रव्यो के सर्व पर्याय आदि को नही देखता। वास्तव मे दोनो ही अर्थ संगत हैं।

क्षेत्रत —मतिज्ञानी आदेश से सभी लोकालोक क्षेत्र को जानता है, किन्तु देखता नही।

कालत—मतिज्ञानी आदेश से सभी काल को जानता है, किन्तु देखता नही।

भावत —आभिनिबोधिकज्ञानी आदेश से सभी भावो को जानता है, किन्तु देखता नही।

आभिनिबोधिक ज्ञान का उपसंहार

६६—उग्गह ईहाऽवाओ य, धारणा एव हुंति चत्तारि।
आभिणिबोहियनाणस्स, भेयवत्थू समासेणं॥

६६—आभिनिबोधिक-मतिज्ञान के सक्षेप मे अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा क्रम से ये चार भेदवस्तु—विकल्प होते हैं।

६७—अत्थाण उग्गहणम्मि, उग्गहो तह वियालणे ईहा।
ववसायम्मि अवाओ, धरणं पुण धारणं बिंति॥

६७—अर्थों के अवग्रहण को अवग्रह, अर्थों के पर्यालोचन को ईहा, अर्थों के निर्णयात्मक ज्ञान को अवाय और उपयोग की अविच्युति, वासना तथा स्मृति को धारणा कहते हैं।

६८—उग्गह इक्कं समयं, ईहावाया मुहुत्तमद्धं तु।
कालमसंखं संखं च, धारणा होइ नायव्वा॥

६८—अवग्रह अर्थात् नैश्चयिक अवग्रह ज्ञान का काल एक समय, ईहा और अवायज्ञान का समय अर्द्धमुहूर्त्त (अन्तर्मुहूर्त्त) तथा धारणा का काल-परिमाण सख्यात व असंख्यात काल पर्यन्त समझना चाहिए।

६९—पुट्ठं सुणेइ सद्दं, रूवं पुण पासइ अपुट्ठं तु।
गंधं रसं च फासं च, बद्धपुट्ठं वियागरे॥

६९—श्रोत्रेन्द्रिय के साथ स्पष्ट होने पर ही शब्द सुना जाता है, किन्तु नेत्र रूप को विना स्पृष्ट हुए ही देखते हैं। यहाँ 'तु' शब्द का प्रयोग एवकार के अर्थ मे है, इससे चक्षुरिन्द्रिय को

अप्राप्यकारी सिद्ध किया गया है। घ्राण, रसन और स्पर्शन इन्द्रियो से बद्धस्पृष्ट हुआ—प्रगाढ सम्बन्ध को प्राप्त पुद्‌गल अर्थात् गन्ध, रस और स्पर्श जाने जाते है।

७०—भासा-समसेढीओ, सद्दं जं सुणइ मीसियं सुणइ।
वोसेणी पुण सद्दं, सुणेइ नियमा पराघाए॥

७०—वक्ता द्वारा छोडे गए जिन भाषारूप पुद्‌गल-समूह को समश्रेणि मे स्थित श्रोता सुनता है, उन्हे नियम से अन्य शब्द द्रव्यो से मिश्रित ही सुनता है। विश्रेणि मे स्थित श्रोता शब्द को नियम से पराघात होने पर ही सुनता है।

विवेचन—वक्ता काययोग से भाषावर्गणा के पुद्‌गलो को ग्रहण करके, उन्हें वचनरूप मे परिणत करके वचनयोग से छोडता है। प्रथम समय मे गृहीत पुद्‌गल दूसरे समय मे और दूसरे समय मे गृहीत तीसरे समय मे छोडे जाते है।

वक्ता द्वारा छोडे गए शब्द उसकी सभी दिशाओ मे विद्यमान श्रेणियो– आकाश की प्रदेश-पंक्तियो मे अग्रसर होते है, क्योकि श्रेणी के अनुसार ही उनकी गति होती है, विश्रेणि मे गति नही होती।

जब वक्ता बोलता है तो समश्रेणि मे गमन करते हुए उसके द्वारा मुक्त शब्द, उसी श्रेणि मे पहले से विद्यमान भाषाद्रव्यो को अपने रूप मे– शब्द रूप मे—परिणत कर लेते है। इस प्रकार वे दोनो प्रकार के शब्द मिश्रित हो जाते हैं। उन मिश्रित शब्दो को ही समश्रेणी मे स्थित श्रोता ग्रहण करता है। कोरे वक्ता द्वारा छोडे गए शब्द-परिणत पुद्‌गलो को कोई भी श्रोता ग्रहण नही करता।

यह समश्रेणि मे स्थित श्रोता की बात हुई। मगर विश्रेणि मे अर्थात् वक्ता द्वारा मुक्त शब्द द्रव्य जिस श्रेणि मे गमन कर रहे हो, उससे भिन्न श्रेणि मे स्थित श्रोता किस प्रकार के शब्दो को सुनता है? क्योकि वक्ता द्वारा द्वारा निसृष्ट शब्द विश्रेणि मे जा नही सकते।

इस शका का समाधान गाथा के उत्तरार्ध मे किया गया है। वह यह है कि विश्रेणि मे स्थित श्रोता, न तो वक्ता द्वारा निसृष्ट शब्दो को सुनता है, न मिश्रित शब्दो को ही। वह वासित शब्दो को ही सुनता है। इसका तात्पर्य यह है कि वक्ता द्वारा निसृष्ट शब्द, दूसरे भाषाद्रव्यो को शब्दरूप मे वासित करते है, और वे वासित शब्द, विभिन्न समश्रेणियो मे जाकर वक्ता को सुनाई देते हैं।

७१—ईहा अपोह वीमांसा, मग्गणा य गवेसणा।
सन्ना-सई-मई-पन्ना, सव्वं आभिणिबोहियं॥
से त्तं आभिणिबोहियनाणपरोक्खं, से त्तं मइनाणं॥

७१—ईहा—सदर्थपर्यालोचनरूप, अपोह-निश्चयात्मक ज्ञान, विमर्श, मार्गणा—अन्वयधर्म-विधान रूप, और गवेषणा– व्यतिरेक धर्मनिराकरणरूप तथा संज्ञा, स्मृति, मति और प्रज्ञा, ये सब आभिनिबोधिक-मतिज्ञान के पर्यायवाची नाम हैं। यह आभिनिबोधिक ज्ञान-परोक्ष का विवरण पूर्ण हुआ। इस प्रकार मतिज्ञान का विवरण सम्पूर्ण हुआ।

विवेचन—इन्द्रियों की उत्कृष्ट शक्ति—श्रोत्रेन्द्रिय की उत्कृष्ट शक्ति है बारह योजन से आए हुए शब्द को सुन लेना। नौ योजन से आए हुए गन्ध, रस और स्पर्श के पुद्गलों को ग्रहण करने की उत्कृष्ट शक्ति घ्राण, रसना एवं स्पर्शन इन्द्रियों में होती है। चक्षुरिन्द्रिय की शक्ति रूप को ग्रहण करने की लाख योजन से कुछ अधिक है। यह कथन अभास्वर द्रव्य की अपेक्षा से है किन्तु भास्वर द्रव्य तो इक्कीस लाख योजन की दूरी से भी देखा जा सकता है। जघन्य से अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को ग्रहण कर सकती हैं।

मतिज्ञान के पर्यायवाची शब्द निम्नलिखित हैं—

(१) ईहा—सदर्थ का पर्यालोचन।
(२) अपोह—निश्चय करना।
(३) विमर्श—ईहा और अवाय के मध्य में होने वाली विचारधारा।
(४) मार्गणा—अन्वय धर्मों का अन्वेषण करना।
(५) गवेषणा—व्यतिरेक धर्मों से व्यावृत्ति करना।
(६) संज्ञा—अतीत में अनुभव की हुई और वर्त्तमान में अनुभव की जानेवाली वस्तु की एकता का अनुसंधान ज्ञान।
(७) स्मृति—अतीत में अनुभव की हुई वस्तु का स्मरण करना।
(८) मति—जो ज्ञान वर्तमान विषय का ग्राहक हो।
(९) प्रज्ञा—विशिष्ट क्षयोपशम से उत्पन्न यथावस्थित वस्तुगत धर्म का पर्यालोचन करना।
(१०) बुद्धि—अवाय का अंतिम परिणाम।

ये सब आभिनिबोधिक ज्ञान में समाविष्ट हो जाते हैं। जातिस्मरण ज्ञान के द्वारा भी, जो कि मतिज्ञान की ही एक पर्याय है, उत्कृष्ट नौ सौ संज्ञी के रूप में हुए अपने भव जाने जा सकते हैं। जब मतिज्ञान की पूर्णता हो जाती है, तब वह नियमेन अप्रतिपाती हो जाता है। उसके होने पर केवलज्ञान होना निश्चित है। किन्तु जघन्य-मध्यम मतिज्ञानी को केवलज्ञान हो सकता है और नहीं भी हो सकता है।

इस प्रकार मतिज्ञान का विषय सम्पूर्ण हुआ। □□

श्रुतज्ञान

७२—से किं तं सुयनाणपरोक्खं ?

सुयनाणपरोक्खं चोद्दसविहं पन्नत्तं, तं जहा—(१) अक्खरसुयं (२) अणक्खर-सुयं (३) सण्णि-सुयं (४) असण्णि-सुयं (५) सम्मसुयं (६) मिच्छसुयं (७) साइयं (८) अणाइयं (९) सपज्ज-वसियं (१०) अपज्जवसियं (११) गमियं (१२) अगमियं (१३) अंगपविट्ठं (१४) अणंगपविट्ठं ।

७२—प्रश्न—श्रुतज्ञान-परोक्ष कितने प्रकार का है ?

उत्तर—श्रुतज्ञान-परोक्ष चौदह प्रकार का है। जैसे (१) अक्षरश्रुत (२) अनक्षरश्रुत (३) संज्ञिश्रुत (४) असंज्ञिश्रुत (५) सम्यक्श्रुत (६) मिथ्याश्रुत (७) सादिकश्रुत (८) अनादिकश्रुत (९) सपर्यवसितश्रुत (१०) अपर्यवसितश्रुत (११) गमिकश्रुत (१२) अगमिकश्रुत (१३) अङ्गप्रविष्ट-श्रुत (१४) अनङ्गप्रविष्टश्रुत।

विवेचन—श्रुतज्ञान भी मतिज्ञान की तरह परोक्ष है। श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है इसीलिए सूत्रकार ने मतिज्ञान के पश्चात् श्रुतज्ञान का वर्णन किया है। उल्लिखित सूत्र मे श्रुतज्ञान के चौदह भेदों का नामोल्लेख किया गया है। इन सभी की व्याख्या सूत्रकार क्रमश आगे करेंगे।

यहाँ शका उत्पन्न होती है कि जब अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत मे शेष सभी भेदो का समावेश हो जाता है तो फिर बारह भेदो का उल्लेख क्यो किया गया है ?

इस शका का समाधान इस प्रकार है—जिज्ञासु मनुष्य दो प्रकार के होते हैं—व्युत्पन्नमतिवाले और अव्युत्पन्नमतिवाले। अव्युत्पन्नमतियुक्त व्यक्तियो के विशिष्ट बोध हेतु बारह भेदो का निरूपण किया गया है, क्योंकि वे अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत, इन दो के द्वारा समग्र श्रुत का ज्ञान प्राप्त करने मे असमर्थ होते हैं। सूत्रकार ने उनकी अनुकम्पा के लिये शेष भेदों का उल्लेख किया है।

अक्षरश्रुत

७३—से किं तं अक्खरसुअं ?

अक्खरसुअं तिविहं पन्नत्तं, तं जहा—(१) सन्नक्खरं (२) वंजणक्खरं (३) लद्धिअक्खरं।

(१) से किं तं सन्नक्खरं ? अक्खरस्स संठाणागिई, से त्तं सन्नक्खरं।

(२) से किं तं वंजणक्खरं ? वंजणक्खरं अक्खरस्स वंजणाभिलावो, से त्तं वंजणक्खरं।

(३) से किं तं लद्धिअक्खरं ? लद्धि-अक्खरं अक्खर-लद्धियस्स लद्धिअक्खरं समुप्पज्जइ, तं जहा—सोइन्दिय-लद्धि-अक्खरं, चक्खिदिय-लद्धि-अक्खरं, घाणिदिय-लद्धि-अक्खरं, रसणिदिय-लद्धि-अक्खरं, नोइंदिय-लद्धि-अक्खरं।

से त्तं लद्धि-अक्खरं, से त्तं अक्खरसुअं।

७३—अक्षरश्रुत कितने प्रकार का है।

अक्षरश्रुत तीन प्रकार से वर्णित किया गया है, जैसे—(१) सज्ञा-अक्षर (२) व्यञ्जन-अक्षर और (३) लब्धि-अक्षर।

(१) संज्ञा-अक्षर किस तरह का है ? अक्षर का सस्थान या आकृति आदि, जो विभिन्न लिपियो में लिखे जाते हैं, वे सज्ञा-अक्षर कहलाते है।

(२) व्यञ्जन-अक्षर क्या है ? उच्चारण किए जाने वाले अक्षर व्यजन-अक्षर कहे जाते हैं।

(३) लब्धि-अक्षर क्या है ? अक्षर-लब्धि वाले जीव को लब्धि-अक्षर उत्पन्न होता है अर्थात् भावरूप श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। जैसे—श्रोत्रेन्द्रियलब्धि-अक्षर, चक्षुरिन्द्रियलब्धि-अक्षर, घ्राणेन्द्रिय-लब्धि-अक्षर, रसनेन्द्रियलब्धि-अक्षर, स्पर्शनेन्द्रियलब्धि-अक्षर, नोइन्द्रियलब्धि-अक्षर। यह लब्धि-अक्षरश्रत है। इस प्रकार अक्षरश्रुत का वर्णन है।

अनक्षरश्रुत

७४—से किं तं अणक्खर-सुअं ? अणक्खर-सुअ अणेगविहं पण्णत्त, तं जहा—

(१) ऊससियं नीससियं, निच्छूढं खासियं च छीयं च।
निस्सिघिय-मणुसारं, अणक्खरं छेलिआईअं॥

से त्तं अणक्खरसुअं। ॥ सूत्र ३९॥

७४—अनक्षरश्रुत कितने प्रकार का है ? अनक्षरश्रुत अनेक प्रकार का कहा गया है, जैसे, ऊपर को श्वास लेना, नीचे श्वास लेना, थूकना, खाँसना, छीकना, निःसिघना (नाक साफ करना) तथा अन्य अनुस्वार युक्त चेष्टा करना आदि। यह सभी अनक्षरश्रुत है।

विवेचन—अक्षरश्रुत—सूत्र मे अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत का वर्णन किया गया है। क्षर 'सचलने' धातु से अक्षर शब्द बनता है। यथा--न क्षरति—न चलति—इत्यक्षरम्—अर्थात् अक्षर का अर्थ ज्ञान है, ज्ञान जीव का स्वभाव है। द्रव्य अपने स्वभाव मे स्थिर रहता है। जीव भी एक द्रव्य है, उसमे जो स्वभाव-गुण है वे अन्य किसी द्रव्य मे नही पाये जाते और अन्य द्रव्यो मे जो गुण-स्वभाव हैं वे जीव मे नही पाये जाते। आत्मा से ज्ञान कभी नही हटता, सुषुप्ति अवस्था मे भी जीव का स्वभाव होने के कारण ज्ञान बना रहता है।

यहाँ भावाक्षर का कारण होने से लिखित एव उच्चारित 'अकार' आदि को भी उपचार से 'अक्षर' कहा गया है। अक्षरश्रुत, भावश्रुत का कारण है। भावश्रुत को लब्धि-अक्षर भी कहते हैं। सज्ञाक्षर और व्यजनाक्षर ये दोनो द्रव्यश्रुत में अन्तर्निहित हैं। इसीलिए अक्षरश्रुत के तीन भेद किये गये हैं, सज्ञाक्षर, व्यंजनाक्षर तथा लब्ध्यक्षर।

(१) सज्ञाक्षर—अक्षर की आकृति, बनावट या सस्थान को सज्ञाक्षर कहते हैं। उदाहरण स्वरूप—अ, आ, इ, ई, अथवा A B. C D. आदि लिपियाँ। अन्य भाषाओ की भी जितनी लिपियाँ हैं, उनके अक्षर भी सज्ञाक्षर समझना चाहिए।

(२) व्यजनाक्षर—व्यंजनाक्षर वे कहलाते है, जो अकार, इकार आदि अक्षर बोले जाते है। विश्व मे जितनी भाषाएँ बोली जाती हैं, उनके उच्चारणरूप अक्षर व्यजनाक्षर कहलाते हैं। जैसे दीपक के द्वारा प्रत्येक वस्तु प्रकाशित होकर दिखाई देने लगती है, उसी प्रकार व्यजनाक्षरो के द्वारा अर्थ समझ में आता है। जिस-जिस अक्षर की जो-जो सज्ञा होती है, उनका उच्चारण भी तदनुकूल ही, तभी वे द्रव्याक्षर, भावश्रुत के कारण बन सकते हैं। अक्षरो के सही मेल से शब्द बनता है, पद और वाक्य बनते हैं जिनके सकलन से बड़े-बडे ग्रन्थ तैयार होते है।

(३) लब्ध्यक्षर—शब्द को सुनकर अर्थ का अनुभवपूर्वक पर्यालोचन करना लब्धिअक्षर कहलाता है। यही भावश्रुत है, क्योकि अक्षर के उच्चारण से जो उसके अर्थ का बोध होता है, उससे ही भावश्रुत उत्पन्न होता है। कहा भी है—

"शब्दादिग्रहणसमनन्तरमिन्द्रियमनोनिमित्तं शब्दार्थपर्यालोचनानुसारि शांखोऽयमित्यक्षरानुविद्धं ज्ञानमुपजायते इत्यर्थः।"

अर्थात्—"शब्द ग्रहण होने के पश्चात् इन्द्रिय और मन के निमित्त से जो शब्दार्थ पर्यालोचनानुसारी ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी को लब्ध्यक्षर कहते है।"

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि उपर्युक्त लक्षण सज्ञी जीवो मे घटित हो सकता है, किन्तु विकलेन्द्रिय एव असज्ञी जीवो मे अकारादि वर्णों को सुनने की और उच्चारण कर सकने की शक्ति का अभाव है। उन जीवो के लब्धिअक्षर कैसे सभव हो सकता है ?

उत्तर यह है कि श्रोत्रेन्द्रिय का अभाव होने पर भी तथाविध क्षयोपशम उन जीवो मे अवश्य होता है। इसीलिये उनको अव्यक्त भावश्रुत प्राप्त होता है। उन जीवो मे, आहारसंज्ञा भयसज्ञा, मैथुनसज्ञा और परिग्रहसज्ञा होती हैं। संज्ञा अभिलाषा को कहते हैं, अभिलाषा, ही प्रार्थना है। भय दूर हो जाय, यह प्राप्त हो जाय, इस प्रकार की चाह अथवा इच्छा अक्षरानुसारी होने से उनको भी नियम से लब्धिअक्षर होता है। वह छ· प्रकार का है।

(१) जीवशब्द, अजीवशब्द या मिश्रशब्द सुनकर कहने वाले के भाव को समझ लेना तथा गर्जना करने से, हिनहिनाने से अथवा भोकने आदि के शब्दो से तिर्यच जीवो के भावो को समझ लेना श्रोत्रेन्द्रिय लब्ध्यक्षर है।

(२) पत्र, पत्रिका और पुस्तक आदि पढ़कर तथा औरो के सकेत व इशारे देखकर उनके अभिप्राय को जान लेना चक्षुरिन्द्रिय-लब्ध्यक्षर कहलाता है, क्योकि देखकर उसके उत्तर के लिये, उसकी प्राप्ति के लिए अथवा उसे दूर करने के लिये जो भाव होते है वे अक्षररूप होते हैं।

(३) विभिन्न जाति के फल-फूलो की सुगंध, पशु-पक्षी, स्त्री-पुरुष की गध अथवा भक्ष्याभक्ष्य पदार्थों की गध को सूंघकर जान लेना घ्राणेन्द्रिय लब्धि-अक्षर है।

(४) किसी भी खाद्य पदार्थ को चखकर उसके खट्टे, मीठे, तीखे अथवा चरपरे रस से पदार्थ का ज्ञान कर लेना जिह्वेन्द्रिय लब्ध्यक्षर कहलाता है।

(५) स्पर्श के द्वारा शीत, उष्ण, हलके, भारी, कठोर अथवा कोमल वस्तुओं की पहचान कर लेना तथा प्रज्ञाचक्षु होने पर भी स्पर्श से अक्षर पहचान कर भाव समझ लेना स्पर्शेन्द्रिय लब्ध्यक्षर कहलाता है।

(६) जीव जिस वस्तु का चिन्तन करता है, उसकी अक्षर रूप मे शब्दावलि अथवा वाक्यावलि बन जाती है यथा—अमुक वस्तु मुझे प्राप्त हो जाए, मेरा मित्र मुझे मिल जाय आदि आदि। यह नोइन्द्रिय अथवा मनोजन्य लब्ध्यक्षर कहलाता है।

यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब पाँच इन्द्रियो और मन, इन छहो निमित्तो में से किसी भी निमित्त से मतिज्ञान भी पैदा होता है और श्रुतज्ञान भी, तब उस ज्ञान को मतिज्ञान कहा जाय या श्रुतज्ञान ?

उत्तर इस प्रकार है—मतिज्ञान कारण है और श्रुतज्ञान कार्य। मतिज्ञान सामान्य है जबकि श्रुतज्ञान विशेष, मतिज्ञान मूक है और श्रुतज्ञान मुखर, मतिज्ञान अनक्षर है और श्रुतज्ञान अक्षरपरिणत होता है। जब इन्द्रिय एव मन से अनुभूति रूप ज्ञान होता है, तब वह मतिज्ञान कहलाता है और जब वह अक्षर रूप मे स्वय अनुभव करता है या दूसरे को अपना अभिप्राय किसी प्रकार की चेष्टा से बताता है, तब वह अनुभव और चेष्टा आदि श्रुतज्ञान कहा जाता है। ये दोनो ही ज्ञान सहचारी है। जीव का स्वभाव ऐसा है कि उसका उपयोग एक समय मे एक ओर ही लग सकता है, एक साथ दोनो ओर नही।

अनक्षर श्रुत—जो शब्द अभिप्राययुक्त एव वर्णात्मक न हो, केवल ध्वनिमय हो, वह अनक्षरश्रुत कहलाते हैं। व्यक्ति दूसरे को अपनी कोई विशेष बात समझाने के लिये इच्छापूर्वक सकेत सहित अनक्षर शब्द करता है, वह अनक्षरश्रुत होता है। जैसे लबे-लबे श्वास लेना और छोडना, छीकना, खाँसना, हुकार करना तथा सीटी, घटी, बिगुल आदि बजाना। बुद्धिपूर्वक दूसरो को चेतावनी देने के लिए, हित-अहित जताने के लिये, प्रेम, द्वेष अथवा भय प्रदर्शित करने के लिये या अपने आने-जाने की सूचना देने के लिये जो भी शब्द या सकेत किये जाते है वे सब अनक्षरश्रुत मे आते है। बिना प्रयोजन किया हुआ शब्द अनक्षरश्रुत नही होता। उक्त ध्वनियो को भावश्रुत का कारण होने से द्रव्यश्रुत कहा जाता है।

संज्ञि-असंज्ञिश्रुत

७५—से किं तं सण्णिसुअं ?

सण्णिसुअं तिविहं पण्णत्तं, तं जहा—कालिओवएसेणं हेऊवएसेणं दिट्ठिवाओवएसेणं।

से किं तं कालिओवएसेणं ?

कालिओवएसेणं—जस्स णं अत्थि ईहा, अवोहो, मग्गणा, गवेसणा, चिंता, वीमंसा, से णं सण्णीति लब्भइ। जस्स णं नत्थि ईहा, अवोहो, मग्गणा, गवेसणा, चिंता, वीमंसा, से णं असण्णीति लब्भइ, से त्तं कालिओवएसेणं।

से किं तं हेऊवएसेणं ?

हेऊवएसेणं—जस्स णं अत्थि अभिसंधारणपुव्विआ करणसत्ती, से णं सण्णीति लब्भइ। जस्स णं नत्थि अभिसंधारणपुव्विआ करणसत्ती, से णं असण्णीति लब्भइ। से त्तं हेऊवएसेणं।

से किं तं दिट्ठिवाओवएसेणं ?

दिट्ठिवाओवएसेणं सण्णिसुअस्स खओवसमेणं सण्णी लब्भइ। असण्णिसुअस्स खओवसमेणं असण्णी लब्भइ। से त्तं दिट्ठिवाओवएसेणं, से त्तं सण्णिसुअं, से त्तं असण्णिसुअं। ।। सूत्र ४० ।।

७५—सञ्ज्ञिश्रुत कितने प्रकार का है?

सञ्ज्ञिश्रुत तीन प्रकार का है। यथा—(१) कालिकी-उपदेश से (२) हेतु-उपदेश से और (३) दृष्टिवाद-उपदेश से।

(१) कालिकी-उपदेश से सञ्ज्ञिश्रुत किस प्रकार का है?

कालिकी-उपदेश से जिसे ईहा, अपोह, निश्चय, मार्गणा—अन्वय-धर्मान्वेषण, गवेषणा—व्यतिरेक-धर्मनिरास-पर्यालोचन, चिन्ता—'कैसे होगा?' इस प्रकार पर्यालोचन, विमर्श—अमुक वस्तु इस प्रकार सघटित होती है, ऐसा विचार करना। उक्त प्रकार से जिस प्राणी की विचारधारा हो, वह सज्ञी कहलाता है। जिसके ईहा, अपाय, मार्गणा, गवेषणा, चिता और विमर्श नही हो, वह असज्ञी होना है। सज्ञी जीव का श्रुत सज्ञी-श्रुत और असज्ञी का असज्ञी-श्रुत कहलाता है। यह कालिकी-उपदेश से सज्ञी एव असंज्ञीश्रुत है।

(२) हेतु-उपदेश से सञ्ज्ञिश्रुत किस प्रकार का है?

हेतु-उपदेश से जिस जीव की अव्यक्त या व्यक्त विज्ञान के द्वारा आलोचना पूर्वक क्रिया करने की शक्ति-प्रवृत्ति है, वह सज्ञी कहा जाता है। इसके विपरीत जिस प्राणी की अभिसधारण-पूर्विका कारण-शक्ति अर्थात् विचारपूर्वक क्रिया करने मे प्रवृत्ति नही है, वह असज्ञी होता है।

(३) दृष्टिवाद-उपदेश से सञ्ज्ञिश्रुत किस प्रकार है?

दृष्टिवाद-उपदेश की अपेक्षा से सञ्ज्ञिश्रुत के क्षयोपशम से संज्ञी कहा जाता है। असञ्ज्ञिश्रुत के क्षयोपशम से 'असज्ञी' ऐसा कहा जाता है। यह दृष्टिवादोपदेश से सज्ञी है। इस प्रकार सञ्ज्ञिश्रुत और असञ्ज्ञिश्रुत का कथन हुआ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे सञ्ज्ञिश्रुत और असञ्ज्ञिश्रुत की परिभाषा बतलाई गई है। जिसके सज्ञा हो, वह सज्ञी और जिसके सज्ञा न हो, वह असंज्ञी कहलाता है। दोनो ही तीन-तीन प्रकार से होते है—दीर्घकालिकी उपदेश से, हेतु-उपदेश से और दृष्टिवाद-उपदेश से।

दीर्घकालिकी-उपदेश—जिसके सम्यक् अर्थ को विचारने की बुद्धि, अर्थात् ईहा है, अपोह—निश्चयात्मक विचारणा है, जो मार्गणा यानी अन्वय-धर्मान्वेषण करे, गवेषणा अर्थात् व्यतिरेक धर्म अर्थात् वस्तु मे अविद्यमान धर्मों के निषेध का पर्यालोचन करे तथा भूत, भविष्य और वर्तमान के लिये अमुक कार्य कैसे हुआ, होगा या हो रहा है, इस प्रकार चिन्तन करे और इस प्रकार विचार-विमर्श आदि के द्वारा जो वस्तु तत्त्व को भलीभाति जाने वह सज्ञी है। गर्भज प्राणी, औपपातिक देव और नारक जीव, ये सब मन.पर्याप्ति से सम्पन्न, सज्ञी कहलाते हैं। क्योंकि त्रिकालविषयक चिन्ता तथा विचार-विमर्श आदि उन्ही को संभव है। भाष्यकार का अभिमत भी इसी मान्यता को पुष्ट करना है—

"इह दीहकालिगी कालीगित्ति, सण्णा जया सुदीहं पि।
संभरइ भूयमेस्सं चिंतेइ य, किण्णु कायव्वं?।।

कालिय सन्निति तओ जस्स मई, सो य तो मणोजोग्गे ।
खंधेऽणंते घेत्तुं मणइ तल्लद्धिसंपत्तो ।"

उक्त पदों की व्याख्या ऊपर दी जा चुकी है। जैसे नेत्रों में ज्योति होने पर प्रदीप के प्रकाश से वस्तु तत्त्व की स्पष्ट जानकारी हो जाती है, उसी प्रकार मनोलब्धि-सम्पन्न प्राणी मनोद्रव्य के आधार से विचार-विमर्श आदि के द्वारा आगे-पीछे की बात को भली-भाँति जान लेने के कारण सज्ञी कहलाता है। किन्तु जिसे मनोलब्धि प्राप्त नही है, वह असज्ञी होता है। असज्ञी जीवो मे समूर्छिम पंचेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, और एकेन्द्रिय, सभी का अन्तर्भाव हो जाता है।

यहाँ शका की जा सकती है कि सूत्र में जब 'कालिकी उपदेश' का उल्लेख किया गया है, तब दीर्घकालिकी उपदेश कैसे बताया गया है ?

उत्तर में कहा जाता है कि यहाँ 'कालिकी' का आशय दीर्घकालिकी ही समझना चाहिए। भाष्यकार ने भी दीर्घकालिकी अर्थ कहा है और वृत्तिकार ने स्पष्टीकरण करते हुए बताया है—

"तत्र कालिक्युपदेशेनेत्यत्रादिपदलोपाद्दीर्घकालिक्युपदेशेनेति द्रष्टव्यम् ।"

अर्थात् 'कालिकी' पद मे आदि के 'दीर्घ' शब्द का लोप हो गया है।

जिस प्रकार मनोलब्धि स्वल्प, स्वल्पतर और स्वल्पतम होती है, उसी प्रकार अस्पष्ट, अस्पष्टतर और अस्पष्टतम अर्थ की ज्ञप्ति होती है। उसी प्रकार सज्ञी पचेन्द्रिय से समूर्छिम पचेन्द्रिय में अस्पष्ट ज्ञान होता है, चतुरिन्द्रिय मे उससे न्यून, त्रीन्द्रिय मे और भी न्यून तथा द्वीन्द्रिय मे अस्पष्टतर होता है। एकेन्द्रिय मे अस्पष्टतम होता है। असज्ञी जीव होने से इनका श्रुत असज्ञीश्रुत कहलाता है।

हेतु-उपदेश—जिसकी बुद्धि अपने शरीर के पोषण के लिए उपयुक्त आहार मे प्रवृत्त तथा अनुपयुक्त आहार आदि से निवृत्त है, उसे हेतु-उपदेश से सज्ञी कहा जाता है। इस दृष्टि से चार त्रस सज्ञी है और पाँच स्थावर असज्ञी। उदाहरण स्वरूप—मधुमक्खी इधर-उधर से मकरंद-पान करके पुन अपने स्थान पर आ जाती है। मच्छर आदि निशाचर दिन मे छिपे रहकर रात्रि को बाहर निकलते हैं तथा मक्खियाँ शाम को किसी सुरक्षित स्थान में बैठ जाती हैं। वे सर्दी-गरमी से बचने के लिए धूप से छाया मे और छाया से धूप मे आते जाते हैं तथा दु.ख से बचने का प्रयत्न करते है। इसलिये ये सब संज्ञी कहलाते हैं। किन्तु जिन जीवो की इष्ट-अनिष्ट मे प्रवृत्ति-निवृत्ति नही होती वे असंज्ञी होते हैं। जैसे—वृक्ष, लता आदि पाँच स्थावर। दूसरे शब्दो मे हेतु-उपदेश की अपेक्षा पाँच स्थावर असज्ञी होते हैं शेष सब सज्ञी। कहा भी है—

कृमिकीटपंतगाद्याः, समनस्काः जंगमाश्चतुर्भेदाः ।
अमनस्काः पंचविधाः, पृथिवीकायादयो जीवाः ॥

इस कथन से भी इस बात की पुष्टि होती है कि ईहा आदि चेष्टाओ से युक्त कृमि, कीट पतंगादि त्रस जीव सज्ञी है, तथा पृथ्वी कायादि पाँच स्थावर जीव असज्ञी।

दृष्टिवादोपदेश—दृष्टि दर्शन को कहते हैं तथा सम्यक्ज्ञान का नाम संज्ञा है। ऐसी सज्ञा से युक्त जीव संज्ञी कहलाता है।

"संज्ञानं संज्ञा—सम्यग्ज्ञानं, तदस्यास्तीति संज्ञी-सम्यग्दृष्टिस्तस्य यच्छ्रुतं, तत्संज्ञिश्रुतं सम्यक्श्रुतमिति।"

सम्यक्दृष्टि जीव दृष्टिवादोपदेश से सज्ञी कहलाता है। वस्तुत यथार्थ रूप से हिताहित मे प्रवृत्ति-निवृत्ति सम्यक्दर्शन के बिना नही हो सकती। सज्ञी जीव ही यथायोग्य राग आदि भाव-शत्रुओं को जीतने में प्रयत्नशील और कालान्तर मे समर्थ बनता है। कहा भी है—

"तज्ज्ञानमेव न भवति, यस्मिन्नुदिते विभाति रागगणाः।
तमसः कुतोऽस्ति शक्तिर्दिनकरकिरणाग्रतः स्थातुम्॥

अर्थात् वह ज्ञान ही नही है, जिसके प्रकाशित होने पर भी राग-द्वेष, काम-क्रोध, मद-लोभ एव मोहादि विभाव ठहर सके। भला सूर्य के उदय होने पर क्या अधकार ठहर सकता है? कदापि नहीं।

इस अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि असज्ञी कहलाते हैं। इस प्रकार दृष्टिवादोपदेश की अपेक्षा से सज्ञी और असज्ञी श्रुत का प्रतिपादन किया गया है।

सम्यक्श्रुत

७६—से किं तं सम्मसुअं?

सम्मसुअं जं इमं अरहंतेहिं भगवंतेहिं उप्पण्णनाणदंसणधरेहिं, तेलुक्क-निरिक्खिअ-महिअ-पूइएहिं, तीय-पडुप्पण्ण-मणागयजाणएहिं, सव्वण्णूहिं, सव्वदरिसीहिं, पणीअं दुवालसगं गणि-पिडगं, तं जहा—

(१) आयारो (२) सूयगडो (३) ठाणं (४) समवाओ (५) विवाहपण्णत्ती (६) नायाधम्मकहाओ (७) उवासगदसाओ, (८) अंतगडदसाओ (९) अणुत्तरोववाइयदसाओ (१०) पण्हावागरणाइं, (११) विवागसुअं (१२) दिट्ठिवाओ, इच्चेअं दुवालसगं गणिपिडगं—चोद्दसपुव्विस्स सम्मसुअं, अभिण्णदसपुव्विस्स सम्मसुअं, तेण परं भिण्णेसु भयणा। से त्तं सम्मसुअं। ॥ सूत्र० ४१ ॥

७६—सम्यक्श्रुत किसे कहते हैं?

सम्यक्श्रुत उत्पन्न ज्ञान और दर्शन को धारण करने वाले, त्रिलोकवर्त्ती जीवों द्वारा आदर-सन्मानपूर्वक देखे गये तथा यथावस्थित उत्कीर्तित, भावयुक्त नमस्कृत, अतीत, वर्तमान और अनागत को जाननेवाले, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी अर्हंत-तीर्थंकर भगवन्तो द्वारा प्रणीत-अर्थ मे कथन किया हुआ—जो यह द्वादशाङ्गरूप गणिपिटक है, जैसे—

(१) आचाराङ्ग (२) सूत्रकृताङ्ग (३) स्थानाङ्ग (४) समवायाङ्ग (५) व्याख्याप्रज्ञप्ति (६) ज्ञाताधर्मकथाङ्ग (७) उपासकदशाङ्ग (८) अन्तकृद्दशाङ्ग (९) अनुत्तरौपपातिकदशाङ्ग (१०) प्रश्नव्याकरण (११) विपाकश्रुत और (१२) दृष्टिवाद, यह सम्यक्श्रुत है।

यह द्वादशाङ्ग गणिपिटक चौदह पूर्वधारी का सम्यक्श्रुत ही होता है। सम्पूर्ण दस पूर्वधारी का भी सम्यक्श्रुत ही होता है। उससे कम अर्थात् कुछ कम दस पूर्व और नव आदि पूर्व का ज्ञान होने पर विकल्प है, अर्थात् सम्यक्श्रुत हो और न भी हो। इस प्रकार यह सम्यक्श्रुत का वर्णन पूरा हुआ।

विवेचन—इस सूत्र मे सम्यक्श्रुत का वर्णन किया गया है। सम्यक्श्रुत के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होते हैं। जैसे—

(१) सम्यक्श्रुत के प्रणेता कौन हो सकते है ?
(२) सम्यक्श्रुत किसको कहते हैं ?
(३) गणिपिटक का क्या अर्थ है ? तथा
(४) आप्त किसे कहते है ?

इन सबका उत्तर विवेचन सहित क्रमश· दिया जाएगा।

सम्यक्श्रुत के प्रणेता देवाधिदेव अरिहन्त प्रभु हैं। अरिहन्त शब्द गुण का वाचक है, व्यक्ति-वाचक नही। नाम, स्थापना और द्रव्य निक्षेप यहाँ अभिप्रेत नही है। अर्थात् यदि किसी का नाम अरिहन्त है तो उसका यहाँ प्रयोजन नही है, अरिहन्त के चित्र या प्रतिमा आदि स्थापना निक्षेप का भी नही, और भविष्य मे अरिहन्त पद प्राप्त करने वाले जीवो से या जिन अरिहन्तो ने सिद्ध पद प्राप्त कर लिया है, ऐसे परित्यक्तशरीर जो द्रव्य निक्षेप के अन्तर्गत आते हैं, उनका भी प्रयोजन यहाँ नही है, क्योंकि वे भी सम्यक्श्रुत के प्रणेता नही हो सकते। केवल भावनिक्षेप से जो अरिहन्त हैं, वे ही सम्यक्श्रुत के प्रणेता होते है। भाव अरिहन्तो के लिए सूत्रकार ने सात विशेषण बताए हैं, यथा—

(१) अरिहन्तेहिं—जो राग, द्वेष, विषयकषायादि अठारह दोषो से रहित और चार घनघाति कर्मो का नाश कर चुके हैं, ऐसे उत्तम पुरुष भाव अरिहन्त कहलाते है। भाव तीर्थंकर इन विशेषताओ से सम्पन्न होते हैं।

(२) भगवन्तेहिं—जिस लोकोत्तर महान् आत्मा मे सम्पूर्ण ऐश्वर्य, असीम उत्साह और शक्ति, त्रिलोकव्यापी यश, अद्वितीय श्री, रूप-सौन्दर्य, सोलहो कलाओ से पूर्ण धर्म, विश्व के समस्त उत्तमोत्तम गुण तथा आत्मशुद्धि के लिए अथक श्रम हो, उसे ही वस्तुत. भगवान् कहा जा सकता है।

शका हो सकती है कि—'भगवन्त' शब्द सिद्धो के लिये भी प्रयुक्त होता है तो क्या वे भी सम्यक्श्रुत के प्रणेता हो सकते है ?

इस शका का समाधान यह है कि सिद्धो मे रूप का सर्वथा अभाव है, क्योकि अशरीरी होने से उनमे रूप ही नही तो समग्र रूप कैसे रह सकता है ? रूप-सौन्दर्य सशरीरी मे ही होता है। दूसरे आत्म-सिद्धि के लिये अथक एवं पूर्ण प्रयत्न भी सशरीरी ही कर सकता है, अशरीरी नही। अतः यही सिद्ध होता है कि सिद्ध भगवान् श्रुत के प्रणेता नही हैं और भगवान् शब्द यहाँ अरिहन्तो की विशेषता बताने के लिये ही प्रयुक्त किया गया है।

(३) उप्पण्ण-नाणदसणधरेहिं—अरिहन्त का तीसरा विशेषण है—उत्पन्न ज्ञानदर्शन के धारक। वैसे ज्ञान-दर्शन तो अध्ययन और अभ्यास से भी हो सकता है पर ऐसे ज्ञान-दर्शन में पूर्णता नहीं होती। यहाँ सम्पूर्ण ज्ञान-दर्शन अभिप्रेत है।

शंका हो सकती है कि यह तीसरा विशेषण ही पर्याप्त है, फिर अरिहन्त-भगवान् के लिए पूर्वोक्त दो विशेषण क्यों जोडे हैं ? इसका उत्तर यही है कि तीसरा विशेषण तो सामान्य केवली मे भी पाया जाता है, किन्तु वे सम्यक्श्रुत के प्रणेता नहीं होते। अतः यह विशेषण दोनों पदों को पुष्टि

करता है। कुछ लोग ईश्वर को अनादि सर्वज्ञ मानते हैं, उनके मत का निषेध करने के लिये भी यह विशेषण दिया गया है। क्योकि वह 'उत्पन्न हो गया है ज्ञान-दर्शन जिसमें' यह विशेषण उसमे नही पाया जाता है।

(४) तेलुक्कनिरिक्खियमहियपूइएहिं—जो त्रिलोकवासी असुरेन्द्रों, नरेन्द्रो और देवेन्द्रो के द्वारा प्रगाढ़ श्रद्धा-भक्ति से अवलोकित हैं, असाधारण गुणो के कारण प्रशसित हैं तथा मन, वचन एव कर्म की शुद्धता से वदनीय और नमस्करणीय है, सर्वोत्कृष्ट सम्मान एव बहुमान आदि से पूजित हैं।

(५) तीयपडुप्पण्णमणागयजाणएहिं—जो तीनो कालो के ज्ञाता है। यह विशेषण मायावियो में तो नही पाया जाता, किन्तु कुछ व्यवहारनय की मान्यता वालो का कथन है—

"ऋषयः संयतात्मानः फलमूलानिलाशनाः।
तपसैव प्रपश्यन्ति, त्रैलोक्यं सचराचरम्॥"

अर्थात्—विशिष्ट ज्योतिषी, तपस्वी और दिव्यज्ञानी भी तीन कालो को उपयोगपूर्वक जान सकते हैं। इसलिये सूत्रकार ने छठा विशेषण बताते हुए कहा है—

(६) सव्वण्णूहिं—जो सर्वज्ञानी अर्थात् लोक अलोक आदि समस्त के ज्ञाता हैं, जो विश्व मे स्थित सम्पूर्ण पदार्थों को हस्तामलकवत् जानते है, जिनके ज्ञानरूपी दर्पण मे भी सभी द्रव्य और पर्याय युगपत् प्रतिबिम्बित हो रहे हैं, जिनका ज्ञान नि सीम है, उनके लिए यह विशेषण प्रयुक्त किया गया है।

(७) सव्वदरिसीहिं—जो सभी द्रव्यो और उनकी पर्यायो का साक्षात्कार करते है।

जो इन सात विशेषणो से सम्पन्न होते है, वस्तुत वे ही सर्वोत्तम आप्त होते हैं। वे ही द्वादशाङ्ग गणिपिटक के प्रणेता और सम्यक्श्रुत के रचयिता होते है। उक्त सातो विशेषण तेरहवे गुणस्थानवर्ती तीर्थंकर देवों के हैं, न कि अन्य पुरुषो के।

गणिपिटक—पिटक पेटी या सन्दूक को कहते है। जैसे राजा-महाराजाओ तथा धनाढ्य श्रीमन्तो के यहाँ पेटियों अथवा सन्दूको मे हीरे, पन्ने, मणि, माणिक एव विभिन्न प्रकार के रत्नादि भरे रहते है, इसी प्रकार गणाधीश आचार्य के यहाँ आत्मकल्याण के हेतु विविध प्रकार की शिक्षाएँ, नव-तत्त्वनिरूपण, द्रव्यो का विवेचन, धर्म की व्याख्या, आत्मवाद, क्रियावाद, कर्मवाद, लोकवाद, प्रमाणवाद, नयवाद, स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, पचमहाव्रत, तीर्थंकर बनने के उपाय, सिद्ध भगवन्तों का निरूपण, तप का विवेचन, कर्मग्रन्थि भेदन के उपाय, चक्रवर्ती, वासुदेव, प्रतिवासुदेव के इतिहास तथा रत्नत्रय आदि का विश्लेषण आदि अनेक विषयो का जिनमे यथार्थ निरूपण किया गया है, ऐसी भगवद्वाणी को गणधरो ने बारह पिटको मे भर दिया है। जिस पिटक का जैसा नाम है, उसमे वैसे ही सम्यक्श्रुतरत्न निहित हैं। पिटको के नाम द्वादशाङ्गरूप मे ऊपर बताए गए हैं।

अब प्रश्न होता है कि अरिहन्त भगवन्तो के अतिरिक्त जो अन्य श्रुतज्ञानी है, वे भी क्या आप्त पुरुष हो सकते हैं?

उत्तर है—हो सकते है। सम्पूर्ण दस पूर्वधर से लेकर चौदह पूर्वों तक के धारक जितने भी ज्ञानी है उनका कथन नियम से सम्यक्श्रुत ही होता है। किंचित् न्यून दस पूर्व मे सम्यक्श्रुत की भजना है, अर्थात् उनका श्रुत सम्यक्श्रुत भी हो सकता है और मिथ्याश्रुत भी। मिथ्यादृष्टि जीव भी पूर्वों का अध्ययन कर सकते हैं, किन्तु वे अधिक से अधिक कुछ कम दस पूर्वों का ही अध्ययन कर सकते हैं, क्योकि उनका स्वभाव ऐसा ही होता है।

साराश यह है कि चौदह पूर्व से लेकर परिपूर्ण दस पूर्वों के ज्ञानी निश्चय ही सम्यक्दृष्टि होते है। अत. उनका श्रुत सम्यक्श्रुत ही होता है। वे आप्त ही हैं। शेष अङ्गधरो या पूर्वधरो मे सम्यक्श्रुत नियमेन नही होता। सम्यक्दृष्टि का प्रवचन ही सम्यक्श्रुत हो सकता है।

मिथ्याश्रुत

७७—से किं तं मिच्छासुअ ?

मिच्छासुअं, ज इमं अण्णाणिएहिं मिच्छादिट्ठिएहिं, सच्छंदबुद्धि-मइविगप्पिअं, तं जहा—

(१) भारहं (२) रामायणं (३) भीमासुरुक्खं (४) कोडिल्लयं (५) सगडभद्दिआओ (६) खोडग (घोडग) मुहं (७) कप्पासिअं (८) नागसुहुमं (९) कणगसत्तरी (१०) वइसेसिअं (११) बुद्धवयणं (१२) तेरासिअं (१३) काविलिअं (१४) लोगाययं (१५) सट्ठितंतं (१६) माढरं (१७) पुराणं (१८) वागरणं (१९) भागवं (२०) पायंजली (२१) पुस्सदेवयं (२२) लेहं (२३) गणिअं (२४) सउणिरुअं (२५) नाडयाइं।

अहवा बावत्तरि कलाओ, चत्तारि अ वेआ संगोवंगा, एआइं मिच्छदिट्ठिस्स मिच्छत्तपरिग्गहिआइं मिच्छा-सुअं एयाइं चेव सम्मदिट्ठिस्स सम्मत्तपरिग्गहिआइं सम्मसुअं।

अहवा मिच्छादिट्ठिस्सवि एयाइं चेव सम्मसुअं, कम्हा ? सम्मत्तहेउत्तणओ, जम्हा ते मिच्छदिट्ठिआ तेहिं चेव समएहिं चोइआ समाणा केइ सपक्खदिट्ठीओ चयंति।

से त्तं मिच्छा-सुअं। ॥ सूत्र ४२ ॥

७७—मिथ्याश्रुत का स्वरूप क्या है ?

मिथ्याश्रुत अज्ञानी एव मिथ्यादृष्टियो द्वारा स्वच्छद और विपरीत बुद्धि द्वारा कल्पित किये हुए ग्रन्थ हैं, यथा—

(१) भारत (२) रामायण (३) भीमासुरोक्त (४) कौटिल्य (५) शकटभद्रिका (६) घोटक-मुख (७) कार्पासिक (८) नाग-सूक्ष्म (९) कनकसप्तति (१०) वैशेषिक (११) बुद्धवचन (१२) त्रैराशिक (१३) कापिलीय (१४) लोकायत (१५) षष्टितत्र (१६) माठर (१७) पुराण (१८) व्याकरण (१९) भागवत (२०) पातञ्जलि (२१) पुष्यदैवत (२२) लेख (२३) गणित (२४) शकुनिरुत (२५) नाटक। अथवा बहत्तर कलाएं और चार वेद अगोपाङ्ग सहित। ये सभी मिथ्यादृष्टि के लिए मिथ्यारूप में ग्रहण किये हुए मिथ्याश्रुत हैं। यही ग्रन्थ सम्यक् दृष्टि द्वारा सम्यक् रूप मे ग्रहण किए हुए सम्यक्-श्रुत हैं।

अथवा मिथ्यादृष्टि के लिए भी यही ग्रन्थ-शास्त्र सम्यक्श्रुत है, क्योकि ये उनके सम्यक्त्व में हेतु हो सकते हैं, कई मिथ्यादृष्टि इन ग्रन्थों से प्रेरित होकर अपने मिथ्यात्व को त्याग देते हैं। यह मिथ्याश्रुत का स्वरूप है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में मिथ्याश्रुत के विषय मे बताया गया है कि अज्ञानी, विपरीत बुद्धिवाले एव स्वच्छद मतिवाले व्यक्ति अपनी कल्पना से जो विचार लोगो के सामने रखते है वे विचार तात्त्विक न होने से मिथ्याश्रुत कहलाते हैं। दूसरे शब्दो मे, जिनकी दृष्टि या विचार-धारा मिथ्या है, उन्हें मिथ्यादृष्टि कहते हैं। मिथ्यात्व दस प्रकार का होता है, किन्तु ध्यान मे रखने की बात है कि यदि किसी प्राणी मे एक प्रकार का भी मिथ्यात्व हो तो उसे मिथ्यादृष्टि ही मानना चाहिए। मिथ्यात्व के प्रकार इस तरह हैं—

(१) अधम्मे धम्मसण्णा—अर्थात् अधर्म को धर्म मानना। जैसे—विभिन्न देवी-देवताओ के, ईश्वर के तथा पितर आदि के नाम पर हिसा आदि पाप-कृत्य करना और उसमे धर्म मानना।

(२) धम्मे अधम्मसण्णा—आत्म-शुद्धि के मुख्य कारण—अहिंसा, सयम, तप तथा ज्ञान, दर्शन एव चारित्ररूप रत्नत्रय धर्म को अधर्म मानना मिथ्यात्व है।

(३) उम्मग्गे मग्गसण्णा—उन्मार्ग को सन्मार्ग मानना, अर्थात् ससार-भ्रमण कराने वाले दु.खद मार्ग को मोक्ष का मार्ग समझना मिथ्यात्व है।

(४) मग्गे उम्मग्गसण्णा—"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग" इस उत्तम मोक्षमार्ग को संसार का मार्ग समझना मिथ्यात्व है।

(५) अजीवेसु जीवसण्णा—अजीवों को जीव मानना। ससार मे जो कुछ भी दृश्यमान है, वह सब जीव ही है, ससार में अजीव पदार्थ हैं ही नही, यह मान्यता रखना मिथ्यात्व है।

(६) जीवेसु अजीवसण्णा—जीवों में अजीव की सज्ञा रखना। चार्वाक मत के अनुयायी शरीर से भिन्न आत्मा के अस्तित्व को नही मानते। कुछ विचारक पशुओ मे भी आत्मा होने से इंकार करते हैं, उनके केवल प्राण मानते है, और इसी कारण उन्हे मारकर खाने मे भी पाप नही समझते। यह मिथ्यात्व है।

(७) असाहुसु साहुसण्णा—असाधु को साधु मानना। जो व्यक्ति धन-वैभव, स्त्री-पुत्र, जमीन या मकान आदि किसी के भी त्यागी नही है, ऐसे मात्र वेषधारी को साधु मानना मिथ्यात्व है।

(८) साहुसु असाहुसण्णा—श्रेष्ठ, सयत, पाच महाव्रत एव समिति तथा गुप्ति के धारक मुनियो को असाधु समझते हुए उन्हें ढोंगी, पाखण्डी मानना मिथ्यात्व है।

(९) अमुत्तेसु मुत्तसण्णा—अमुक्तो को मुक्त मानना। जिन जीवो ने कर्म-बन्धनो से मुक्त होकर भगवत्पद प्राप्त नही किया है, उन्हे कर्म-बधनो से रहित और मुक्त मानना मिथ्यात्व है।

(१०) मुत्तेसु अमुत्तसण्णा—आत्मा कभी परमात्मा नही बनता, कोई जीव सर्वज्ञ नही हो सकता तथा आत्मा न कभी कर्म-बन्धनो से मुक्त हुआ है और न कभी होगा। ऐसी मान्यता रखते हुए जो आत्माएं कर्म-बन्धनो से मुक्त हो चुकी हैं, उन्हे भी अमुक्त मानना मिथ्यात्व है।

अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार असली हीरे को नकली और नकली कांच के टुकड़ो को हीरा समझने वाला जौहरी नही कहलाता, इसी प्रकार असत् को सत् तथा सत् को असत् समझने वाला सम्यक्दृष्टि नही कहलाता। वह मिथ्यादृष्टि होता है।

मिथ्याश्रुत एवं सम्यक्श्रुत पर विशेष विचार—

"एयाइ मिच्छदिट्ठिस्स मिच्छत्तपरिग्गहियाइ मिच्छासुय।" बताया गया है कि मिथ्यादृष्टि द्वारा रचे गए ग्रन्थ द्रव्य मिथ्याश्रुत हैं, मिथ्यादृष्टि मे भावमिथ्याश्रुत होता है। दृष्टि गलत होने से ज्ञानधारा मलिन हो जाती है और ज्ञान सत्य नही होता। मिथ्यादृष्टि गलत ज्ञान धारा वाले तथा अध्यात्म मार्ग से भटके हुए होते हैं। इसलिये उनके कथनानुसार जो व्यक्ति चलता है वह भी मोक्ष-मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है।

'एयाइ चेव सम्मदिट्ठिस्स सम्मत्तपरिग्गहियाइ सम्मसुय।' मिथ्यादृष्टि द्वारा रचित ग्रन्थो को भी सम्यग्दृष्टि यथार्थ रूप से ग्रहण करता है तो उसके लिए मिथ्याश्रुत, सम्यक्श्रुतरूप मे परिणत हो जाता है। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार चतुर वैद्य अपनी विशिष्ट क्रियाओ के द्वारा विष को भी अमृत बना लेता है, हस दूध को ग्रहण करके पानी छोड देता है तथा स्वर्ण को खोजने वाले मिट्टी मे से स्वर्णकण निकालकर असार को त्याग देते हैं। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि नय-निक्षेप आदि के विचार से मिथ्याश्रुत को सम्यक्श्रुत रूप मे परिणत कर लेता है। "अहवा मिच्छदिट्ठिस्सवि एयाइ चेव सम्मसुय, कम्हा?" सूत्र मे कहा गया है कि मिथ्याश्रुत मिथ्यादृष्टि के लिए भी सम्यक्श्रुत हो सकता है। वह इस प्रकार कि जब मिथ्यादृष्टि, सम्यक्दृष्टि के द्वारा अपने ग्रन्थो मे रही हुई पूर्वापरविरोधी तथा असगत बातो को जानकर अपने गलत स्वपक्ष को छोड देता है तो सम्यक्दृष्टि बन जाता है। इस प्रकार सम्यक्त्व का कारण होने से मिथ्याश्रुत भी सम्यक्श्रुत रूप मे परिणत हो जाता है।

सादि, सान्त, अनादि, अनन्तश्रुत

७८—से किं त साइअं-सपज्जवसिअं ? अणाइअं-अपज्जवसिअं च ?

इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं वुच्छित्तिनयट्ठयाए साइअं सपज्जवसिअं, अवुच्छित्तिनयट्ठयाए अणाइअं अपज्जवसिअं। त समासओ चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा—दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ। तत्थ—(१) दव्वओ णं सम्मसुअं एगं पुरिसं पडुच्च साइअं सपज्जवसिअं, बहवे पुरिसे य पडुच्च अणाइयं अपज्जवसिअं।

(२) खेत्तओ णं पंच भरहाइं, पंचेरवयाइं, पडुच्च साइअं सपज्जवसिअं, पंच महाविदेहाइं पडुच्च अणाइयं अपज्जवसिअं।

(३) कालओ णं उस्सप्पिणिं ओसप्पिणिं च पडुच्च साइअं सपज्जवसिअं, नोउस्सप्पिणिं नोओसप्पिणिं च पडुच्च अणाइयं अपज्जवसिअं।

(४) भावओ णं जे जया जिणपन्नत्ता भावा आघविज्जंति, पण्णविज्जंति, परूविज्जंति, दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति, तया (ते) भावे पडुच्च साइअं सपज्जवसिअं। खाओवसमिअं पुण भावं पडुच्च अणाइअं अपज्जवसिअं।

अहवा भवसिद्धियस्स सुयं साइयं सपज्जवसिअं च, अभवसिद्धियस्स सुयं अणाइयं अपज्जवसिअं (च)।

सव्वागासपएसग्गं सव्वागासपएसेहिं अणंतगुणिअं पज्जवक्खरं निप्फज्जइ, सव्वजीवाणंपि अ णं अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडिओ, जइ पुण सोऽवि आवरिज्जा, तेणं जीवो अजीवत्तं पाविज्जा।

'सुट्ठुवि मेहसमुदए होइ पभा चंदसूराणं ।'

से त्तं साइअं सपज्जवसिअं, से त्तं अणाइय अपज्जवसिअं । ।। सूत्र ४३ ।।

७८—**प्रश्न**—सादि सपर्यवसित और अनादि अपर्यवसितश्रुत का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—यह द्वादशाङ्गरूप गणिपिटक पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से सादि-सान्त है, और द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से आदि अन्त रहित है । यह श्रुतज्ञान सक्षेप मे चार प्रकार से वर्णित किया गया है, जैसे—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से ।

(१) द्रव्य से सम्यक्श्रुत, एक पुरुष की अपेक्षा से सादि-सपर्यवसित अर्थात् सादि और सान्त है । बहुत से पुरुषो की अपेक्षा से अनादि अपर्यवसित अर्थात् आदि अन्त से रहित है ।

(२) क्षेत्र से सम्यक्श्रुत पाँच भरत और पाँच ऐरावत क्षेत्रो की अपेक्षा से सादि-सान्त है । पाँच महाविदेह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है ।

(३) काल से सम्यक्श्रुत उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल की अपेक्षा से सादि-सान्त है । नोउत्सर्पिणी नोअवसर्पिणी अर्थात् अवस्थित काल की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है ।

(४) भाव से सर्वज्ञ—सर्वदर्शी जिन-तीर्थंकरो द्वारा जो भाव-पदार्थ जिस समय सामान्यरूप से कहे जाते हैं, जो नाम आदि भेद दिखलाने के लिए विशेष रूप से कथन किये जाते है, हेतु-दृष्टान्त के उपदर्शन से जो स्पष्टतर किये जाते हैं और उपनय तथा निगमन से जो स्थापित किये जाते हैं, तब उन भावो की अपेक्षा से सादि-सान्त है । क्षयोपशम भाव की अपेक्षा से सम्यक्श्रुत अनादि-अनन्त है ।

अथवा भवसिद्धिक (भव्य) प्राणी का श्रुत सादि-सान्त है, अभवसिद्धिक (अभव्य) जीव का मिथ्या-श्रुत अनादि और अनन्त है ।

सम्पूर्ण आकाश-प्रदेशो का समस्त आकाश प्रदेशो के साथ अनन्त बार गुणाकार करने से पर्याय अक्षर निष्पन्न होता है । सभी जीवो के अक्षर-श्रुतज्ञान का अनन्तवाँ भाग सदैव उद्घाटित (निरावरण) रहता है । यदि वह भी आवरण को प्राप्त हो जाए तो उससे जीवात्मा अजीवभाव को प्राप्त हो जाए । क्योकि चेतना जीव का लक्षण है ।

बादलो का अत्यधिक पटल ऊपर आ जाने पर भी चन्द्र और सूर्य की कुछ न कुछ प्रभा तो रहती ही है ।

इस प्रकार सादि-सान्त और अनादि-अनन्त श्रुत का वर्णन है ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे सादि-श्रुत, सान्त-श्रुत, अनादि-श्रुत और अनन्त-श्रुत का वर्णन है । सूत्रकार ने—"साइय सपज्जवसिय, अणाइयं अपज्जवसिय" ये पद दिये हैं । सपर्यवसित सान्त को कहते हैं और अपर्यवसित अनन्त का द्योतक है । यह द्वादशाङ्ग गणिपिटक व्युच्छित्ति नय की अपेक्षा से सादि-सान्त है, किन्तु अव्युच्छित्तिनय की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है । इसका कारण यह है कि व्यवच्छित्तिनय पर्यायास्तिक का ही दूसरा नाम है, और अव्यच्छित्तिनय द्रव्यार्थिक नय का पर्यायवाची नाम है ।

द्रव्यत:—एक जीव की अपेक्षा से सम्यक्श्रुत सादि-सान्त है। जब सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, तब सम्यक्श्रुत की आदि और जब वह पहले या तीसरे गुणस्थान मे प्रवेश करता है तब पुन मिथ्यात्व का उदय होते ही सम्यक्श्रुत भी लुप्त हो जाता है। प्रमाद, मनोमालिन्य, तीव्रवेदना अथवा विस्मृति के कारण, या केवल ज्ञान उत्पन्न होने के कारण प्राप्त किया हुआ श्रुतज्ञान लुप्त होता है तब वह उस पुरुष की अपेक्षा से सान्त कहलाता है।

किन्तु तीनो कालो की अपेक्षा से अथवा बहुत पुरुषो की अपेक्षा से सम्यक्श्रुत अनादि-अनन्त है, क्योकि ऐसा एक भी समय न कभी हुआ है, न है और न होगा ही जब सम्यक्श्रुत वाले ज्ञानी जीव विद्यमान न हो। सम्यक्श्रुत का सम्यक्दर्शन से अविनाभावी सबध है, और बहुत पुरुषों की अपेक्षा से सम्यक्श्रुत (द्वादशाङ्ग वाणी) अनादि अनन्त है।

क्षेत्रत —पाँच भरत और पाँच ऐरावत, इन दस क्षेत्रो की अपेक्षा से गणिपिटक सादि-सान्त है, क्योकि अवसर्पिणीकाल के सुषमदुषम आरा के अन्त मे और उत्सर्पिणीकाल मे दु षमसुषम के प्रारम्भ मे तीर्थंकर भगवान् सर्वप्रथम धर्मसघ की स्थापना के लिये द्वादशाङ्ग गणिपिटक की प्ररूपणा करते हैं। उसी समय सम्यक्श्रुत का प्रारम्भ होता है। इस अपेक्षा से वह सादि तथा दु:षमदु.षम आरे मे सम्यक्श्रुत का व्यवच्छेद हो जाता है, इस अपेक्षा से सम्यक्श्रुत गणिपिटक सान्त है। किन्तु पाँच महाविदेह क्षेत्र की अपेक्षा गणिपिटक अनादि-अनन्त है, क्योकि महाविदेह क्षेत्र में उसका सदा सद्भाव रहता है।

कालत.—जहाँ उत्सर्पिणी एव अवसर्पिणी काल वर्तते है, वहाँ सम्यक्श्रुत सादि-सान्त है, क्योकि धर्म की प्रवृत्ति कालचक्र के अनुसार होती है। पाँच महाविदेह क्षेत्र मे न उत्सर्पिणी काल है और न अवसर्पिणी। इस प्रकार वहाँ कालचक्र का परिवर्तन न होने से सम्यक्श्रुत सदैव अवस्थित रहता है, अत वह अनादि-अनन्त है।

भावत·—जिस तीर्थंकर ने जो भाव प्ररूपित किए है, उनकी अपेक्षा सम्यक्श्रुत सादि-सान्त है किन्तु क्षयोपशम भाव की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है। यहाँ पर चार भग होते है—(१) सादि-सान्त (२) सादि-अनन्त (३) अनादि-सान्त और (४) अनादि-अनन्त।

पहला भग भव-सिद्धिक मे पाया जाता है, कारण कि सम्यक्त्व होने पर अग सूत्रो का अध्ययन किया जाता है, वह सादि हुआ। मिथ्यात्व के उदय से या क्षायिक ज्ञान हो जाने से वह सम्यक्श्रुत उसमे नही रहता, इस दृष्टि से सान्त कहलाता है। क्योकि सम्यक्श्रुत क्षायोपशमिक ज्ञान है और सभी क्षायोपशमिक ज्ञान सान्त होते है, अनन्त नही।

दूसरा भंग शून्य है, क्योकि सम्यक्श्रुत तथा मिथ्याश्रुत सादि होकर अनन्त नहीं होता। मिथ्यात्व का उदय होने पर सम्यक्श्रुत नही रहता और सम्यक्त्व प्राप्त होने पर मिथ्याश्रुत नही रह सकता। केवलज्ञान होने पर दोनो का विलय हो जाता है।

तीसरा भग भव्यजीव की अपेक्षा से समझना चाहिये क्योकि भव्यसिद्धिक मिथ्यादृष्टि का मिथ्याश्रुत अनादिकाल से चला आ रहा है, किन्तु उसके सम्यक्त्व प्राप्त करते ही मिथ्याश्रुत का अन्त हो जाता है, इसलिए अनादि-सान्त कहा गया है।

चौथा भग अनादि-अनन्त है। अभव्यसिद्धिक का मिथ्याश्रुत अनादि-अनन्त होता है, क्योंकि उसको सम्यक्त्व की प्राप्ति कभी नही होती।

पर्यायाक्षर

लोकाकाश और अलोकाकाश रूप सर्व आकाश प्रदेशों को सर्व आकाश प्रदेशो से एक, दो सख्यात या असख्यात बार नही, अनन्त बार गुणित करने पर भी प्रत्येक आकाश प्रदेश मे जो अनन्त अगुरुलघु पर्याय हैं, उन सबको मिलाकर पर्यायाक्षर निष्पन्न होता है। धर्मास्तिकाय आदि के प्रदेश स्तोक होने से सूत्रकार ने उन्हे ग्रहण नही किया है किन्तु उपलक्षण से उनका भी ग्रहण करना चाहिए।

अक्षर दो प्रकार के हैं—ज्ञान रूप और आकार आदि वर्ण रूप, यहाँ दोनो का ही ग्रहण करना चाहिए। अनत पर्याययुक्त होने से अक्षर शब्द से केवलज्ञान ग्रहण किया जाता है। लोक मे जितने रूपी द्रव्य हैं, उनकी गुरुलघु और अरूपी द्रव्यो की अगुरुलघु पर्याय हैं। उन सभी को केवलज्ञानी हस्तामलकवत् जानते व देखते हैं। साराश यह कि सर्वद्रव्य, सर्वपर्याय-परिमाण केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

गमिक-अगमिक, अङ्गप्रविष्ट-अङ्गबाह्य

७९—से किं तं गमिअं? गमिअं दिट्ठिवाओ। से किं तं अगमिअं? अगमिअं-कालिअसुअं। से त्तं गमिअं से त्तं अगमिअं।

अहवा तं समासओ दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—अंगपविट्ठं, अंगबाहिरं च।

से किं तं अंगबाहिरं? अंगबाहिरं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—आवस्सयं च आवस्सय-वइरित्तं च।

(१) से किं तं आवस्सयं? आवस्सयं छव्विहं पण्णत्तं तं जहा—(१) सामाइयं (२) चउवी-सत्थवो (३) वंदणयं (४) पडिक्कमण (५) काउस्सग्गो (६) पच्चक्खाणं।
से त्त आवस्सय।

७९—गमिक-श्रुत क्या है?

आदि, मध्य या अवसान मे कुछ शब्द-भेद के साथ उसी सूत्र को बार-बार कहना गमिक-श्रुत है। दृष्टिवाद गमिक-श्रुत है।

अगमिक-श्रुत क्या है? गमिक से भिन्न आचाराङ्ग आदि कालिकश्रुत अगमिक-श्रुत हैं। इस प्रकार गमिक और अगमिकश्रुत का स्वरूप है।

अथवा श्रुत सक्षेप मे दो प्रकार का कहा गया है अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य।

अङ्गबाह्य-श्रुत कितने प्रकार का है? अङ्गबाह्य दो प्रकार का है—(१) आवश्यक (२) आवश्यक से भिन्न।

आवश्यक-श्रुत क्या है? आवश्यक-श्रुत छह प्रकार का है (१) सामायिक (२) चतुर्विंशतिस्तव (३) वदना (४) प्रतिक्रमण (५) कायोत्सर्ग (६) प्रत्याख्यान। यह आवश्यक-श्रुत का वर्णन है।

विवेचन—उक्त सूत्र मे गमिक-श्रुत, अगमिक-श्रुत, अङ्गप्रविष्ट-श्रुत और अङ्गबाह्य-श्रुत का वर्णन किया गया है।

गमिकश्रुत—जिस श्रुत के आदि, मध्य और अन्त मे थोडी विशेषता के साथ पुन पुन उन्ही शब्दो का उच्चारण होता हो। जैसे—उत्तराध्ययन सूत्र के दसवें अध्ययन में "समय गोयम! मा पमायए' यह प्रत्येक गाथा के चौथे चरण में दिया गया है।

चूर्णिकार ने भी गमिक-श्रुत के विषय मे कहा है—

"आई मज्झेऽवसाणे वा किंचिविसेसजुत्त, दुगाइसयग्गसो तमेव, पढिज्जमाणं गमिय भण्णइ।"

अगमिक श्रुत—जिसके पाठो की समानता न हो अर्थात्—जिस ग्रन्थ अथवा शास्त्र मे पुन पुन एक सरीखे पाठ न आते हों वह अगमिक कहलाता है। दृष्टिवाद गमिक श्रुत है तथा कालिकश्रुत सभी अगमिक हैं।

मुख्यतया श्रुतज्ञान के दो भेद किए जाते है—अङ्गप्रविष्ट (बारह अगो के अन्तर्गत) और अङ्गबाह्य। आचाराग सूत्र से लेकर दृष्टिवाद तक सब अङ्गप्रविष्ट कहलाते हैं और इनके अतिरिक्त सभी अङ्गबाह्य। वृत्तिकार ने अङ्गो को इस प्रकार बताया है—

"इह पुरुषस्य द्वादशाङ्गानि भवन्ति, तद्यथा—द्वौ पादौ, द्वे जङ्घे, द्वे उरुणी, द्वे गात्रार्द्धे, द्वौ बाहू, ग्रीवा शिरश्च, एव श्रुतरूपस्यापि परमपुरुषस्याऽऽचारादीनि द्वादशाङ्गानि क्रमेण वेदितव्यानि।"

अर्थात्—जिस प्रकार सर्वलक्षण युक्त पुरुष के दो पैर, दो जघाएँ, दो उरू, दो पार्श्व, दो भुजाएँ, गर्दन और सिर, इस प्रकार बारह अग होते हैं, वैसे ही परमपुरुष श्रुत के भी बारह अग हैं।

तीर्थंकरो के उपदेशानुसार जिन शास्त्रो की रचना गणधर स्वय करते है, वे अगसूत्र कहलाते है और अगो का आधार लेकर जिनकी रचना स्थविर करते हैं, वे शास्त्र अगबाह्य कहे जाते हैं।

अगबाह्य सूत्र दो प्रकार के होते हैं—आवश्यक और आवश्यकव्यतिरिक्त। आवश्यक सूत्र मे अवश्यमेव करने योग्य क्रियाओ का वर्णन है। इसके छह अध्ययन हैं, सामायिक, जिनस्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। इन छहो मे समस्त करणीय क्रियाओ का समावेश हो जाता है। इसीलिये अगबाह्य सूत्रो मे प्रथम स्थान आवश्यक सूत्र को दिया गया है। उसके बाद अन्य सूत्रो का नम्बर आता है। इसके महत्त्व का दूसरा कारण यह है कि चौतीस अस्वाध्यायो मे आवश्यक सूत्र का कोई अस्वाध्याय नही है। तीसरा कारण इसका विधिपूर्वक अध्ययन दोनो कालो मे करना आवश्यक है। इन्ही कारणो से यह अंगबाह्य सूत्रो में प्रथम माना गया है।

८०—से किं तं आवस्सय-वइरित्तं?

आवस्सयवइरित्त दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—कालिअं च उक्कालियं च।

से किं तं उक्कालिअं?

उक्कालिअं अणेगविहं पण्णत्तं, तं जहा—(१) दसवेआलिअं (२) कप्पिआकप्पिअं

(३) चुल्लकप्पसुअं (४) महाकप्पसुअं (५) उववाइअं (६) रायपसेणिअं (७) जीवाभिगमो (८) पन्नवणा (९) महापन्नवणा (१०) पमायप्पमायं (११) नंदी (१२) अणुओगदाराइं (१३) देविंदत्थओ (१४) तंदुलवेआलिअं (१५) चंदाविज्झयं (१६) सूरपण्णत्ती (१७) पोरिसिमंडल (१८) मंडलपवेसो (१९) विज्जाचरणविणिच्छओ (२०) गणिविज्जा (२१) झाणविभत्ती (२२) मरणविभत्ती (२३) आयविसोही (२४) वीयरागसुअं (२५) सलेहणासुअं (२६) विहारकप्पो (२७) चरणविही (२८) आउरपच्चक्खाणं (२९) महापच्चक्खाणं, एवमाइ ।

से त्तं उक्कालिअं ।

८०—आवश्यक-व्यतिरिक्त श्रुत कितने प्रकार का है ?

आवश्यक-व्यतिरिक्त श्रुत दो प्रकार का है—(१) कालिक—जिस श्रुत का रात्रि व दिन के प्रथम और अन्तिम प्रहर मे स्वाध्याय किया जाता है । (२) उत्कालिक—जो कालिक से भिन्न काल में भी पढा जाता है ।

उत्कालिक श्रुत कितने प्रकार का है ?

वह अनेक प्रकार का है, जैसे—(१) दशवैकालिक (२) कल्पाकल्प (३) चुल्लकल्पश्रुत (४) महाकल्पश्रुत (५) औपपातिक (६) राजप्रश्नीय (७) जीवाभिगम (८) प्रज्ञापना (९) महाप्रज्ञापना (१०) प्रमादाप्रमाद (११) नन्दी (१२) अनुयोगद्वार (१३) देवेन्द्रस्तव (१४) तन्दुलवैचारिक (१५) चन्द्रविद्या (१६) सूर्यप्रज्ञप्ति (१७) पौरुषीमडल (१८) मण्डलप्रदेश (१९) विद्याचरणविनिश्चय (२०) गणिविद्या (२१) ध्यानविभक्ति (२२) मरणविभक्ति (२३) आत्मविशुद्धि (२४) वीतरागश्रुत (२५) सलेखनाश्रुत (२६) विहारकल्प (२७) चरणविधि (२८) आतुरप्रत्याख्यान और (२९) महाप्रत्याख्यान इत्यादि । यह उत्कालिक श्रुत का वर्णन सम्पूर्ण हुआ ।

विवेचन—यहाँ सूत्रकार ने कालिक और उत्कालिक सूत्रो के नामो का उल्लेख करते हुए बताया है कि जो नियत काल मे अर्थात् दिन और रात्रि के प्रथम व अंतिम प्रहर मे पढे जाते हैं, वे कालिक कहलाते हैं, और जो अस्वाध्याय के समय के अतिरिक्त भी रात्रि और दिन मे पढे जाते है वे उत्कालिक कहलाते हैं ।

उत्कालिक-कालिक श्रुत का संक्षिप्त परिचय—

दशवैकालिक और कल्पाकल्प—ये दो सूत्र स्थविर आदि कल्पों का प्रतिपादन करते हैं ।

महाप्रज्ञापना—इसमे प्रज्ञापना सूत्र की अपेक्षा जीवादि पदार्थों का विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है ।

प्रमादाप्रमाद—इस सूत्र मे मद्य, विषय, कषाय, निद्रा तथा विकथा आदि प्रमादों का वर्णन है। अपने कर्त्तव्य एव अनुष्ठानादि में सतर्क रहना अप्रमाद है, जो मोक्ष का मार्ग है, और इसके विपरीत प्रमाद ससार-भ्रमण कराने वाला है ।

सूर्यप्रज्ञप्ति—इसमे सूर्य का विस्तृत स्वरूप वर्णित है ।

पौरुषीमडल—इस सूत्र मे मुहूर्त्त, प्रहर आदि कालमान का वर्णन है ।

मण्डलप्रवेश--सूर्य के एक मंडल से दूसरे मडल में प्रवेश करने का विवरण इसमे दिया गया है।

विद्या-चरण-विनिश्चय—इसमें विद्या और चारित्र का प्रतिपादन किया गया है।

गणिविद्या—गच्छ व गण के नायक गणी के क्या-क्या कर्त्तव्य हैं, तथा उसके लिए कौन-कौन-सी विद्याएँ अधिक उपयोगी हैं? उन सबके नाम तथा उनकी आराधना का वर्णन किया गया है।

ध्यानविभक्ति—इसमे आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल, इन चारो ध्यानो का विवरण है।

मरणविभक्ति—इसमे अकाममरण, सकाममरण, बालमरण और पण्डितमरण आदि के विषय मे बतलाते हुए कहा है कि किस प्रकार मृत्युकाल मे समभावपूर्वक उत्तम परिणामो के साथ निडरतापूर्वक मृत्यु का आलिंगन करना चाहिए।

आत्मविशोधि -इस सूत्र मे आत्म-विशुद्धि के विषय मे विस्तारपूर्वक बताया गया है।

वीतरागश्रुत—इसमे वीतराग का स्वरूप बताया गया है।

सलेखनाश्रुत—इसमे, द्रव्य सलेखना, जिसमे अशन आदि आहारो का त्याग किया जाता है और भावसलेखना, जिसमे कषायो का परित्याग किया जाता है, इसका विवरण है।

विहारकल्प—इसमे स्थविरकल्प का विस्तृत वर्णन है।

चरणविधि —इसमे चारित्र के भेद-प्रभेदो का उल्लेख किया गया है।

आतुरप्रत्याख्यान—रुग्णावस्था मे प्रत्याख्यान आदि करने का विधान है।

महाप्रत्याख्यान—इस सूत्र मे जिनकल्प, स्थविरकल्प तथा एकाकी विहारकल्प मे प्रत्याख्यान का विधान है।

इस प्रकार उत्कालिक सूत्रो में उनके नाम के अनुसार वर्णन है। किन्ही का पदार्थ एव मूलार्थ मे भाव बताया गया है तथा किन्ही की व्याख्या पूर्व मे दी जा चुकी है। इनमे से कतिपय सूत्र अब उपलब्ध नही है किन्तु जो श्रुत द्वादशाङ्ग गणिपिटक के अनुसार है, वह पूर्णतया प्रामाणिक है। जो स्वमतिकल्पना से प्रणीत और आगमो से विपरीत है, वह प्रमाण की कोटि मे नही आता।

८१—से किं तं कालियं? कालियं अणेगविहं पण्णत्तं, तं जहा—

(१) उत्तरज्झयणाइं (२) दसाओ (३) कप्पो (४) ववहारो (५) निसीह (६) महानिसीहं (७) इसिभासिआइं (८) जंबूदीवपन्नत्ती (९) दीवसागरपन्नत्ती (१०) चंदपन्नत्ती (११) खुड्डिआ-विमाणविभत्ती (१२) महल्लिआविमाणविभत्ती (१३) अंगचूलिआ (१४) वग्गचूलिआ (१५) विआहचूलिआ (१६) अरुणोववाए (१७) वरुणोववाए (१८) गरुलोववाए (१९) धरणोववाए (२०) वेसमणोववाए (२१) वेलंधरोववाए (२२) देविंदोववाए (२३) उट्ठाणसुए (२४) समुट्ठाणसुए (२५) नागपरिआवणिआओ (२६) निरयावलियाओ (२७) कप्पिआओ (२८) कप्पवडिंसिआओ (२९) पुप्फिआओ (३०) पुप्फचूलिआओ (३१) वण्हीदसाओ, एवमाइयाइं, चउरासीइं पइन्नगसहस्साइं भगवओ अरहओ उसहसामिस्स आइतित्थयरस्स, तहा संखिज्जाइं पइन्नगसहस्साइं मज्झिमगाणं जिणवराणं, चोद्दसपइन्नगसहस्साणि भगवओ वद्धमाणसामिस्स।

अहवा जस्स जत्तिआ सीसा उप्पत्तिआए, वेणइआए, कम्मियाए, पारिणामिआए चउव्विहाए बुद्धीए उववेआ, तस्स तत्तिआइं पइण्णगसहस्साइं । पत्तेअबुद्धा वि तत्तिआ चेव, से त्तं कालिअं । से त्तं आवस्सयवइरित्तं । से त्तं अणंगपविट्ठं ।

८१—कालिक-श्रुत कितने प्रकार है ?

कालिक-श्रुत अनेक प्रकार का प्रतिपादित किया गया है, जैसे—(१) उत्तराध्ययन सूत्र (२) दशाश्रुतस्कध (३) कल्प-बृहत्कल्प (४) व्यवहार (५) निशीथ (६) महानिशीथ (७) ऋषिभाषित (८) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (९) द्वीपसागरप्रज्ञप्ति (१०) चन्द्रप्रज्ञप्ति (११) क्षुद्रिका-विमानविभक्ति (१२) महल्लिकाविमानप्रविभक्ति (१३) अङ्गचूलिका (१४) वर्गचूलिका (१५) विवाहचूलिका (१६) अरुणोपपात (१७) वरुणोपपात (१८) गरुडोपपात (१९) धरणोपपात (२०) वैश्रमणोपपात (२१) वेलन्धरोपपात (२२) देवेन्द्रोपपात (२३) उत्थानश्रुत (२४) समुत्थान-श्रुत (२५) नागपरिज्ञापनिका (२६) निरयावलिका (२७) कल्पिका (२८) कल्पावतसिका (२९) पुष्पिता (३०) पुष्पचूलिका और (३१) वृष्णिदशा (अन्धकवृष्णिदशा) आदि ।

चौरासी हजार प्रकीर्णक अर्हत् भगवान् श्रीऋषभदेव स्वामी आदि तीर्थंकर के है तथा सख्यात सहस्र प्रकीर्णक मध्यम तीर्थंकरो के हैं। चौदह हजार प्रकीर्णक भगवान् महावीर स्वामी के है।

इनके अतिरिक्त जिस तीर्थंकर के जितने शिष्य औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा और पारिणा-मिकी बुद्धि से युक्त हैं, उनके उतने ही हजार प्रकीर्णक होते हैं । प्रत्येकबुद्धि भी उतने ही होते है । यह कालिकाश्रुत है ।

इस प्रकार आवश्यक-व्यतिरिक्त श्रुत का वर्णन हुआ और अनङ्ग-प्रविष्ट श्रुत का स्वरूप भी सम्पूर्ण हुआ ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे कालिक सूत्रो के नामो का उल्लेख किया गया। इनके नामो से ही प्राय इनके विषय का बोध हो जाता है तथापि कतिपय सूत्रो का विवरण इस प्रकार है—

उत्तराध्ययनसूत्र—प्रसिद्ध है । इसमे छत्तीस अध्ययन हैं, इसमे सैद्धान्तिक, नैतिक, सुभा-षितात्मक तथा कथात्मक वर्णन है । प्रत्येक अध्ययन अति महत्त्वपूर्ण है ।

निशीथ—इसमे पापो के प्रायश्चित्त का विधान है। जिस प्रकार रात्रि के अन्धकार को प्रकाश दूर करता है, उसी प्रकार अतिचार (पाप) रूपी अन्धेरे को प्रायश्चित्तरूप प्रकाश मिटाता है ।

अङ्गचूलिका--यह आचाराग आदि अगो की चूलिका है । चूलिका का अर्थ होता है—उक्त या अनुक्त अर्थों का सग्रह । यह सूत्र अंगो से सबधित है। आचाराग सूत्र की पाँच चूलिकाएँ हैं। एक चूलिका दृष्टिवादान्तर्गत भी है ।

वर्गचूलिका—जैसे अन्तकृत् सूत्र के आठ वर्ग है, उनकी चूलिका तथा अनुत्तरौपपातिक दशा के तीन वर्ग है, उनकी चूलिका ।

अनुत्तरोपपातिकदशा—इसमे तीन वर्ग हैं । इसमे अनुत्तर विमानो मे उत्पन्न होने वाले उत्तम पुरुषो का वर्णन है ।

विवाह-चूलिका—भगवती सूत्र की चूलिका ।

वरुणोपपात—इस सूत्र का किसी मुनि द्वारा पाठ किए जाने पर वरुणदेव वहाँ उपस्थित होकर उस अध्ययन को सुनता है और प्रसन्न होकर मुनि से वरदान मांगने को कहता है। किन्तु मुनि के इन्कार कर देने पर उस निस्पृह एव सतोषी मुनि को सविधि वदन करके चला जाता है। यही इस सूत्र मे वर्णित है।

उत्थानश्रुत—इसमे उच्चाटन का वर्णन है, किसी ग्राम मे कोई मुनि कुपित होकर इस सूत्र का एक, दो या तीन बार पाठ करे तो ग्राम मे उच्चाटन या अशाति हो जाती है।

समुत्थानश्रुत—इस सूत्र का पाठ करने पर अगर किसी गाँव मे अशाति हो तो वहाँ शाति हो जाती है।

नागपरिज्ञापनिका—इस सूत्र के विधिपूर्वक अध्ययन करने से स्वस्थान पर स्थित नागकुमार देव श्रमण को वन्दना करते हुए वरद हो जाते हैं।

कल्पिका-कल्पावतसिका—इनमे सौधर्मादि कल्प-देवलोक मे विशेष तप से उत्पन्न होने वाले देव-देवियो का वर्णन है।

पुष्पिता-पुष्पचूला—इनमे विमानवासियो के वर्त्तमान एव पारभाविक जीवन का वर्णन किया गया है।

वृष्णिदशा—इसमे अन्धकवृष्णि के कुल मे उत्पन्न हुए दस जीवो से सम्बन्धित धर्मचर्या, गति, सथारा तथा सिद्धत्व प्राप्त करने का उल्लेख है। इसके दस अध्ययन हैं।

प्रकीर्णक—अर्हंत द्वारा उपदिष्ट श्रुत के आधार पर मुनि जिन ग्रन्थो की रचना करते हैं उन्हे प्रकीर्णक कहते हैं। भगवान् ऋषभदेव से लेकर महावीर तक असख्य श्रमण हुए है और उन्होने अपने ज्ञान के विकास, कर्म-निर्जरा तथा अन्य प्राणियो के बोध-हेतु अपनी योग्यता एव श्रुत के अनुसार अपरिमित ग्रन्थो की रचना की है। साराश यह है कि तीर्थ मे असीम प्रकीर्णक होते हैं।

अङ्गप्रविष्टश्रुत

८२—से किं तं अगपविट्ठं ? अंगपविट्ठं दुवालसविहं पण्णत्तं, तं जहा—

(१) आयारो (२) सूयगडो (३) ठाणं (४) समवायो (५) विवाहपन्नत्ती (६) नाया-धम्मकहाओ (७) उवासगदसाओ (८) अंतगडदसाओ (९) अणुत्तरोववाइअदसाओ (१०) पण्हावागरणाइं (११) विवागसुअं (१२) दिट्ठिवाओ। ॥ सूत्र० ४५ ॥

८२—अङ्गप्रविष्टश्रुत कितने प्रकार का है।

अङ्गप्रविष्टश्रुत बारह प्रकार का है।

(१) आचारागसूत्र (२) सूत्रकृताङ्गसूत्र (३) स्थानाङ्गसूत्र (४) समवायाङ्गसूत्र (५) व्याख्याप्रज्ञप्ति—भगवती सूत्र (६) ज्ञाताधर्मकथाङ्गसूत्र (७) उपासकदशाङ्गसूत्र (८) अन्तकृद्दशाङ्ग-सूत्र (९) अनुत्तरौपपातिकदशाङ्गसूत्र (१०) प्रश्नव्याकरणसूत्र (११) विपाकसूत्र (१२) दृष्टि-वादाङ्गसूत्र।

विवेचन—इस सूत्र मे अङ्गप्रविष्ट सूत्रो का नामोल्लेख किया गया है। सूत्रकार अग्रिम सूत्रों मे क्रमश बताएँगे कि किस सूत्र मे क्या-क्या विषय है। इससे जिज्ञासुओ को सभी अङ्ग सूत्रो का सामान्यतया ज्ञान हो सकेगा।

द्वादशांगी गणिपिटक

८३—से किं तं आयारे ?

आयारे णं समणाणं निग्गंथाण आयार-गोअर-विणय-वेणइग्र-सिक्खा-भासा-अभासा-चरण-कारण-जाया-माया-वित्तीओ आघविज्जंति। से समासओ पंचविहे पण्णत्ते, त जहा—(१) नाणायारे (२) दंसणायारे (३) चरित्तायारे (४) तपायारे (५) वीरियायारे।

आयारे ण परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखिज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखिज्जाओ पडिवत्तीओ।

से णं अंगट्ठयाए पढमे अंगे, दो सुअक्खंधा, पणवीस अज्झयणा, पचासीइ उद्देसणकाला, पंचासीइ समुद्देसणकाला, अट्ठारस पयसहस्साणि पयग्गेणं संखिजा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-निबद्ध-निकाइआ, जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति, पन्नविज्जंति, परूविज्जंति दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विण्णाया, एण चरण-करण-परूवणा आघविज्जइ। से त्त आयारे। ॥ सू० ४६ ॥

८३—आचाराङ्गश्रुत किस प्रकार का है।

आचाराङ्ग मे बाह्य—आभ्यतर परिग्रह से रहित श्रमण निर्ग्रन्थो का आचार, गोचर-भिक्षा के ग्रहण करने की विधि, विनय-ज्ञानादि की विनय, विनय का फल—कर्मक्षय आदि, ग्रहण और आसेवन रूप शिक्षा, तथा शिष्य को सत्य और व्यवहार भाषा बोलने योग्य है और मिश्र तथा असत्य भाषा त्याज्य हैं, चरण-व्रतादि, करण-पिण्डविशुद्धि आदि, यात्रा-सयम का निर्वाह और नाना प्रकार के अभिग्रह धारण करके विचरण करना इत्यादि विषयो का वर्णन किया गया है। वह आचार सक्षेप मे पाँच प्रकार का प्रतिपादन किया गया है, जैसे—

(१) ज्ञानाचार (२) दर्शनाचार (३) चारित्राचार (४) तपाचार और (५) वीर्याचार।

आचारश्रुत मे सूत्र और अर्थ से परिमित वाचनाएँ हैं, सख्यात अनुयोगद्वार, सख्यात वेढ-छद सख्यात श्लोक, सख्यात निर्युक्तियाँ और सख्यात प्रतिपत्तियाँ वर्णित है।

आचाराङ्ग अर्थ से प्रथम अग है। उसमे दो श्रुतस्कन्ध हैं, पच्चीस अध्ययन है। पच्यासी उद्देशनकाल हैं, पच्यासी समुद्देशनकाल हैं। पदपरिमाण से अठारह हजार पद है। सख्यात अक्षर हैं। अनन्त गम और अनन्त पर्यायें हैं। परिमित त्रस और अनन्त स्थावर जीवो का वर्णन है। शाश्वत-धर्मास्तिकाय आदि, कृत-प्रयोगज-घटादि, विश्रसा-स्वाभाविक-सन्ध्या, बादलो आदि का रग, ये सभी आचाराग सूत्र मे स्वरूप से वर्णित हैं। निर्युक्ति, सग्रहणी, हेतु, उदाहरण आदि अनेक प्रकार से जिन-प्रज्ञप्त भाव-पदार्थ, सामान्य रूप से कहे गये हैं। नामादि से प्रज्ञप्त है। विस्तार से कथन किये गये हैं। उपमान आदि से और निगमन से पुष्ट किए गए हैं।

आचार—आचाराग को ग्रहण-धारण करने वाला, उसके अनुसार क्रिया करने वाला, आचार की साक्षात् मूर्ति बन जाता है। वह भावो का ज्ञाता और विज्ञाता हो जाता है। इस प्रकार आचारांग सूत्र मे चरण-करण की प्ररूपणा की गई है। यह आचाराङ्ग का स्वरूप है।

विवेचन—नाम के अनुसार ही आचाराङ्ग मे श्रमण की आचारविधि का वर्णन किया गया है। इसके दो श्रुतस्कन्ध हैं। दोनो ही श्रुतस्कध अध्ययनो मे और प्रत्येक अध्ययन उद्देशको मे अथवा चूलिकाओ मे विभाजित है।

आचरण को ही दूसरे शब्द मे आचार कहा जाता है। अथवा पूर्वपुरुषो ने जिस ज्ञानादि की आसेवन विधि का आचरण किया, उसे आचार कहा गया है और इस प्रकार का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र को आचाराङ्ग कहते है। आचाराङ्ग के विषय पाच आचार है, यथा—

(१) **ज्ञानाचार**—ज्ञानाचार के आठ भेद हैं—काल, विनय, बहुमान, उपधान, अनिह्नवण, व्यजन, अर्थ और तदुभय। इन्हे सक्षेप मे निम्न प्रकार से समझा जा सकता है—

(१) काल—आगमो मे जिस समय सूत्र को पढने की आज्ञा है, उसी समय उस सूत्र का पठन करना।

(२) विनय—अध्ययन करते समय ज्ञान और ज्ञानदाता गुरु के प्रति श्रद्धा-भक्ति रखना।

(३) बहुमान—ज्ञान और ज्ञानदाता के प्रति गहरी आस्था एवं बहुमान का भाव रखना।

(४) उपधान—आगमो मे जिस सूत्र को पढने के लिए जिस तप का विधान किया गया हो, अध्ययन करते समय उस तप का आचरण करना। तप के बिना अध्ययन फलप्रद नही होता।

(५) अनिह्नवण—ज्ञान और ज्ञानदाता के नाम को नही छिपाना।

(६) व्यञ्जन—यथाशक्ति सूत्र का शुद्ध उच्चारण करना। शुद्ध उच्चारण निर्जरा का और अशुद्ध उच्चारण अतिचार का हेतु होता है।

(७) अर्थ—सूत्रो का प्रामाणिकता मे अर्थ करना, स्वेच्छा से जोडना या घटाना नही।

(८) तदुभय—आगमो का अध्ययन और अध्यापन विधिपूर्वक निरतिचार रूप से करना तदुभय ज्ञानाचार कहलाता है।

(२) **दर्शनाचार**—सम्यक्त्व को दृढ, एव निरतिचार रखना। हेय को त्यागने की और उपादेय को ग्रहण करने की रुचि का होना ही निश्चय सम्यक्त्व है तथा उस रुचि के बल से होने वाली धर्मतत्त्वनिष्ठा व्यवहार-सम्यक्त्व है। दर्शनाचार के भी आठ भेद-अग बताए गए है—

(१) नि शकित—आत्मतत्त्व पर श्रद्धा रखना, अरिहत भगवन्त के उपदेशों मे, केवलि-भाषित धर्म मे तथा मोक्ष प्राप्ति के उपायो मे शका न रखना।

(२) नि·काक्षित—सच्चे देव, गुरु, धर्म और शास्त्र के अतिरिक्त कुदेव, कुगुरु, धर्माभास और शास्त्राभास की आकाक्षा न करना, सच्चे जौहरी के समान जो असली रत्नों को छोड़कर नकली रत्नों को पाने की इच्छा नही करता।

(३) निर्विचिकित्सा—आचरण किये हुए धर्म का फल मिलेगा या नही ? इस प्रकार धर्म-फल के प्रति सन्देह न करना ।

(४) अमूढदृष्टि—विभिन्न दर्शनो की युक्तियो से, मिथ्यादृष्टियो की ऋद्धि से, उनके आडम्बर, चमत्कार, विद्वत्ता, भय अथवा प्रलोभन से दिग्मूढ न बनना तथा स्त्री, पुत्र, धन आदि मे गृद्ध होकर मूढ न बनना ।

(५) उववूह—जो व्यक्ति सघसेवी, साहित्यसेवी, तथा तप-सयम की आराधना करने वाले है, और जिनकी प्रवृत्ति धर्म-क्रिया मे बढ रही है, उनके उत्साह को बढाना ।

(६) स्थिरीकरण—सम्यग्दर्शन वा चारित्र से गिरते हुए स्वधर्मी व्यक्तियो को धर्म मे स्थिर करना ।

(७) वात्सल्य—जैसे गाय अपने बछडे पर प्रीति रखती है, उसी प्रकार सहधर्मी जनो पर वात्सल्य भाव रखना, उन्हे देखकर प्रमुदित होना तथा उनका सम्मान करना ।

(८) प्रभावना—जिन क्रियाओ से धर्म की हीनता और निंदा हो उन्हें न करते हुए जिनसे शासन की उन्नति हो तथा जनता धर्म से प्रभावित हो, वैसी क्रियाएँ करना, प्रभावना दर्शनाचार कहलाता है ।

(३) चारित्राचार—अणुव्रत-देशचारित्र तथा महाव्रत-सकल चारित्र है । इन दोनो का पालन करने से सचित कर्मों का क्षय होता है तथा आत्मा ऊर्ध्वगामिनी होती है । चारित्राचार के दो भाग हैं—(१) प्रवृत्ति और (२) निवृत्ति । मोक्षार्थी को प्रशस्त प्रवृत्ति करना चाहिए, इसे समिति कहा जाता है । समिति पाच प्रकार की होती है ।

(१) ईर्यासमिति—छह कायो के जीवो की रक्षा करते हुए यत्नपूर्वक चलना ।

(२) भाषासमिति—हित, मित, प्रिय, सत्य एव मर्यादा की रक्षा करते हुए यतना से बोलना ।

(३) एषणा समिति—अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का ध्यान रखते हुए आजीविका करना अथवा निर्दोष भिक्षा ग्रहण करना ।

(४) आदान-भण्डमात्र निक्षेपण समिति—भण्डोपकरण को अहिंसा एव अपरिग्रह व्रत की रक्षा करते हुए यत्नपूर्वक उठाना और रखना ।

(५) उच्चार-प्रस्रवण-श्लेष्मजल्ल-मल परिष्ठापनिका समिति—मल-मूत्र, श्लेष्म, कफ, थूक आदि को यतनापूर्वक निरवद्य स्थान पर परिष्ठापन करना तथा तीखे, विषैले एव जीवो का सहार करने वाले तरल पदार्थों को नाली आदि मे प्रवाहित न करना ।

गुप्ति—मन, वचन एव काय से हिंसा, झूठ, चौर्य, मैथुन और परिग्रह, इन पापो का सेवन अनुकूल समय मिलने पर भी न करना गुप्ति अथवा निवृत्तिधर्म कहलाता है ।

इस प्रकार प्रशस्त मे प्रवृत्ति करना और अप्रशस्त से निवृत्ति पाना क्रमश समिति और गुप्ति कहलाता है ।

(४) तपाचार—विषय-कषायादि से मन को हटाने के लिए और राग-द्वेषादि पर विजय प्राप्त करने के लिए जिन-जिन उपायो द्वारा शरीर, इन्द्रिय और मन को तपाया जाता है, या इच्छाओ पर अकुश लगाया जाता है, वे उपाय तप कहलाते हैं। तप के द्वारा असत् प्रवृत्तियो के स्थान पर सत् प्रवृत्तियाँ जीवन मे कार्य करने लगती हैं तथा सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाने पर आत्मा मुक्त बनती है।

तप ही सवर और निर्जरा का हेतु तथा मुक्ति का प्रदाता है। इसके दो भेद हैं—बाह्य तथा आभ्यतर। दोनो के भी छह-छह प्रकार है। बाह्य तप के निम्न प्रकार हैं—

(१) अनशन—सयम की पुष्टि, राग के उच्छेद और धर्म-ध्यान की वृद्धि के लिये परिमित समय या विशिष्ट परिस्थिति मे आजीवन आहार का त्याग करना।

(२) ऊनोदरी—भूख से कम खाना।

(३) वृत्ति-परिसख्यान—एक घर, एक मार्ग अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप अभिग्रह धारण करना। इसके द्वारा चित्त-वृत्ति स्थिर होती है तथा आसक्ति मिट जाती है।

(४) रसपरित्याग—रागवर्धक रसो का परित्याग करने से लोलुपता कम होती है।

(५) कायक्लेश—शीत-उष्ण परीषह सहन करना तथा आतापना लेना कायक्लेश कहलाता है। इसे तितिक्षा एव प्रभावना के लिए करते हैं।

(६) इन्द्रियप्रतिसलीनता—यह स्वाध्याय-ध्यान आदि की वृद्धि के लिए किया जाने वाला तप है।

आभ्यन्तर तप इस प्रकार हैं—

(१) प्रायश्चित्त—पश्चात्ताप करते हुए प्रमादजन्य पापो के निवारण के लिए यह तप किया जाता है।

(२) विनय—गुरुजनो का एव उच्चचारित्र के धारक महापुरुषो का विनय करना तप है।

(३) वैयावृत्त्य—स्थविर, रुग्ण, तपस्वी, नवदीक्षित एव पूज्य पुरुषो की यथाशक्ति सेवा करना।

(४) स्वाध्याय—पाँच प्रकार से स्वाध्याय करना। इसका महत्त्व अनुपम है।

(५) ध्यान—धर्म एव शुक्ल ध्यान मे तल्लीन होना।

(६) व्युत्सर्ग—आभ्यतर और बाह्य उपधि का यथाशक्ति परित्याग करना। इससे ममता मे कमी और समता मे वृद्धि होती है।

इस प्रकार छह बाह्य एव छह आभ्यतर तप मुमुक्षु को मोक्ष-मार्ग पर अग्रसर करते है।

(५) वीर्याचार—वीर्य शक्ति को कहते हैं। अपनी शक्ति अथवा बल को शुभ अनुष्ठानो मे प्रवृत्त करना वीर्याचार कहलाता है। इसे तीन प्रकार से प्रयुक्त किया जाता है।

(१) प्रत्येक धार्मिक कृत्य में प्रमादरहित होकर यथाशक्य प्रयत्न करना।

(२) ज्ञानाचार के आठ और दर्शनाचार के आठ भेद, पाँच समिति, तीन गुप्ति तथा तप के बारह भेदों को भलीभांति समझते हुए इन छत्तीसो प्रकार के शुभ अनुष्ठानो मे यथासंभव अपनी शक्ति को प्रयुक्त करना ।

(३) अपनी इन्द्रियो की तथा मन की शक्ति को मोक्ष-प्राप्ति के उपायो मे सामर्थ्य के अनुसार अवश्य लगाना ।

आचाराङ्ग के अन्तर्वर्ती विषय

आचारश्रुत के पठन-पाठन और स्वाध्याय से अज्ञान का नाश होता है तथा तदनुसार क्रियानुष्ठान करने से आत्मा तद्रूप यानी ज्ञान-रूप हो जाता है । कर्मों की निर्जरा, कैवल्य-प्राप्ति तथा सर्वदा के लिए सम्पूर्ण दु खो से आत्मा मुक्ति प्राप्त कर सके, इसलिए उक्त सूत्र मे चरण-करण आदि की प्ररूपणा की गई है । अर्थ इस प्रकार है—

चरण—पाँच महाव्रत, दस प्रकार का श्रमण धर्म, सत्रह प्रकार का सयम, दस प्रकार का वैयावृत्य, नौ ब्रह्मचर्यगुप्ति, रत्नत्रय, बारह प्रकार का तप, चार कषाय-निग्रह, ये सब चरण कहलाते है । इन्हे 'चरणसत्तरि' भी कहते हैं ।

करण—चार प्रकार की पिण्डविशुद्धि, पाँच समिति, बारह भावनाएँ, बारह भिक्षुप्रतिमाएँ पाँच इन्द्रियो का निरोध, पच्चीस प्रकार की प्रतिलेखना, तीन गुप्तियाँ तथा चार प्रकार का अभिग्रह, ये सत्तर भेद करण कहे जाते हैं । इन्हे 'करणसत्तरि' भी कहा जाता है ।

आचाराङ्ग के अन्तर्वर्ती कतिपय विषयो का सक्षिप्त अर्थ इस प्रकार है—

गोचर—भिक्षा ग्रहण करने की शास्त्रोक्त विधि ।

विनय—ज्ञानी व चारित्रवान् का सम्मान करना ।

शिक्षा—ग्रहण-शिक्षा तथा आसेवन-शिक्षा, इन दोनो प्रकार की शिक्षाओ का पालन करना ।

भाषा—सत्य एव व्यवहार भाषाएँ ही साधु-जीवन मे बोली जानी चाहिए ।

अभाषा—असत्य और मिश्र भाषाएँ वर्जित हैं ।

यात्रा—सयम, तप, ध्यान, समाधि एव स्वाध्याय मे प्रवृत्ति करना ।

मात्रा—सयम की रक्षा के लिए परिमित आहार ग्रहण करना ।

वृत्ति—परिसख्यान—विविध अभिग्रह धारण करके सयम को पुष्ट बनाना ।

वाचना-सूत्र मे वाचनाएँ सख्यात ही हैं । अथ से लेकर इति तक शिष्य को जितनी बार नवीन पाठ दिया, लिखा जाए, उसे वाचना कहते हैं ।

अनुयोगद्वार—इस सूत्र मे ऐसे सख्यात पद हैं, जिन पर उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय, ये चार अनुयोग घटित होते है । अनुयोग का अर्थ यहाँ प्रवचन है अर्थात् सूत्र का अर्थ के साथ सम्बन्ध घटित करना । अनुयोगद्वारो का आश्रय लेने से शास्त्र का मर्म पूरी तरह और यथार्थ रूप से समझा जाता है ।

वेढ़—किसी एक विषय को प्रतिपादन करने वाले जितने वाक्य हैं उन्हे वेष्टक या वेढ़ कहते हैं। छन्द-विशेष को भी वेढ कहते हैं। वे भी सख्यात ही हैं।

श्लोक—अनुष्टुप आदि श्लोक भी सख्यात हैं।

निर्युक्ति—निश्चयपूर्वक अर्थ को प्रतिपादन करने वाली युक्ति, निर्युक्ति कहलाती है। ऐसी निर्युक्तियाँ सख्यात हैं।

प्रतिपत्ति—जिसमे द्रव्यादि पदार्थों की मान्यता का अथवा प्रतिमा आदि अभिग्रह विशेष का उल्लेख हो, उसे प्रतिपत्ति कहते हैं। वे भी सख्यात हैं।

उद्देशनकाल—अङ्गसूत्र आदि का पठन-पाठन करना। शास्त्रीय नियमानुसार किसी भी शास्त्र का शिक्षण गुरु की आज्ञा से होता है। शिष्य के पूछने पर गुरु जब किसी भी शास्त्र को पढने की आज्ञा देते हैं, उनकी इस सामान्य आज्ञा को उद्देशन कहते हैं।

समुद्देशन काल—गुरु की विशेष आज्ञा को समुद्देशन कहते हैं, यथा "आचाराङ्ग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध का अमुक अध्ययन पढो।" इसे समुद्देश भी कहते है। अध्ययनादि विभाग के अनुसार नियत दिनो मे सूत्रार्थ प्रदान की व्यवस्था पूर्वकाल मे गुरुजनो ने की, जिसे उद्देशनकाल एव समुद्देशन काल कहते हैं।

पद—इस आचार-शास्त्र मे अठारह हजार पद है।

अक्षर—सूत्र मे अक्षर सख्यात है।

गम—अर्थगम अर्थात् अर्थ निकालने के अनन्त मार्ग हैं। अभिधान अभिधेय के वश से गम होते है।

त्रस, स्थावर और पर्याय—इसमे परिमित त्रसो का वर्णन है, अनन्त स्थावरो का तथा स्व-पर भेद से अनन्त पर्यायो का वर्णन है।

शाश्वत—धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य नित्य हैं। घट-पटादि पदार्थ प्रयोगज तथा सध्याकालीन लालिमा आदि विश्रसा (स्वभाव) से होते है। ये भी उक्त सूत्र मे वर्णित है। निर्युक्ति, हेतु, उदाहरण, लक्षण आदि अनेक पद्धतियो के द्वारा पदार्थों का निर्णय किया गया है।

आघविज्जति—सूत्र मे जीवादि पदार्थों का स्वरूप सामान्य तथा विशेषरूप से कथन किया गया है।

पण्णविज्जति—नाम आदि के भेद से कहे गए है।

परूविज्जति—विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किये गए हैं।

दंसिज्जति—उपमान-उपमेय के द्वारा प्रदर्शित किए गए है।

निदसिज्जति—हेतुओ तथा दृष्टान्तो से वस्तु-तत्त्व का विवेचन किया गया है।

उवदंसिज्जति—शिष्य की बुद्धि मे शका उत्पन्न न हो, अत बड़ी सुगम रीति से कथन किये गए हैं।

आचारांग अर्धमागधी भाषा को समझने की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। अधिकांश रचना गद्य में है और बीच-बीच में कहीं-कहीं पद्य भी आते है। सातवें अध्ययन का नाम महापरिज्ञा है किन्तु काल-दोष से उसका पाठ व्यवच्छिन्न हो गया है। उपधान नामक नवें अध्ययन में भगवान् महावीर की तपस्या का बड़ा ही मार्मिक विवरण है। उनके लाठ, वज्र-भूमि और शुभ्रभूमि में विहारों के बीच घोर उपसर्ग सहन करने का उल्लेख है। पहले श्रुतस्कन्ध के नौ अध्ययन तथा चवालीस उद्देशक हैं, दूसरे श्रुतस्कन्ध में मुनि के लिये निर्दोष भिक्षा का, शय्या-सस्तरण-विहार-चातुर्मास-भाषा-वस्त्र-पात्रादि उपकरणों का वर्णन है। महाव्रत और उससे संबंधित पच्चीस भावनाओं के स्वरूप का विस्तृत वर्णन है।

(२) श्री सूत्रकृताङ्ग

८४—से किं तं सूअगडे ?

सूअगडे णं लोए सूइज्जइ, अलोए सूइज्जइ, लोआलोए सूइज्जइ जीवा सूइज्जंति अजीवा सूइज्जंति, ससमए सूइज्जइ, परसमए सूइज्जइ, ससमय-परसमए सूइज्जइ।

सूअगडे णं असीअस्स किरियावाइसयस्स, चउरासीईए अकिरिआवाईणं, सत्तट्ठीए अण्णाणिअवाईण, बत्तीसाए वेणइअवाईणं, तिण्हं तेसट्ठाणं पासंडिअसयाणं वूहं किच्चा ससमए ठाविज्जइ।

सूअगडे ण परित्ता वायणा, संखिज्जा अणु-ओगदारा, सखेज्जा वेढा, सखेज्जा सिलोगा, सखिज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखिज्जाओ पडिवत्तीओ।

से णं अंगट्ठयाए बिइए अंगे, दो सुअक्खधा, तेवीसं अज्झयणा, तित्तीसं उद्देसणकाला, तित्तीस समुद्देसणकाला, छत्तीसं पयसहस्साणि पयग्गेणं, संखिज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-निबद्ध-निकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति, पण्णविज्जंति परूविज्जंति दसिज्जंति, निदसिज्जंति उवदसिज्जंति।

से एव आया, एवं नाया, एवं विण्णाया, एव चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ।

से त्तं सूयगडे। ॥ सूत्र ४७ ॥

८४—प्रश्न—सूत्रकृताङ्गश्रुत मे किस विषय का वर्णन है ?

उत्तर—सूत्रकृतांग में षड्द्रव्यात्मक लोक सूचित किया जाता है, केवल आकाश द्रव्यमय अलोक सूचित किया जाता है। लोकालोक दोनों सूचित किये जाते हैं। इसी प्रकार जीव, अजीव और जीवाजीव की सूचना दी जाती है। स्वमत, परमत और स्व-परमत की सूचना दी जाती है।

सूत्रकृतांग में एक सौ अस्सी क्रियावादियों के, चौरासी अक्रियावादियों के, सड़सठ अज्ञानवादियों और बत्तीस विनयवादियों के, इस प्रकार तीन सौ त्रेसठ पाखंडियों का निराकरण करके स्वसिद्धांत की स्थापना की जाती है।

सूत्रकृताङ्ग मे परिमित वाचनाएँ हैं, संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात छन्द, संख्यात श्लोक, संख्यात निर्युक्तियाँ, संख्यात संग्रहणियाँ और संख्यात प्रतिपत्तियाँ हैं।

यह अङ्ग अर्थ की दृष्टि से दूसरा है। इसमे दो श्रुतस्कन्ध और तेईस अध्ययन हैं। तेतीस उद्देशनकाल और तेतीस समुद्देशनकाल है। सूत्रकृताग का पद-परिमाण छत्तीस हजार है। इसमे सख्यात अक्षर, अनन्त गम, अनन्त पर्याय, परिमित त्रस और अनन्त स्थावर है। धर्मास्तिकाय आदि शाश्वत, प्रयत्नजन्य, या प्रकृतिजन्य, निबद्ध एव हेतु आदि द्वारा सिद्ध किए गए जिन-प्रणीत भाव कहे जाते है तथा इनका प्रज्ञापन, प्ररूपण, निदर्शन और उपदर्शन किया गया है।

सूत्रकृताग का अध्ययन करने वाला तद्रूप अर्थात् सूत्रगत विषयो मे तल्लीन होने से तदाकार आत्मा, ज्ञाता एव विज्ञाता हो जाता है। इस प्रकार से इस सूत्र मे चरण-करण की प्ररूपणा कही जाती है।

यह सूत्रकृताग का वर्णन है।

विवेचन—'सूच्' सूचाया धातु से 'सूत्रकृत' शब्द बनता है। इसका अर्थ है, जो समस्त जीवादि पदार्थों का बोध कराता है वह सूत्रकृत है। अथवा सूचनात् सूत्रम्, जो मोहनिद्रा में सुप्त या पदभ्रष्ट प्राणियो को जगाकर सन्मार्ग बताए, वह सूत्रकृत कहलाता है। या, जिस प्रकार बिखरे हुए मोतियो को सूत्र यानी धागे मे पिरोकर एकत्रित किया जाता है, उसी प्रकार जिसके द्वारा नाना विषयो को तथा मत-मतान्तरो की मान्यताओ को क्रमबद्ध किया जाता है, उसे भी सूत्रकृत कहते हैं। सूत्रकृताग मे विभिन्न विचारको की मान्यताओ का दिग्दर्शन कराया गया है।

सूत्रकृत मे लोक, अलोक तथा लोकालोक के स्वरूप का भी प्रतिपादन किया है। शुद्ध जीव परमात्मा है, शुद्ध अजीव जड पदार्थ है और ससारी जीव, शरीर से युक्त होने के कारण जीवाजीव कहलाते है। कोई द्रव्य न अपना स्वरूप छोडता है और न ही दूसरे के स्वरूप को अपनाता है। यही द्रव्य का द्रव्यत्व है।

उक्त सूत्र मे मुख्यतया स्वदर्शन, अन्यदर्शन तथा स्व-परदर्शनो का विवेचन किया गया है। अन्य दर्शनो का वर्गीकरण क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी तथा विनयवादी, इस प्रकार चार मतो मे होता है। इनका विवरण सक्षिप्त रूप मे निम्न प्रकार से है—

(१) **क्रियावादी**—क्रियावादी नौ तत्त्वो को कथचित् विपरीत समझते हैं तथा धर्म के आतरिक स्वरूप की यथार्थता को न जानने के कारण प्राय· बाह्य क्रियाकाण्ड के पक्षपाती रहते है। अत क्रियावादी कहलाते है। वैसे इन्हे प्राय आस्तिक ही माना जाता है।

(२) **अक्रियावादी**—अक्रियावादी नव तत्त्व या चारित्ररूप क्रिया का निषेध करते है। इनकी गणना प्राय· नास्तिकों मे होती है। स्थानाङ्गसूत्र के आठवे स्थान मे आठ प्रकार के अक्रियावादियो का उल्लेख है। वे क्रमश इस प्रकार है—

(१) एकवादी—कुछ विचारको का मत है कि विश्व मे जड पदार्थ के अलावा अन्य कुछ भी नही है, जो कुछ भी है मात्र जड ही है। आत्मा, परमात्मा या धर्म नाम की कोई वस्तु है ही नही। शब्दाद्वैतवादी एकमात्र शब्द की ही सत्ता मानते है। ब्रह्माद्वैतवादियो ने एकमात्र ब्रह्म के सिवाय अन्य समस्त द्रव्यो का निषेध किया है। उनका कथन है—"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म।" या—

एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत्॥

अर्थात्—जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा सभी जलाशयो में तथा दर्पणादि स्वच्छ पदार्थों में प्रतिबिम्बित होता है, वैसे ही समस्त शरीरो में एक ही आत्मा है।

उपर्युक्त सभी मतवादियो का समावेश एकवादी मे हो जाता है।

(२) अनेकवादी—जितने धर्म हैं उतने ही धर्मी हैं, जितने गुण है उतने ही गुणी है, जितने अवयव हैं, उतने ही अवयवी हैं। ऐसी मान्यता रखनेवाले को अनेकवादी कहते हैं। वे वस्तुगत अनन्त पर्याय होने से वस्तु को भी अनन्त मानते है।

(३) मितवादी—मितवादी लोक को सप्तद्वीप समुद्र तक ही सीमित मानते हैं, आगे नही। वे आत्मा को अगुष्ठप्रमाण या श्यामाक तण्डुल प्रमाण मानते हैं, शरीरप्रमाण या लोकप्रमाण नही। तथा दृश्यमान जीवो को ही आत्मा मानते हैं, अनन्त-अनन्त नही।

(४) निर्मितवादी—ईश्वरवादी सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता और हर्त्ता ईश्वर को ही मानते हैं। उनकी मान्यता के अनुसार यह विश्व किसी न किसी के द्वारा निर्मित है। शैव शिव को, वैष्णव विष्णु को और कोई ब्रह्मा को सृष्टि का निर्माता मानते हैं। देवी भागवत मे शक्ति—देवी को ही निर्मात्री माना है। इस प्रकार उक्त सभी मतवादियो का समावेश इस भेद मे हो जाता है।

(५) सातावादी—इनकी मान्यता है कि सुख का बीज सुख है और दु ख का बीज दु ख है। इनके कथनानुसार इन्द्रियो के द्वारा वैषयिक सुखो का उपभोग करने से प्राणी भविष्य मे भी सुखी हो सकता है और इसके विपरीत तप, सयम, नियम, एव ब्रह्मचर्य आदि से शरीर और मन को दु ख पहुँचाने से जीव परभव मे भी दु ख पाता है। तात्पर्य यह है कि शरीर और मन को साता पहुँचाने से ही जीव भविष्य मे सुखी हो सकता है।

(६) समुच्छेदवादी—समुच्छेदवाद अर्थात् क्षणिकवाद, इसे माननेवाले आत्मा आदि सभी पदार्थों को क्षणिक मानते हैं। निरन्वय नाश इनकी मान्यता है।

(७) नित्यवादी—नित्यवाद के पक्षपाती कहते हैं—प्रत्येक वस्तु एक ही स्वरूप मे अवस्थित रहती है। उनके विचार से वस्तु मे उत्पाद-व्यय नही होता तथा वस्तु परिणामी नही वरन् कूटस्थ नित्य है। जैसे असत् की उत्पत्ति नही होती, इसी प्रकार सत् का विनाश भी नही होता। प्रत्येक परमाणु सदा से जैसा चला आ रहा है, भविष्य मे भी सर्वथा वैसा ही रहेगा। ऐसी मान्यता रखने वाले अन्य वादी भी इस भेद मे समाविष्ट हो जाते हैं। इन्हे विवर्त्तक भी कहते हैं।

(८) न सति परलोकवादी—आत्मा ही नही तो परलोक कैसे होगा! आत्मा के न होने से पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, शुभ-अशुभ, कोई भी कर्म नही है, अत परलोक मानना भी निरर्थक है। इसके अलावा शाति मोक्ष को कहते हैं, जो आत्मा को तो मानते हैं किन्तु कहते हैं कि आत्मा अल्पज्ञ है, वह कभी भी सर्वज्ञ नही हो सकता। अत ससारी आत्मा कभी भी मुक्त नहीं हो सकता। अथवा इस लोक मे ही शाति या सुख है। इस प्रकार परलोक, पुनर्जन्म तथा मोक्ष के निषेधक जितने भी विचारक हैं, सबका समावेश उपर्युक्त वादियो में हो जाता है।

(९) अज्ञानवादी—ये अज्ञान से ही लाभ मानते हैं। इनका कथन है कि जिस प्रकार अबोध बालक के किए हुए अपराधो को प्रत्येक बड़ा व्यक्ति क्षमा कर देता है, उसे कोई दण्ड नही देता,

इसी प्रकार अज्ञान दशा मे रहने से ईश्वर भी सभी अपराधों को क्षमा कर देता है। इससे विपरीत ज्ञान दशा मे किये गए सम्पूर्ण अपराधो का फल भोगना निश्चित है, अत अज्ञानी ही रहना चाहिए। ज्ञान से राग-द्वेष आदि की वृद्धि होती है।

(४) **विनयवादी**—इनका मत है कि प्रत्येक प्राणी, चाहे वह गुणहीन, शूद्र, चाण्डाल या अज्ञानी हो, अथवा पशु, पक्षी, साँप, बिच्छू या वृक्ष आदि हो, सभी वदनीय हैं। इन सबकी विनय-भाव से वंदना-प्रार्थना करनी चाहिए। ऐसा करने पर ही जीव परम-पद को प्राप्त कर सकता है।

प्रस्तुत सूत्र मे विभिन्न दर्शनो का विस्तृत विवेचन किया है। क्रियावादियो के एक सौ अस्सी प्रकार हैं, अक्रियावादियो के चौरासी, अज्ञानवादियो के सडसठ और विनयवाद के बत्तीस, इस प्रकार कुल तीन सौ त्रेसठ भेद होते हैं।

प्रस्तुत सूत्र के दो स्कध है। पहले स्कध मे तेईस अध्ययन और तेतीस उद्देशक हैं। दूसरे श्रुतस्कध मे सात अध्ययन तथा सात ही उद्देशक हैं। पहला श्रुतस्कध पद्यमय है केवल सोलहवें अध्ययन मे गद्य का प्रयोग हुआ है। दूसरे श्रुतस्कध मे गद्य तथा पद्य दोनो है। गाथा और छंदो के अतिरिक्त अन्य छदो का भी उपयोग किया गया है। इसमे वाचनाएँ सख्यात है तथा अनुयोगद्वार, प्रतिपत्ति, वेष्टक, श्लोक, निर्युक्तियाँ और अक्षर, सभी सख्यात हैं। छत्तीस हजार पद है। परिमित त्रस और अनन्त स्थावर जीवो का वर्णन है।

सूत्र मे मुनियो को भिक्षाचरी मे सतर्कता, परीषह-उपसर्गों मे सहनशीलता, नारकीय दुःख, महावीर स्तुति, उत्तम साधुओ के लक्षण, श्रमण, ब्राह्मण, भिक्षुक तथा निर्ग्रंथ आदि शब्दो की परिभाषा युक्ति, दृष्टान्त और उदाहरणो के द्वारा समझाई गई है।

दूसरे श्रुतस्कध मे जीव एव शरीर के एकत्व, ईश्वर-कर्तृत्व और नियतिवाद आदि मान्यताओ का युक्तिपूर्वक खण्डन किया गया है। पुण्डरीक के उदाहरण से अन्य मतो का युक्तिसगत उल्लेख करते हुए स्वमत की स्थापना की गई है। तेरह क्रियाओ का प्रत्याख्यान, आहार आदि का विस्तृत वर्णन है। पाप-पुण्य का विवेक, आर्द्रककुमार के साथ गोशालक, शाक्यभिक्षु, तापसो से हुए वाद-विवाद, आर्द्रकुमार के जीवन से सबधित विरक्तता तथा सम्यक्त्व मे दृढता का रुचिकर वर्णन है। अंतिम अध्ययन मे नालदा मे हुए गौतम स्वामी एव उदकपेढालपुत्र का वार्तालाप और अन्त मे पेढालपुत्र के पचमहाव्रत स्वीकार करने का सुन्दर वृत्तान्त है।

सूत्रकृताङ्ग के अध्ययन से स्वमत-परमत का ज्ञान सरलता से हो जाता है। आत्म-साधना की वृद्धि तथा सम्यक्त्व की दृढता के लिए यह अङ्ग अति उपयोगी है। इस पर भद्रबाहुकृत निर्युक्ति, जिनदासमहत्तरकृत चूर्णि और शीलाकाचार्य की बृहद्वृत्ति भी उपलब्ध है।

(३) श्री स्थानाङ्गसूत्र

८५—से किं तं ठाणे ?

ठाणे णं जीवा ठाविज्जंति अजीवा ठाविज्जंति, जीवाजीवा ठाविज्जंति, ससमये ठाविज्जइ, परसमये ठाविज्जइ, ससमय-परसमए ठाविज्जइ, लोए ठाविज्जइ, अलोए ठाविज्जइ, लोआलोए ठाविज्जइ।

ठाणे णं टंका, कूडा, सेला, सिहरिणो, पब्भारा, कुंडाइं, गुहाओ, आगरा, दहा, नईओ, आघविज्जंति। ठाणे णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ।

से णं अंगट्ठयाए तइए अंगे, एगे सुअक्खंधे, दस अज्झयणा, एगवीसं उद्देसणकाला, एक्कवीसं समुद्देसणकाला, बावत्तरिपयसहस्सा पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-निबद्ध-निकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परूविज्जंति, दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विण्णाया, एवं चरण-करण-परूवणा आघविज्जइ।

से त्तं ठाणं। ॥ सूत्र ४८ ॥

८५—प्रश्न—भगवन्! स्थानाङ्गश्रुत क्या है?

उत्तर—स्थानांग में अथवा स्थानाङ्ग के द्वारा जीव स्थापित किये जाते हैं, अजीव स्थापित किये जाते हैं और जीवाजीव की स्थापना की जाती है। स्वसमय-जैन सिद्धांत की स्थापना की जाती है, परसमय-जैनेतर सिद्धान्तों की स्थापना की जाती है एवं जैन व जैनेतर, उभय पक्षों की स्थापना की जाती है। लोक, अलोक और लोकालोक की स्थापना की जाती है।

स्थान में या स्थानाङ्ग के द्वारा टङ्क—छिन्नतट पर्वत, कूट, पर्वत, शिखर वाले पर्वत, कूट के ऊपर कुब्जाग्र की भांति अथवा पर्वत के ऊपर हस्तिकुम्भ की आकृति सदृश कुब्ज, गङ्गाकुण्ड आदि कुण्ड, पौण्डरीक आदि ह्रद-तालाब, गङ्गा आदि नदियों का कथन किया जाता है। स्थानाङ्ग में एक से लेकर दस तक वृद्धि करते हुए भावों की प्ररूपणा की गई है।

स्थानांग सूत्र में परिमित वाचनाएं, संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात वेढ-छन्द, संख्यात श्लोक, संख्यात निर्युक्तियां, संख्यात संग्रहणियां और संख्यात प्रतिपत्तियां हैं।

वह अङ्गार्थ से तृतीय अङ्ग है। इसमें एक श्रुतस्कंध और दस अध्ययन हैं तथा इक्कीस उद्देशनकाल और इक्कीस ही समुद्देशनकाल हैं। पदों की संख्या बहत्तर हजार है। संख्यात अक्षर तथा अनन्त गम हैं। अनन्त पर्याय, परिमित-त्रस और अनन्त स्थावर हैं। शाश्वत-कृत-निबद्ध-निकाचित जिनकथित भाव कहे जाते हैं। उनका प्रज्ञापन, प्ररूपण, दर्शन, निदर्शन और उपदर्शन किया गया है।

स्थानाङ्ग का अध्ययन करनेवाला तदात्मरूप, ज्ञाता एवं विज्ञाता हो जाता है। इस प्रकार उक्त अङ्ग में चरण-करणानुयोग की प्ररूपणा की गई है।

यह स्थानाङ्गसूत्र का वर्णन है।

विवेचन—इस सूत्र में एक से लेकर दस स्थानों के द्वारा जीवादि पदार्थ व्यवस्थापित किए गए हैं। संक्षेप में, जीवादि पदार्थों का वर्णन किया गया है। यह अंग दस अध्ययनों में बँटा हुआ है। सूत्रों की संख्या हजार से अधिक है। इसमें इक्कीस उद्देशक हैं। इस अंग की रचना पूर्वोक्त दो अङ्गों से भिन्न प्रकार की है। इसके प्रत्येक अध्ययन में, जो 'स्थान' नाम से कहे गए हैं, अध्ययन (स्थान) की संख्या के अनुसार ही वस्तु संख्या बताई गई है। यथा—

(१) प्रथम अध्ययन में 'एगे आया' आत्मा एक है, इसी प्रकार अन्य एक-एक प्रकार के पदार्थों का वर्णन किया गया है।

(२) दूसरे अध्ययन में दो-दो पदार्थों का वर्णन है। यथा—जीव और अजीव, पुण्य और पाप, धर्म और अधर्म, आदि।

(३) तीसरे अध्ययन मे ज्ञान, दर्शन, चारित्र का निरूपण है। तीन प्रकार के पुरुष—उत्तम, मध्यम और जघन्य तथा श्रुतधर्म, चारित्र और अस्तिकायधर्म, इस प्रकार तीन प्रकार के धर्म आदि बताए गये हैं।

(४) चौथे अध्ययन मे चातुर्मास धर्म आदि तथा सात सौ चतुर्भङ्गियो का वर्णन है।

(५) पाँचवे मे पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच गति, तथा पाँच इन्द्रिय इत्यादि का वर्णन है।

(६) छठे स्थान मे छह काय, छह लेश्याएँ, गणी के छह गुण, षड्द्रव्य तथा छह आरे आदि के विषय मे निरूपण है।

(७) सातवें स्थान मे सर्वज्ञ के और अल्पज्ञो के सात-सात लक्षण, सप्त स्वरो के लक्षण, सात प्रकार का विभग ज्ञान, आदि अनेकों पदार्थों का वर्णन है।

(८) आठवे स्थान मे आठ विभक्तियो का विवरण, आठ अवश्य पालनीय शिक्षाएँ तथा अष्ट सख्यक और भी अनेको शिक्षाओ के साथ एकलविहारी के अनिवार्य आठ गुणो का वर्णन है।

(९) नवे स्थान मे ब्रह्मचर्य की नव बाडें तथा भगवान् महावीर के शासन मे जिन नौ व्यक्तियो ने तीर्थंकर नाम गोत्र बाँधा है और अनागत काल की उत्सर्पिणी मे तीर्थकर बनने वाले हैं, उनके विषय मे बताया गया है। इनके अतिरिक्त नौ-नौ सख्यक और भी अनेक हेय, ज्ञेय एव उपादेय शिक्षाएँ वर्णित हैं।

(१०) दसवे स्थान मे दस चित्तसमाधि, दस स्वप्नो का फल, दस प्रकार का सत्य, दस प्रकार का ही असत्य, दस प्रकार की मिश्र भाषा, दस प्रकार का श्रमणधर्म तथा वे दस स्थान जिन्हे अल्पज्ञ नही जानते हैं, आदि दस सख्यक अनेको विषयो का वर्णन किया गया है।

इस प्रकार इस सूत्र मे नाना प्रकार के विषयो का सग्रह है। दूसरे शब्दो मे इसे भिन्न-भिन्न विषयो का कोष भी कहा जा सकता है। जिज्ञासु पाठको के लिए यह अङ्ग अवश्यमेव पठनीय है।

(४) श्री समवायाङ्ग सूत्र

८६—से किं तं समवाए ?

समवाए णं जीवा समासिज्जंति, अजीवा समासिज्जंति, जीवाजीवा समासिज्जंति, ससमए समासिज्जइ, परसमए समासिज्जइ, ससमय-परसमए समासिज्जइ, लोए समासिज्जइ, अलोए समासिज्जइ, लोआलोए समासिज्जइ।

समवाए णं इगाइआणं एगुत्तरिआण ठाण-सय-विवड्ढिआण भावाणं परूवणा आघविज्जइ, दुवालसविहस्स य गणिपिडगस्स पल्लवग्गे समासिज्जइ।

समवायस्स णं परित्ता वायणा, संखिज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखिज्जाओ पडिवत्तीओ ।

से णं अंगट्ठयाए चउत्थे अंगे, एगे सुअक्खंधे, एगे अज्झयणे, एगे उद्देसणकाले, एगे समुद्देसणकाले, एगे चोआलसयसहस्से पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-निबद्ध-निकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति, पन्नविज्जंति, परूविज्जंति दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति ।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विण्णाया, एवं चरण-करणपरूवणा आघविज्जइ ।

से त्तं समवाए । ।। सूत्र ४९ ।।

८६—प्रश्न—समवायश्रुत का विषय क्या है ?

उत्तर—समवायाङ्ग सूत्र मे यथावस्थित रूप से जीवो, अजीवो और जीवाजीवो का आश्रयण किया गया है अर्थात् इनकी सम्यक् प्ररूपणा की गई है । स्वदर्शन, परदर्शन और स्व-परदर्शन का आश्रयण किया गया है । लोक अलोक और लोकालोक आश्रयण किये जाते हैं ।

समवायाङ्ग मे एक से लेकर सौ स्थान तक भावो की प्ररूपणा की गई है और द्वादशाङ्ग गणिपिटक का सक्षेप मे परिचय आश्रयण किया गया है अर्थात् वर्णन किया गया है ।

समवायाङ्ग मे परिमित वाचना, सख्यात अनुयोगद्वार, सख्यात श्लोक, सख्यात निर्युक्तियां, सख्यात सग्रहणियां तथा सख्यात प्रतिपत्तियाँ है ।

यह अङ्ग की अपेक्षा से चौथा अङ्ग है । एक श्रुतस्कध, एक अध्ययन, एक उद्देशनकाल और एक समुद्देशनकाल है । इसका पदपरिमाण एक लाख चवालीस हजार है । सख्यात अक्षर, अनन्त गम, अनन्त पर्याय, परिमित त्रस, अनन्त स्थावर तथा शाश्वत-कृत-निबद्ध-निकाचित जिन-प्ररूपित भाव, प्ररूपण, दर्शन, निदर्शन और उपदर्शन से स्पष्ट किये गए हैं ।

समवायाङ्ग का अध्ययन करने वाला तदात्मरूप, ज्ञाता और विज्ञाता हो जाता है । इस प्रकार समवायाङ्ग मे चरण-करण की प्ररूपणा की गई है ।

यह समवायाङ्ग का निरूपण है ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे समवायश्रुत का सक्षिप्त परिचय दिया है । जिसमे जीवादि पदार्थों का निर्णय हो उसे समवाय कहते हैं । समासिज्जति आदि पदो का भाव यह है कि सम्यक् ज्ञान से ग्राह्य पदार्थों को स्वीकार किया जाता है अथवा जीवादि पदार्थ कुप्ररूपणा से निकाल कर सम्यक् प्ररूपण मे समाविष्ट किये जाते है ।

सूत्र मे जीव, अजीव तथा जीवाजीव, जैनदर्शन, इतरदर्शन, लोक, अलोक, इत्यादि विषय स्पष्ट किए गए है । तत्पश्चात् एक अक से लेकर सौ अक तक जो-जो विषय जिस-जिस अक मे समाहित हो सकते है, उनका विस्तृत वर्णन दिया गया है ।

इसमे दो सौ पचहत्तर सूत्र है । स्कध, वर्ग, अध्ययन, उद्देशक आदि भेद नही है । स्थानाङ्गसूत्र के समान इसमे भी सख्या के क्रम से वस्तुओ का निर्देश निरन्तर सौ तक करने के बाद दो सौ, तीन

सौ, चार सौ, इसी क्रम से हजार तक विषयों का वर्णन किया है। और सख्या बढते हुए कोटि पर्यन्त चली गई है।

इसके बाद द्वादशाङ्ग गणिपिटक का सक्षिप्त परिचय और त्रेसठ शलाका पुरुषो के नाम, माता-पिता, जन्म, नगर, दीक्षास्थान आदि का वर्णन है।

(५) श्री व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र

८७—से किं तं विवाहे ?

विवाहे ण जीवा विआहिज्जंति, अजीवा विआहिज्जंति, जीवाजीवा विआहिज्जंति, ससमए विआहिज्जति, परसमए विआहिज्जति ससमय-परसमए विआहिज्जति, लोए विआहिज्जति, अलोए विआहिज्जति लोयालोए विआहिज्जति।

विवाहस्स णं परित्ता वायणा, संखिज्जा अणुओगदारा, सखिज्जा वेढा, सखिज्जा सिलोगा, संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखिज्जाओ संगहणीओ, सखिज्जाओ पडिवत्तीओ।

से ण अगट्ठयाए पचमे अगे, एगे सुअक्खधे, एगे साइरेगे अज्झयणसए, दस उद्देसगसहस्साइ, दस समुद्देसगसहस्साइ, छत्तीसं वागरणसहस्साइ, दो लक्खा अट्ठासीई पयसहस्साइं पयग्गेणं, संखिज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणता थावरा, सासय-कड-निबद्ध-निकाइआ जिण-पण्णत्ता भावा आघविज्जति, पन्नविज्जति, परूविज्जति, दसिज्जति, निदंसिज्जति, उवदसिज्जंति।

से एव आया, एव नाया, एव विण्णाया एव चरण-करणपरूवणा आघविज्जइ।

से त विवाहे। ॥ सूत्र ५० ॥

८७ —व्याख्याप्रज्ञप्ति मे क्या वर्णन है ?

उत्तर—व्याख्याप्रज्ञप्ति मे जीवो की, अजीवो की तथा जीवाजीवो की व्याख्या की गई है। स्वसमय, परसमय और स्व-पर-उभय सिद्धान्तो की व्याख्या तथा लोक अलोक और लोकालोक के स्वरूप का व्याख्यान किया गया है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति मे परिमित वाचनाएँ, सख्यात अनुयोगद्वार, सख्यात वेढ-श्लोक विशेष, सख्यात निर्युक्तिया, सख्यात सग्रहणियां और सख्यात प्रतिपत्तिया है।

अङ्ग-रूप से यह व्याख्याप्रज्ञप्ति पाँचवां अग है। एक श्रुतस्कध, कुछ अधिक एक सौ अध्ययन हैं। दस हजार उद्देश, दस हजार समुद्देश, छत्तीस हजार प्रश्नोत्तर और दो लाख अट्ठासी हजार पद परिमाण है। संख्यात अक्षर, अनन्त गम और अनन्त पर्याय हैं। परिमित त्रस, अनन्त स्थावर, शाश्वत-कृत-निबद्ध-निकाचित जिनप्रज्ञप्त भावो का कथन, प्रज्ञापन, प्ररूपण, दर्शन, निदर्शन तथा उपदर्शन किया गया है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति का अध्येता तदात्मरूप एव ज्ञाता-विज्ञाता बन जाता है। इस प्रकार इसमे चरण-करण की प्ररूपणा की गई है।

यह व्याख्याप्रज्ञप्ति का स्वरूप है।

विवेचन—इस सूत्र में व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) का सक्षिप्त परिचय दिया गया है। इसमें इकतालीस शतक, दस हजार उद्देशक, छत्तीस हजार प्रश्न तथा उन सबके उत्तर है। प्रारम्भ के आठो शतक तथा बारहवाँ, चौदहवाँ, अठारहवाँ और बीसवाँ, यह सभी शतक दस-दस उद्देशकों मे विभाजित हैं। पन्द्रहवें शतक मे उद्देशक भेद नही है। सूत्रो की सख्या आठ सौ सड़सठ है। प्रश्नोत्तर के रूप में विषयो का विवेचन किया गया है।

इस अङ्गसूत्र में सभी प्रश्न गौतम स्वामी के किए हुए नही हैं अपितु इन्द्रो के, देवताओ के, मुनियो के, सन्यासियो के तथा श्रावकादिको के भी है और उत्तर भी केवल भगवान् महावीर के दिये हुए नही, वरन गौतम आदि मुनिवरो के और कही-कही श्रावको के दिये हुए भी हैं। यह सूत्र अन्य सूत्रो से विशाल है। इसमे पण्णवणा, जीवाभिगम, उववाई, राजप्रश्नीय, आवश्यक, नन्दी तथा जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि सूत्रो के नामोल्लेख व इनके उद्धरण भी दिये गए हैं। सैद्धान्तिक, ऐतिहासिक, द्रव्यानुयोग तथा चरण-करणानुयोग की भी इसमे विस्तृत व्याख्या है। बहुत से विषय ऐसे भी है जिन्हे न समझ पाने से जिज्ञासु को भ्रम या सन्देह हो सकता है अत उन्हे सूत्रो के विशेषज्ञो से समझना चाहिये।

(६) श्री ज्ञाताधर्मकथाङ्ग सूत्र

८८– से किं त नायाधम्मकहाओ ?

नायाधम्मकहासु णं नायाणं नगराइं, उज्जाणाइं चेइयाइं, वणसंडाइं, समोसरणाइं, रायाणो, अम्मापियरो, धम्मायरिया, धम्मकहाओ, इहलोइयपरलोइया इड्ढिविसेसा, भोगपरिच्चाया, पव्वज्जाओ, परिआया, सुअपरिग्गहा, तवोवहाणाइं, संलेहणाओ, भत्तपच्चक्खाणाइं, पाओवगमणाइं, देवलोगगमणाइं, सुकुलपच्चायाइओ, पुणबोहिलाभा, अंतकिरियाओ अ आघविज्जंति।

दस धम्मकहाणं वग्गा, तत्थ णं एगमेगाए धम्म-कहाए पंच-पंच अक्खाइआसयाइं, एगमेगाए अक्खाइआए पंच-पंचउवक्खाइआसयाइं, एगमेगाए उवक्खाइआए पंच-पंच अक्खाइया-उवक्खाइआसयाइं, एवमेव सपुव्वावरेण अद्धुट्ठाओ कहाणगकोडीओ हवंति त्ति समक्खायं।

नायाधम्मकहाणं परित्ता वायणा, संखिज्जा अणुओगदारा, संखिज्जा वेढा, संखिज्जा सिलोगा, संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखिज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ।

से ण अंगट्ठयाए छट्ठे अंगे, दो सुअक्खंधा, एगुणवीसं अज्झयणा, एगुणवीस उद्देसणकाला, एगुणवीस समुद्देसणकाला, संखेज्जा पयसहस्सा पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-निबद्ध-निकाइआ, जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति, पन्नविज्जंति, परूविज्जंति, दंसिज्जंति, निदंसिज्जति, उवदंसिज्जति।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विण्णाया, एवं चरण-करणपरूवणा आघविज्जइ।

से त्तं नायाधम्मकहाओ। ॥ सूत्र ५१ ॥

८८—शिष्य ने पूछा—भगवन् ! ज्ञाताधर्मकथाङ्ग सूत्र किस प्रकार है—उसमे क्या वर्णन है ?

आचार्य ने उत्तर दिया—ज्ञाताधर्मकथा मे ज्ञातो के नगरो, उद्यानो, चैत्यो, वनखण्डों व भगवान् के समवसरणो का तथा राजा, माता-पिता, धर्माचार्य, धर्मकथा, इहलोक और परलोक सम्बन्धी ऋद्धि विशेष, भोगो का परित्याग, दीक्षा, पर्याय, श्रुत का अध्ययन, उपधान-तप, सलेखना, भक्त-प्रत्याख्यान, पादपोपगमन, देवलोक-गमन, पुन: उत्तमकुल मे जन्म, पुन सम्यक्त्व की प्राप्ति, तत्पश्चात् अन्तक्रिया कर मोक्ष की उपलब्धि इत्यादि विषयो का वर्णन है।

धर्मकथाङ्ग के दस वर्ग हैं और एक-एक धर्मकथा मे पाँच-पाँच सौ आख्यायिकाएँ हैं। एक-एक आख्यायिका मे पाँच-पाँच सौ उपाख्यायिकाएँ और एक-एक उपाख्यायिका मे पाँच-पाँच सौ आख्यायिका-उपाख्यायिकाएँ हैं। इस प्रकार पूर्वापर कुल साढे तीन करोड़ कथानक हैं, ऐसा कथन किया है।

ज्ञाताधर्मकथा मे परिमित वाचना, सख्यात अनुयोगद्वार, सख्यात वेढ, सख्यात श्लोक, सख्यात निर्युक्तियाँ, सख्यात सग्रहणियाँ और सख्यात प्रतिपत्तियाँ है।

अङ्ग की अपेक्षा से ज्ञाताधर्मकथाङ्ग छठा अग है। इसमे दो श्रुतस्कन्ध, उन्नीस अध्ययन, उन्नीस उद्देशनकाल, उन्नीस समुद्देशनकाल तथा सख्यात सहस्रपद हैं। सख्यात अक्षर, अनन्त गम, अनन्त पर्याय, परिमित त्रस और अनन्त स्थावर हैं। शाश्वत-कृत-निबद्ध-निकाचित जिन-प्रतिपादित भाव, कथन, प्रज्ञापन, प्ररूपण, दर्शन, निदर्शन और उपदर्शन से स्पष्ट किए गए हैं।

प्रस्तुत अङ्ग का पाठक तदात्मरूप, ज्ञाता और विज्ञाता हो जाता है। इस प्रकार ज्ञाताधर्मकथा मे चरण-करण की विशिष्ट प्ररूपणा की गई है। यही इसका स्वरूप है।

विवेचन— इस छठे अङ्गश्रुत का नाम ज्ञाता-धर्मकथा है। 'ज्ञाता' शब्द यहाँ उदाहरणो के लिए प्रयुक्त किया गया है। इसमे इतिहास, दृष्टान्त तथा उदाहरण, इन सभी का समावेश हो जाता है। इस अङ्ग मे इतिहास, उदाहरण और धर्मकथाएँ दी गई हैं। इसलिए इसका नाम ज्ञाताधर्मकथा है। इसके पहले श्रुतस्कन्ध मे ज्ञात (उदाहरण) और दूसरे श्रुतस्कन्ध मे धर्मकथाएँ है। इतिहास प्राय: वास्तविक होते है किन्तु दृष्टान्त, उदाहरण और कथा-कहानियाँ वास्तविक भी हो सकती है और काल्पनिक भी। सम्यक्दृष्टि प्राणी के लिए ये सभी धर्मवृद्धि के कारण बन जाते हैं तथा मिथ्यादृष्टि के लिए पतन के कारण बनते है। ऐसा दृष्टिभेद के कारण होता है। सम्यक्दृष्टि अमृत को अमृत मानता ही है, वह विष को भी अपने ज्ञान से अमृत बना लेता है, किन्तु इसके विपरीत मिथ्यादृष्टि अमृत को विष और विष को अमृत समझ लेता है।

ज्ञाताधर्मकथा मे पहले श्रुतस्कन्ध मे उन्नीस अध्ययन और दूसरे श्रुतस्कन्ध मे दस वर्ग है। प्रत्येक वर्ग में अनेक-अनेक अध्ययन हैं। प्रत्येक अध्ययन मे एक कथानक और अन्त मे उससे मिलने वाली शिक्षाएँ बताई गई हैं। कथाओं मे पात्रो के नगर, प्रासाद, चैत्य, समुद्र, उद्यान, स्वप्न, धर्म-साधना के प्रकार और सयम से विचलित होकर पुन: सम्भल जाना, अढाई हजार वर्ष पूर्व के लोगों का जीवन, वे सुमार्ग से कुमार्ग में और कुमार्ग से सुमार्ग मे कैसे लगे? धर्म के आराधक किस प्रकार बने? या विराधक कैसे हो गये? उनके अगले जन्म कहाँ और किस प्रकार होगे? इन सभी प्रश्नो का और विषयों का इस सूत्र में विस्तृत वर्णन दिया गया है।

इसी सूत्र में कुछ इतिहास महावीर के युग का, कुछ तीर्थंकर अरिष्टनेमि के समय का, कुछ

पार्श्वनाथ के शासनकाल का और कुछ महाविदेह क्षेत्र से सम्बन्धित है। आठवें अध्ययन मे तीर्थंकर मल्लिनाथ के पंच कल्याणको का वर्णन है तथा सोलहवें अध्ययन मे द्रौपदी के पिछले जन्म की कथा ध्यान देने योग्य है तथा उसके वर्तमान और भावी जीवन का भी विवरण है। दूसरे स्कन्ध मे केवल पार्श्वनाथ स्वामी के शासनकाल मे साध्वियो के गृहस्थजीवन, साध्वीजीवन और भविष्य मे होने वाले जीवन का सुन्दर ढग से वर्णन है। ज्ञाताधर्मकथाङ्ग श्रुत की भाषा-शैली अत्यन्त रुचिकर है तथा प्राय. सभी रसो का इसमें वर्णन मिलता है। शब्दालकार और अर्थालकारो ने सूत्र की भाषा को सरस और महत्त्वपूर्ण बना दिया है। शेष परिचय भावार्थ मे दिया जा चुका है।

(७) श्री उपासकदशाङ्ग सूत्र

८९—से किं तं उवासगदसाओ ?

उवासगदसासु ण समणोवासयाण नगराइं, उज्जाणाणि, चेइयाइं, वणसंडाइं, समोसरणाइं, रायाणो, अम्मापियरो, धम्मायरिया, धम्मकहाओ, इहलोइअ-परलोइआ इड्ढिविसेसा, भोगपरिच्चाया, पव्वज्जाओ, परियागा, सुअपरिग्गहा, तवोवहाणाइं, सीलव्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववास-पडिवज्जणया, पडिमाओ, उवसग्गा, संलेहणाओ, भत्तपच्चक्खाणाइं, पाओवगमणाइं, देवलोगगमणाइं, सुकुलपच्चायाईओ, पुणबोहिलाभा, अन्तकिरिआओ अ आघविज्जति।

उवासगदसासु परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ।

से णं अंगट्ठयाए सत्तमे अंगे, एगे सुअक्खंधे, दस अज्झयणा, दस उद्देसणकाला, दस समुद्देसण-काला संखेज्जा पयसहस्सा पयग्गेण, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-निबद्ध-निकाइआ जिण-पण्णत्ता भावा आघविज्जंति, पन्नविज्जंति, परूविज्जंति, दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विन्नाया, एवं चरण-करणपरूवणा आघविज्जइ।

से त्तं उवासगदसाओ। ॥ सूत्र ५२ ॥

८९-प्रश्न—उपासकदशा नामक अंग किस प्रकार का है ?

उत्तर—उपासकदशा मे श्रमणोपासको के नगर, उद्यान, व्यन्तरायतन, वनखण्ड, समवसरण, राजा, माता-पिता, धर्माचार्य, धर्मकथा, इहलोक और परलोक की ऋद्धिविशेष, भोग-परित्याग, दीक्षा, सयम की पर्याय, श्रुत का अध्ययन, उपधानतप, शीलव्रत-गुणव्रत, विरमणव्रत-प्रत्याख्यान, पौषधोपवास का धारण करना, प्रतिमाओ का धारण करना, उपसर्ग, सलेखना, अनशन, पादपोपगमन, देवलोक-गमन, पुन सुकुल मे उत्पत्ति, पुन बोधि-सम्यक्त्व का लाभ और अन्तक्रिया इत्यादि विषयो का वर्णन है।

उपासकदशा की परिमित वाचनाएँ, सख्यात अनुयोगद्वार, सख्यात वेढ (छन्द विशेष) संख्यात श्लोक, सख्यात निर्युक्तियाँ, संख्यात सग्रहणियाँ, और सख्यात प्रतिपत्तियाँ है।

वह अग की अपेक्षा से सातवाँ अग है। उसमे श्रुतस्कध, दस अध्ययन, दस उद्देशनकाल और दस समुद्देशनकाल हैं। पद-परिमाण से सख्यात-सहस्र पद है। संख्यात अक्षर, अनन्त गम, अनन्त पर्याय, परिमित त्रस तथा अनन्त स्थावर हैं। शाश्वत-कृत-निबद्ध-निकाचित जिन प्रतिपादित भावो का सामान्य और विशेष रूप से कथन, प्ररूपण, प्रदर्शन, निदर्शन और उपदर्शन किया है।

इसका सम्यक्रूपेण अध्ययन करने वाला तद्रूप-आत्म ज्ञाता और विज्ञाता बन जाता है। उपासकदशाग मे चरण-करण की प्ररूपणा की गई है।

यह उपासकदशा श्रुत का विषय है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे उपासको की चर्य्या का वर्णन है, इसलिए इसका नाम 'उपासक-दशा' दिया गया है। श्रमण भगवान् महावीर के दस विशिष्ट श्रावको का इसमे वर्णन है, इसलिए भी यह उपासकदशाङ्ग कहलाता है। श्रमणो की, यानी साधुओ की सेवा करने वाले श्रमणोपासक कहे जाते है। सूत्र मे दस अध्ययन है तथा प्रत्येक अध्ययन मे एक-एक श्रावक के लौकिक और लोकोत्तर वैभव का वर्णन है। इसमे उपासको के अणुव्रत और शिक्षाव्रतो का स्वरूप भी बताया गया है।

प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि भगवान् महावीर के तो एक लाख और उनसठ हजार, बारह व्रतधारी श्रावक थे। फिर केवल दस श्रावको का ही वर्णन क्यो किया गया? प्रश्न उचित और विचारणीय है। इसका उत्तर यह है कि सूत्रकारो ने जिन श्रावको के लौकिक और लोकोत्तरिक जीवन मे समानता देखी, उनका ही उल्लेख इसमे किया गया है। जैसे उपासकदशाङ्ग मे वर्णित दसो श्रावक कोटयधीश थे, राजा और प्रजा के प्रिय थे। सभी के पास पाचसौ हल की जमीन और गोजाति के अलावा कोई भी अन्य पशु नही थे। उनके व्यापार मे जितने करोड द्रव्य लगा हुआ था, उतने ही गायो के व्रज थे। दसो श्रावको ने महावीर भगवान् के प्रथम उपदेश से ही प्रभावित होकर बारह व्रत धारण किए थे तथा पन्द्रहवे वर्ष मे गृहस्थ के व्यापारो से अलग होकर पौषधशाला मे रहकर धर्माराधना की थी और पन्द्रहवे वर्ष के कुछ मास बीतने पर ग्यारह प्रतिमाएँ धारण कर उनकी आराधना प्रारम्भ कर दी थी। यहाँ पाठको को स्मरण रखना चाहिए कि उनकी आयु लौकिक व्यवहार मे व्यतीत हुई, उसकी गणना नही की गई है अपितु जबसे उन्होने बारह व्रत धारण किए, तभी से आयु का उल्लेख किया गया है। सूत्र मे वर्णित सभी श्रावको ने एक-एक महीने का सथारा किया, सभी प्रथम देवलोक मे देव हुए तथा चार पल्योपम की स्थिति प्राप्त की और आगे महाविदेह मे जन्म लेकर सिद्ध-पद प्राप्त करेंगे।

इस प्रकार लगभग सभी दृष्टियो से उनका जीवन समान था और इसीलिए उन्ही दस का उपासकदशाग मे वर्णन किया गया है। अन्य उपासको मे इतनी समानता न होने से सम्भवत उनका उल्लेख नही है। सूत्र का शेष परिचय भावार्थ मे दिया जा चुका है।

(८) श्री अन्तकृद्दशाङ्ग सूत्र

९०—से कि तं अंतगडदसाओ ?

अंतगडदसासु णं अंतगडाणं नगराइं, उज्जाणाइं, चेइआइं, वणसंडाइं समोसरणाइं, रायाणो, अम्मा-पियरो, धम्मायरिया, धम्मकहाओ, इहलोइअ-परलोइआ इड्ढिविसेसा, भोगपरिच्चाया,

पव्वज्जाओ, परिआगा, सुअपरिग्गहा, तवोवहाणाइं संलेहणाओ, भत्तपच्चक्खाणाइं, पाओवगमणाइं अंतकिरिआओ आघविज्जंति।

अंतगडदसासु णं परित्ता वायणा, संखिज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ।

से णं अंगट्ठयाए अट्ठमे अंगे, एगे सुअक्खंधे अट्ठ वग्गा, अट्ठ उद्देसणकाला, अट्ठ समुद्देसणकाला संखेज्जा पयसहस्सा पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-निबद्ध-निकाइआ जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति, पन्नविज्जंति, परूविज्जंति, दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विन्नाया, एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ।

से त्तं अंतगडदसाओ। ॥ सूत्र ५३ ॥

९०—प्रश्न—अन्तकृद्दशा-श्रुत किस प्रकार का है—उसमे क्या विषय वर्णित है?

उत्तर—अन्तकृद्दशा मे अन्तकृत अर्थात् कर्म का अथवा जन्म-मरणरूप ससार का अन्त करनेवाले महापुरुषो के नगर, उद्यान, चैत्य, वनखण्ड, समवसरण, राजा, माता-पिता, धर्माचार्य, धर्मकथा, इहलोक और परलोक की ऋद्धि विशेष, भोगो का परित्याग, प्रव्रज्या (दीक्षा) और दीक्षा-पर्याय, श्रुत का अध्ययन, उपधानतप, सलेखना, भक्त-प्रत्याख्यान, पादपोपगमन, अन्तक्रिया-शैलेशी अवस्था आदि विषयो का वर्णन है।

अन्तकृद्दशा मे परिमित वाचनाएँ, सख्यात अनुयोगद्वार, सख्यात छन्द, सख्यात श्लोक, सख्यात निर्युक्तियाँ, सख्यात संग्रहणियाँ और सख्यात प्रतिपत्तियाँ हैं।

अङ्गार्थ से यह आठवाँ अग है। इसमे एक श्रुतस्कध, आठ उद्देशनकाल और आठ समुद्देशन काल है। पद परिमाण से सख्यात सहस्र पद हैं। सख्यात अक्षर, अनन्त गम, अनन्त पर्याय तथा परिमित त्रस और अनन्त स्थावर है। शाश्वत-कृत-निबद्ध-निकाचित जिन प्रज्ञप्त भाव कहे गए हैं तथा प्रज्ञापन, प्ररूपण, दर्शन, निदर्शन और उपदर्शन किए जाते हैं। इस सूत्र का अध्ययन करनेवाला तदात्मरूप, ज्ञाता और विज्ञाता हो जाता है। इस तरह प्रस्तुत अङ्ग मे चरण-करण की प्ररूपणा की गई है।

यह अतकृद्दशा का स्वरूप है।

विवेचन—सूत्र के नामानुसार अतकृद्-दशा से यह अभिप्राय है कि जिन साधु-साध्वियो ने सयम-साधना और तपाराधना करके जीवन के अतिम क्षण में कर्मों का सम्पूर्ण रूप से क्षय कर कैवल्य होते ही निर्वाण पद प्राप्त कर लिया, उनके जीवन का वर्णन इसमे दिया गया है। अन्तकृत् केवली भी उन्हे ही कहा गया है।

प्रस्तुत सूत्र मे आठ वर्ग हैं, प्रथम और अन्तिम वर्ग में दस-दस अध्ययन हैं, इसी दृष्टि से अन्तकृत् के साथ दशा शब्द का प्रयोग किया गया है। इसमें भगवान् अरिष्टनेमि और महावीर-स्वामी के शासनकाल मे होने वाले अन्तकृत् केवलियों का ही वर्णन है। अरिष्टनेमि के समय मे जिन नर-नारियो ने, यादववशीय राजकुमारो और श्रीकृष्ण की रानियो ने कर्म-मुक्त होकर निर्वाण

प्राप्त किया उनका वर्णन है तथा छठे वर्ग से लेकर आठवें तक में श्रेष्ठी, राजकुमार तथा राजा श्रेणिक की महारानियों के तपःपूत जीवन का उल्लेख है जिन्होंने सयम धारण करके घोर तपस्या एव उत्कृष्ट चारित्र की आराधना करते हुए अन्त मे सथारे के द्वारा कर्म-क्षय करके सिद्ध-पद की प्राप्ति की। अन्तिम श्वासोच्छ्वास में कैवल्य प्राप्त करके मोक्ष जाने वाली नब्बे आत्माओ का इसमे वर्णन है। सूत्र की शैली ऐसी है कि एक का वर्णन करने पर शेष वर्णन उसी प्रकार से आया है। जहाँ आयु, सथारा अथवा क्रियानुष्ठान में विविधता या विशेषताएँ थी, उसका उल्लेख किया गया है। सामान्य वर्णन सभी का एक जैसा ही है। अध्ययनो के समूह का नाम वर्ग है, शेष वर्णन भावार्थ मे दिया जा चुका है।

(९) श्री अनुत्तरौपपातिकदशासूत्र

से किं तं अणुत्तरोववाइअदसाओ ?

अणुत्तरोववाइअदसासु णं अणुत्तरोववाइआणं नगराइं, उज्जाणाइं, चेइआइं, वणसंडाइं, समोसरणाइं, रायाणो, अम्मापियरो, धम्मायरिआ, धम्मकहाओ, इहलोइअपरलोइआ इड्ढिविसेसा, भोगपरिच्चागा, पव्वज्जाओ, परिआगा, सुअपरिग्गहा तवोवहाणाइं, पडिमाओ, उवसग्गा, संलेहणाओ भत्तपच्चक्खाणाइं, पाओवगमणाइं, अणुत्तरोववाइयत्ते उववत्ती, सुकुलपच्चायाईओ, पुणबोहिलाभा, अंतकिरियाओ आघविज्जंति।

अणुत्तरोववाइअदसासु ण परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगद्दारा, सखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, सखेज्जाओ निज्जुत्तीओ, सखेज्जाओ सगहणीओ संखेज्जाओ पडिवत्तीओ।

से ण अंगट्ठयाए नवमे अगे, एगे सुअक्खंधे तिण्णि वग्गा, तिण्णि उद्देसणकाला, तिण्णि समुद्देसणकाला, सखेज्जाइ पयसहस्साइं पयग्गेण, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणता थावरा, सासय-कड-निबद्ध-निकाइआ जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जति, पन्नविज्जंति, परूविज्जति, दंसिज्जति, निदसिज्जति, उवदसिज्जति।

से एव आया, एवं नाया, एवं विन्नाया, एव चरण-करणपरूवणा आघविज्जइ।

से त अणुत्तरोववाइअदसाओ ॥ सूत्र ५४ ॥

प्रश्न—भगवन्! अनुत्तरौपपातिक-दशा सूत्र में क्या वर्णन है ?

उत्तर—अनुरौपपातिक दशा मे अनुत्तर विमानो मे उत्पन्न होने वाले पुण्यशाली आत्माओ के नगर, उद्यान, व्यन्तरायन, वनखण्ड, समवसरण, राजा, माता-पिता, धर्माचार्य, धर्मकथा, इस लोक और परलोक सम्बन्धी ऋद्धिविशेष, भोगो का परित्याग, दीक्षा, सयमपर्याय, श्रुत का अध्ययन, उपधानतप, प्रतिमाग्रहण, उपसर्ग, अन्तिम सलेखना, भक्तप्रत्याख्यान, पादपोपगमन तथा मृत्यु के पश्चात् अनुत्तर-सर्वोत्तम विजय आदि विमानो मे उत्पत्ति। पुन वहाँ से चवकर सुकुल की प्राप्ति, फिर बोधिलाभ और अन्तक्रिया इत्यादि का वर्णन है।

अनुत्तरौपपातिक दशा मे परिमित वाचना, संख्यात अनुयोगद्वार, सख्यात वेढ, सख्यात श्लोक, सख्यात निर्युक्तियाँ, सख्यात सग्रहणियाँ और सख्यात प्रतिपत्तियाँ है।

यह सूत्र अग की अपेक्षा से नवमा अंग है। इसमे एक श्रुतस्कन्ध, तीन वर्ग, तीन उद्देशनकाल और तीन समुद्देशनकाल हैं। पदाग्र परिमाण से सख्यात सहस्र पद हैं। सख्यात अक्षर, अनन्त गम,

अनन्त पर्याय, परिमित त्रस तथा अनन्त स्थावरों का वर्णन है। शाश्वत-कृत-निबद्ध-निकाचित जिन भगवान् द्वारा प्रणीत भाव कहे गए हैं। प्रज्ञापन, प्ररूपण, दर्शन, निदर्शन और उपदर्शन से सुस्पष्ट किए गए हैं।

अनुत्तरौपपातिकदशा सूत्र का सम्यक् रूपेण अध्ययन करने वाला तद्रूप आत्मा, ज्ञाता एवं विज्ञाता हो जाता है। इस प्रकार चरण-करण की प्ररूपणा उक्त अंग में की गई है।

यह इस अङ्ग का विषय है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में अनुत्तरौपपातिक अंग का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। अनुत्तर का अर्थ है—अनुपम या सर्वोत्तम। बाईसवें, तेईसवें, चौबीसवें, पच्चीसवें तथा छब्बीसवें देवलोकों में जो विमान हैं वे अनुत्तर विमान कहलाते हैं। उन विमानों में उत्पन्न होनेवाले देवों को अनुत्तरौपपातिक देव कहते हैं।

इस सूत्र में तीन वर्ग हैं। पहले वर्ग में दस, दूसरे में तेरह और तीसरे में भी दस अध्ययन हैं। प्रथम और अन्तिम वर्ग में दस-दस अध्ययन होने से सूत्र को अनुत्तरौपपातिकदशा कहते हैं।

इसमें उन तेतीस महान् आत्माओं का वर्णन है, जिन्होंने अपनी तप साधना से समाधिपूर्वक काल करके अनुत्तर विमानों में देवताओं के रूप में जन्म लिया और वहाँ की स्थिति पूरी करने के बाद एक बार ही मनुष्य गति में आकर मोक्ष प्राप्त करेंगे।

तेतीस में से तेईस तो राजा श्रेणिक की चेलना, नन्दा और धारिणी रानियों के आत्मज थे और शेष दस में से एक धन्ना (धन्य) मुनि का भी वर्णन है। धन्ना मुनि की कठोर तपस्या और उसके कारण उनके अंगों की क्षीणता का बड़ा ही मार्मिक और विस्तृत वर्णन है। साधक के आत्मविकास के लिए भी अनेक प्रेरणात्मक क्रियाओं का निर्देश किया गया है। जैसे श्रुतपरिग्रह, तपश्चर्या, प्रतिमावहन, उपसर्गसहन, संलेखना आदि।

उक्त सभी आत्म-कल्याण के अमोघ साधन हैं। इन्हें अपनाए बिना मुनि-जीवन निष्फल हो जाता है। सिद्धत्व को प्राप्त करने वाले महापुरुषों के उदाहरण प्रत्येक प्राणी का पथ-प्रदर्शन करते हैं। शेष वर्णन पूर्ववत् है।

(१०) श्री प्रश्नव्याकरणसूत्र

९२—**से किं तं पण्हावागरणाइं ?**

पण्हावागरणेसु णं अट्ठुत्तरं पसिण-सयं, अट्ठुत्तरं पसिणापसिण-सयं, तं जहा—अंगुट्ठपसिणाइं, बाहुपसिणाइं, अद्दागपसिणाइं, अन्नेवि विचित्ता विज्जाइसया, नागसुवण्णेहिं सद्धिं दिव्वा संवाया आघविज्जंति।

पण्हावागरणाणं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ।

से णं अंगट्ठयाए दसमे अंगे, एगे सुअक्खंधे, पणयालीसं अज्झयणा, पणयालीसं उद्देसणकाला, पणयालीसं समुद्देसणकाला, संखेज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता

पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-निबद्ध-निकाइआ, जिण-पन्नत्ता भावा आघविज्जंति पन्नविज्जंति, परूविज्जंति दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति।

से एवं आया, एव नाया, एवं विन्नाया एवं चरण-करणपरूवणा आघविज्जइ।

से त्तं पण्हावागरणाइं। ॥ सूत्र ५५ ॥

९२ —प्रश्नव्याकरण किस प्रकार है—उसमे क्या प्रतिपादन किया गया है ?

उत्तर—प्रश्नव्याकरण सूत्र मे एक सौ आठ प्रश्न ऐसे हैं जो विद्या या मत्र विधि से जाप द्वारा सिद्ध किए गये हो और पूछने पर शुभाशुभ कहे। एक सौ आठ अप्रश्न है, अर्थात् बिना पूछे ही शुभाशुभ बताएँ और एक सौ आठ प्रश्नाप्रश्न हैं जो पूछे जाने पर और न पूछे जाने पर भी स्वय शुभाशुभ का कथन करे। जैसे—अगुष्ठप्रश्न, बाहुप्रश्न तथा आदर्शप्रश्न इनके अतिरिक्त अन्य भी विचित्र विद्यातिशय कथन किये गए है। नागकुमारो और सुपर्णकुमारो के साथ हुए मुनियो के दिव्य सवाद भी कहे गए हैं।

प्रश्नव्याकरण की परिमित वाचनाएँ है। सख्यात अनुयोगद्वार, सख्यात वेढ, सख्यात श्लोक, सख्यात निर्युक्तियाँ और सख्यात सग्रहणियाँ तथा प्रतिपत्तियाँ हैं।

प्रश्नव्याकरणश्रुत अगो मे दसवाँ अग है। इनमे एक श्रुतस्कध, पैंतालीस अध्ययन, पैंतालीस उद्देशनकाल और पैंतालीस समुद्देशनकाल हैं। पद परिमाण से सख्यात सहस्र पद है। सख्यात अक्षर, अनन्त अर्थगम, अनन्त पर्याय, परिमित त्रस और अनन्त स्थावर हैं। शाश्वत-कृत-निबद्ध-निकाचित, जिन प्रतिपादित भाव कहे गये है, प्रज्ञापन, प्ररूपण, दर्शन, निदर्शन तथा उपदर्शन द्वारा स्पष्ट किए गये हैं।

प्रश्नव्याकरण का पाठक तदात्मकरूप एव ज्ञाता, विज्ञाता हो जाता है। इस प्रकार उक्त अग मे चरण-करण की प्ररूपणा की गई है।

यह प्रश्नव्याकरण का विवरण है।

विवेचन—प्रश्नव्याकरण मे प्रश्नोत्तर रूप से पदार्थों का वर्णन किया गया है। प्राय सूत्रो के नामो से ही अनुमान हो जाता है कि इनमे किन-किन विषयो का वर्णन है। इस सूत्र का नाम भी प्रश्न और व्याकरण यानी उत्तर, इन दोनो भागो को एक करके रखा गया है। इसमे एक सौ आठ प्रश्न ऐसे है जो विद्या या मत्र का पहले विधिपूर्वक जप करने पर फिर किसी के पूछने पर शुभाशुभ उत्तर कहते है। एक सौ आठ ऐसे भी है जो विद्या या मत्र-विधि से सिद्ध किए जाने पर बिना पूछे ही शुभाशुभ कह देते हैं। साथ ही और एक सौ आठ प्रश्न ऐसे हैं जो सिद्ध किए जाने के पश्चात् पूछने पर या न पूछने पर भी शुभाशुभ कहते है।

सूत्र मे अगुष्ठ प्रश्न, बाहुप्रश्न तथा आदर्शप्रश्न इत्यादि बडे विचित्र प्रकार के प्रश्नो और अतिशायी विद्याओ का वर्णन है। इसके अतिरिक्त मुनियो का नागकुमार और सुपर्णकुमार देवो के साथ जो दिव्य सवाद हुआ, उसका भी वर्णन है। अगुष्ठ आदि जो प्रश्न कथन किये गए हैं उनका तात्पर्य यह है कि अगुष्ठ में देव का आवेश होने से उत्तर प्राप्त करने वाले को यह मालूम होता है

कि मेरे प्रश्न का उत्तर अमुक मुनि के अगुष्ठ द्वारा दिया जा रहा है। स्पष्ट है कि इस सूत्र को मन्त्रो और विद्याओ के अद्वितीय माना गया है।

समवायाङ्ग सूत्र मे भी प्रश्नव्याकरण सूत्र का परिचय दिया गया है और यह सिद्ध है कि यह सूत्र मन्त्रो और विद्याओ की दृष्टि से अद्वितीय है, किन्तु वर्तमान मे इसके अतिशय विद्यावाले अध्ययन उपलब्ध नही होते। केवल पाच आश्रव तथा पाँच सवररूप दस अध्ययन ही विद्यमान है। वर्तमान काल के प्रश्नव्याकरण मे दो श्रुतस्कन्ध हैं। पहले मे क्रमश हिसा, झूठ, चौर्य, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का विस्तृत वर्णन है तथा दूसरे श्रुतस्कन्ध मे अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का सुन्दर विवरण दिया गया है। इनकी आराधना करने से अनेक प्रकार की लब्धियो की प्राप्ति का उल्लेख भी है।

प्रश्नव्याकरण के विषय मे दिगम्बर मान्यता

दिगम्बर मान्यतानुसार इस सूत्र मे लाभ-अलाभ, सुख-दु ख, जीवन-मरण, जय-पराजय, हत, नष्ट, मुष्टि, चिन्ता, नाम, द्रव्य, आयु और सख्या का प्ररूपण किया गया है। इनके सिवाय इसमे तत्त्वो का निरूपण करनेवाली चार धर्मकथाओ का भी विस्तृत वर्णन है, जिन्हे क्रमश नीचे बताया जा रहा है।

(१) आक्षेपणी कथा—जो नाना प्रकार की एकान्त दृष्टियो की निराकरणपूर्वक शुद्धि करके छह द्रव्य और नौ पदार्थों का प्ररूपण करती है उसे आक्षेपणी कथा कहते है।

(२) विक्षेपणी कथा—जिसमे पहले पर-समय के द्वारा स्व-समय मे दोष बताए जाते है, तत्पश्चात् पर-समय की आधारभूत अनेक प्रकार की एकान्त दृष्टियो का शोधन करके स्व-समय की स्थापना की जाती है तथा छह द्रव्य और नौ पदार्थों का प्ररूपण किया जाता है वह विक्षेपणी कथा कही जाती है।

(३) सवेगनी कथा—जिसमे पुण्य के फल का वर्णन हो, जैसे तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्त्ती, बलदेव, वासुदेव, विद्याधर और देवो की ऋद्धियाँ पुण्य के फल है। इस प्रकार विस्तार से धर्म के फल का वर्णन करने वाली सवेगनी कथा है।

(४) निर्वेदनी कथा—पापो के परिणामस्वरूप नरक, तिर्यंच आदि मे जन्म-मरण और व्याधि, वेदना, दारिद्रच आदि की प्राप्ति के विषय मे बताने वाली तथा वैराग्य को उत्पन्न करने वाली कथा निर्वेदनी कहलाती है।

उक्त चारो कथाओ का प्रतिपादन करते हुए यह भी कहा गया है कि जो जिन-शासन मे अनुरक्त हो, पुण्य-पाप को समझता हो, स्व-समय के रहस्य को जानता हो तथा तप-शील से युक्त और भोगो से विरक्त हो, उसे ही विक्षेपणी कथा कहनी चाहिए, क्योकि स्व-समय को न समझने वाले वक्ता के द्वारा पर-समय का प्रतिपादन करने वाली कथाओं को सुनकर श्रोता व्याकुलचित्त होकर मिथ्यात्व को स्वीकार कर सकते हैं।

इस प्रकार प्रश्नव्याकरण का विषय है। शेष वर्णन पूर्ववत् है।

(११) श्री विपाकश्रुत

९३—से किं तं विवागसुअं ?

विवागसुए णं सुकड-दुक्कडाणं कम्माणं फलविवागे आघविज्जइ। तत्थ णं दस दुहविवागा, दस सुहविवागा।

से किं तं दुहविवागा ? दुहविवागेसु णं दुह-विवागाणं नगराइं, उज्जाणाइं, वणसंडाइं, चेइआइं, रायाणो, अम्मा-पियरो, धम्मायरिआ, धम्मकहाओ, इहलोइय-परलोइआ इड्ढिविसेसा, निरयगमणाइं, संसारभव-पवंचा, दुहपरंपराओ, दुकुलपच्चायाईओ, दुल्लहबोहियत्तं आघविज्जइ, से तं दुहविवागा।

९३—प्रश्न—भगवन् ! विपाकश्रुत किस प्रकार का है ?

उत्तर—विपाकश्रुत मे सुकृत-दुष्कृत अर्थात् शुभाशुभ कर्मों के फल-विपाक कहे जाते हैं। उस विपाकश्रुत में दस दु:खविपाक और दस सुखविपाक अध्ययन है।

प्रश्न—दु:खविपाक क्या है ?

उत्तर—दु:खविपाक मे दु:खरूप फल भोगने वालो के नगर, उद्यान, वनखंड, चैत्य, राजा, माता-पिता, धर्माचार्य, धर्मकथा, इह-परलौकिक ऋद्धि, नरकगमन, भवभ्रमण, दु:खपरम्परा, दुष्कुल मे जन्म तथा दुर्लभबोधिता की प्ररूपणा है। यह दु:खविपाक का वर्णन है।

विवेचन—विपाकसूत्र मे कर्मों का शुभ और अशुभ फल उदाहरणो के द्वारा वर्णित है। इसके दो श्रुतस्कन्ध हैं, दु:खविपाक एव सुखविपाक। पहले श्रुतस्कन्ध मे दस अध्ययन है जिनमे अन्याय, अनीति, मास, तथा अडे आदि भक्षण के परिणाम, परस्त्रीगमन, वेश्यागमन, रिश्वतखोरी तथा चोरी आदि दुष्कर्मों के कुफलो का उदाहरणों के द्वारा वर्णन किया गया है। साथ ही यह भी बताया गया है कि जीव इन सब पापो के कारण किस प्रकार नरक और तिर्यंच गतियो मे जाकर नाना प्रकार की दारुणतर यातनाएँ पाता है, जन्म-मरण करता रहता है तथा दु:ख-परम्परा बढाता जाता है। अज्ञान के कारण जीव पाप करते समय तो प्रसन्न होता है पर जब उनके फल भोगने का समय आता है, तब दीनतापूर्वक रोता और पश्चात्ताप करता है।

९४—से किं तं सुहविवागा ?

सुहविवागेसु णं सुहविवागाणं नगराइं, वणसंडाइं, चेइआइं, समोसरणाइं, रायाणो, अम्मा-पियरो, धम्मायरिआ, धम्मकहाओ, इहलोइअ-पारलोइया इड्ढिविसेसा, भोगपरिच्चागा, पव्वज्जाओ, परिआगा, सुअपरिग्गहा, तवोवहाणाइं, संलेहणाओ, भत्तपच्चक्खाणाइं, पाओवगमणाइं, देवलोगगमणाइं, सुहपरंपराओ, सुकुलपच्चायाईओ, पुणबोहिलाभा अंतकिरिआओ, आघविज्जंति।

९४—प्रश्न—सुख विपाकश्रुत किस प्रकार का है ?

उत्तर—सुखविपाक श्रुत मे सुखविपाको के अर्थात् सुखरूप फल को भोगनेवाले जीवो के नगर, उद्यान, वनखण्ड, व्यन्तरायतन, समवसरण, राजा, माता-पिता, धर्माचार्य, धर्मकथा, इस लोक-परलोक सम्बन्धित ऋद्धि विशेष, भोगो का परित्याग, प्रव्रज्या (दीक्षा) दीक्षापर्याय, श्रुत का ग्रहण, उपधानतप, संलेखना, भक्तप्रत्याख्यान, पादपोपगमन, देवलोकगमन, सुखो की परम्परा, पुन: बोधिलाभ, अन्तक्रिया इत्यादि विषयो का वर्णन है।

९५—विवागसुयस्स णं परित्ता वायणा, संखिज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखिज्जाओ संगहणीओ, संखिज्जाओ पडिवत्तीओ।

से णं अंगट्ठयाए इक्कारसमे अंगे, दो सुयक्खंधा, वीसं अज्झयणा, वीसं उद्देसणकाला, वीसं समुद्देसणकाला, संखिज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-निबद्ध-निकाइआ जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति, पन्नविज्जंति, परूविज्जंति, दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति ।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विन्नाया, एवं चरण-करणपरूवणा आघविज्जइ । से त्तं विवागसुयं । ॥ सूत्र ५६ ॥

९५—विपाकश्रुत मे परिमित वाचना, सख्यात अनुयोगद्वार, सख्यात वेढ, सख्यात श्लोक, सख्यात निर्यु क्तिया, सख्यात सग्रहणियाँ और सख्यात प्रतिपत्तिया है ।

अगो की अपेक्षा से वह ग्यारहवाँ अग है । इसके दो श्रुतस्कध, बीस अध्ययन, बीस उद्देशन-काल और बीस समुद्देशनकाल हैं । पद परिमाण से सख्यात सहस्र पद है, सख्यात अक्षर, अनन्त गम, अनन्त पर्याय, परिमित त्रस, अनन्त स्थावर, शाश्वत-कृत-निबद्ध-निकाचित जिनप्ररूपित भाव हेतु आदि से निर्णीत किए गए हैं, प्ररूपित किए गए है, दिखलाए गए है, निदर्शित और उपदर्शित किए गए हैं ।

विपाकश्रुत का अध्ययन करनेवाला एवभूत आत्मा, ज्ञाता तथा विज्ञाता बन जाता है । इस तरह से चरण-करण की प्ररूपणा की गई है । इस प्रकार यह विपाकश्रुत का विषय वर्णन किया गया ।

विवेचन—उपर्यु क्त पाठ मे सुखविपाक के विषय का विवरण दिया गया है । विपाकसूत्र के दूसरे श्रुतस्कध का नाम सुखविपाक है । इस अग के दस अध्ययन हैं, जिनमे उन भव्य एव पुण्यशाली आत्माओं का वर्णन है, जिन्होने पूर्वभव मे सुपात्रदान देकर मनुष्य भव की आयु का बध किया और मनुष्यभव प्राप्त करके अतुल वैभव प्राप्त किया । किन्तु मनुष्यभव को भी उन्होने केवल सासारिक सुखोपभोग करके ही व्यर्थ नही गँवाया, अपितु अपार ऋद्धि का त्याग करके सयम ग्रहण किया और तप-साधना करते हुए शरीर त्यागकर देवलोको मे देवत्व की प्राप्ति की । भविष्य मे वे महाविदेह क्षेत्र मे निर्वाण पद प्राप्त करेगे । यह सब सुपात्रदान का माहात्म्य है ।

सूत्र मे सुबाहुकुमार की कथा विस्तारपूर्वक दी गई है, शेष सब अध्ययनो मे सक्षिप्त वर्णन है । इन कथाओ से सहज ही ज्ञात हो जाता है कि पुण्यानुबन्धी पुण्य का फल कितना कल्याणकारी होता है । सुखविपाक मे वर्णित दस कुमारो की कथाओ के प्रभाव से भव्य श्रोताओ अथवा अध्येताओ के जीवन मे भी शनै - शनै ऐसे गुणो का आविर्भाव हो सकता है, जिनसे अन्त मे सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करते हुए वे निर्वाण पद की प्राप्ति कर सके ।

(१२) श्री दृष्टिवादश्रुत

९६ —से किं तं दिट्ठिवाए ?

दिट्ठिवाए णं सव्वभावपरूवणा आघविज्जइ से समासओ पंचविहे पन्नत्ते, तं जहा—

(१) परिकम्मे (२) सुत्ताइं (३) पुव्वगए (४) अणुओगे (५) चूलिआ ।

९६—प्रश्न—दृष्टिवाद क्या है ?

उत्तर—दृष्टिवाद—सब नयदृष्टियो का कथन करने वाले श्रुत मे समस्त भावो की प्ररूपणा है। सक्षेप मे वह पाँच प्रकार का है। यथा—(१) परिकर्म (२) सूत्र (३) पूर्वगत (४) अनुयोग और (५) चूलिका।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे दृष्टिवाद का सक्षिप्त परिचय दिया गया है। यह अङ्गश्रुत जैन-आगमो मे सबसे महान् और महत्त्वपूर्ण है, किन्तु वर्तमान काल मे उपलब्ध नही है। इसका विच्छेद हुए लगभग पन्द्रह सौ वर्ष हो चुके हैं 'दिट्ठिवाय' शब्द प्राकृत भाषा का है और सस्कृत मे इसका रूप 'दृष्टिवाद' या 'दृष्टिपात' होता है। दृष्टि शब्द के कई अर्थ हो सकते हैं। नेत्रशक्ति, ज्ञानशक्ति, विचारशक्ति, नय आदि।

ससार मे जितने दर्शन है, जितना श्रुत-ज्ञान है और नयो की जितनी भी पद्धतियाँ है, उन सभी का समावेश दृष्टिवाद मे हो जाता है। प्रत्येक वह शास्त्र, जिसमे दर्शन का विषय मुख्यरूप से वर्णित हो, वह दृष्टिवाद कहला सकता है। यद्यपि दृष्टिवाद का व्यवच्छेद सभी तीर्थंकरो के शासन-काल मे होता रहता है, किन्तु बीच के आठ तीर्थंकरो के समय मे कालिक श्रुत का भी व्यवच्छेद हो गया था। कालिकश्रुत के व्यवच्छेद होने से भाव-तीर्थ भी लुप्त हो गया। फिर भी श्रुतिपरम्परा से उसकी कुछ अश मे व्याख्या की जाती है। इसके विषय मे वृत्तिकार ने लिखा है—

"सर्वमिद प्रायो व्यवच्छिन्न तथापि लेशतो यथागतसम्प्रदाय किञ्चित् व्याख्यायते।"

अर्थात्—सम्पूर्ण दृष्टिवाद का प्राय व्यवच्छेद हो गया तथापि श्रुतिपरम्परा से उसकी अश मात्र व्याख्या की जाती है।

सम्पूर्ण दृष्टिवाद पाँच भागो मे विभक्त है—परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका। क्रमानुसार सभी का वर्णन किया जाएगा।

(१) परिकर्म

९७—से किं त परिकम्मे ?

परिकम्मे सत्तविहे पण्णत्ते, त जहा—

(१) सिद्धसेणिआपरिकम्मे (२) मणुस्ससेणिआपरिकम्मे (३) पुट्ठसेणिआपरिकम्मे (४) ओगाढसेणिआपरिकम्मे (५) उवसंपज्जणसेणिआपरिकम्मे (६) विप्पजहणसेणिआपरिकम्मे (७) चुआचुअसेणिआपरिकम्मे।

९७—परिकर्म कितने प्रकार का है ?

परिकर्म सात प्रकार का है, यथा—

(१) सिद्ध-श्रेणिकापरिकर्म (२) मनुष्य-श्रेणिकापरिकर्म (३) पुष्ट-श्रेणिकापरिकर्म (४) अवगाढ-श्रेणिकापरिकर्म (५) उपसम्पादन-श्रेणिकापरिकर्म (६) विप्रजहत् श्रेणिकापरिकर्म (७) च्युताच्युतश्रेणिका-परिकर्म।

विवेचन- जिस प्रकार गणितशास्त्र मे सकलना आदि सोलह परिकर्म के अध्ययन से सम्पूर्ण गणित को समझने की योग्यता प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार परिकर्म का अध्ययन करने से दृष्टिवाद के शेष सूत्रो को ग्रहण करने की योग्यता आती है और दृष्टिवाद के अन्तर्गत रहे सभी

विषय सुगमतापूर्वक समझे जा सकते है। वह परिकर्म मूल और उत्तर भेदो सहित व्यवच्छिन्न हो चुका है।

१. सिद्धश्रेणिका परिकर्म

९८—से किं तं सिद्धसेणिआ-परिकम्मे ?

सिद्धसेणिआ-परिकम्मे चउद्दसविहे पन्नत्ते तं जहा—(१) माउगापयाइं (२) एगट्ठिअ-पयाइं (३) अट्ठपयाइं (४) पाढोआगासपयाइ (५) केउभूअं (६) रासिबद्धं (७) एगगुणं (८) दुगुणं (९) तिगुणं (१०) केउभूअ (११) पडिग्गहो (१२) संसारपडिग्गहो (१३) नंदावत्त (१४) सिद्धावत्तं।

से त्तं सिद्धसेणिआ-परिकम्मे।

९८—प्रश्न—सिद्धश्रेणिका परिकर्म कितने प्रकार का है ?

उत्तर—वह चौदह प्रकार का है। यथा—(१) मातृकापद (२) एकार्थकपद (३) अर्थपद (४) पृथगाकाशपद (५) केतुभूत (६) राशिबद्ध (७) एकगुण (८) द्विगुण (९) त्रिगुण (१०) केतुभूत (११) प्रतिग्रह (१२) ससारप्रतिग्रह (१३) नन्दावर्त (१४) सिद्धावर्त। इस प्रकार सिद्धश्रेणिका परिकर्म है।

विवेचन—सूत्र मे सिद्धश्रेणिका पारकर्म के चौदह भेदो के केवल नामोल्लेख किए गए है, विस्तृत विवरण नही है। दृष्टिवाद के सर्वथा व्यवच्छिन्न हो जाने के कारण इसके विषय मे अधिक नही बताया जा सकता, सिर्फ अनुमान किया जाता है कि 'सिद्धश्रेणिका' पद के नामानुसार इसमे विद्यासिद्ध आदि का वर्णन होगा। चौथा पद 'पाढो आगासपयाइ', किसी-किसी प्रति मे पाया जाता है। मातृकापद, एकार्थपद, तथा अर्थपद, के लिए सम्भावना की जाती है कि ये तीनो मत्र विद्या मे सबध रखते होगे, कोश से भी इनका सबध प्रतीत होता है। इसी प्रकार राशिबद्ध, एकगुण, द्विगुण और त्रिगुण, ये पद गणित विद्या से सबधित होगे, ऐसा अनुमान है। तत्त्व केवलीगम्य ही है।

२. मनुष्यश्रेणिका परिकर्म

९९—से किं तं मणुस्ससेणिआ परिकम्मे ?

मणुस्ससेणिआपरिकम्मे चउद्दसविहे पण्णत्ते तं जहा—(१) माउयापयाइं (२) एगट्ठिअपयाइ (३) अट्ठपयाइ (४) पाढोआगा (मा) सपयाइं (५) केउभूअं (६) रासिबद्ध (७) एगगुणं (८) दुगुण (९) तिगुणं (१०) केउभूअ (११) पडिग्गहो (१२) संसारपडिग्गहो (१३) नंदा-वत्त (१४) मण्णुस्सावत्त, से त्तं मणुस्ससेणिआ-परिकम्मे।

९९—मनुष्यश्रेणिका परिकर्म कितने प्रकार है ?

मनुष्यश्रेणिका परिकर्म चौदह प्रकार का प्रतिपादित है, जैसे—

(१) मातृकापद, (२) एकार्थक पद, (३) अर्थपद, (४) पृथगाकाशपद, (५) केतुभूत, (६) राशिबद्ध, (७) एक गुण, (८) द्विगुण, (९) त्रिगुण, (१०) केतुभूत, (११) प्रतिग्रह, (१२) ससार-प्रतिग्रह, (१३) नन्दावर्त और (१४) मनुष्यावर्त।

विवेचन—उक्त सूत्र मे मनुष्यश्रेणिका परिकर्म का वर्णन किया है। अनुमान किया जाता है कि इसमें भव्य-अभव्य, परित्तससारी, अनन्तससारी, चरमशरीरी और अचरमशरीरी, चारों गतियों से आनेवाली मनुष्यश्रेणी, सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि, आराधक-विराधक, स्त्रीपुरुष, नपु सक, गर्भज, सम्मूर्छिम, पर्याप्तक, अपर्याप्तक, संयत, असयत, सयतासयत, मनुष्य-श्रेणिका, उपशमश्रेणि तथा क्षपक श्रेणिरूप मनुष्यश्रेणिका का वर्णन होगा।

३. पृष्टश्रेणिका परिकर्म

१००—से किं तं पुट्ठसेणिआपरिकम्मे ? पुट्ठसेणिआपरिकम्मे, इक्कारसविहे पण्णत्ते तं जहा—
(१) पाढोआगा (मा) सपयाइं, (२) केउभूयं (३) रासिबद्धं, (४) एगगुणं, (५) दुगुणं, (६) तिगुणं, (७) केउभूयं, (८) पडिग्गहो, (९) संसारपडिग्गहो, (१०) नंदावत्तं, (११) पुट्ठावत्तं।

से तं पुट्ठसेणिआपरिकम्मे।

१००- पृष्टश्रेणिका परिकर्म कितने प्रकार का है ?

पृष्टश्रेणिका परिकर्म ग्यारह प्रकार का है, यथा—(१) पृथगाकाशपद, (२) केतुभूत, (३) राशिबद्ध (४) एकगुण, (५) द्विगुण, (६) त्रिगुण, (७) केतुभूत, (८) प्रतिग्रह, (९) ससार-प्रतिग्रह, (१०) नन्दावर्त, (११) पृष्टावर्त। यह पृष्टश्रेणिका परिकर्म श्रुत है।

विवेचन—सूत्र मे पृष्टश्रेणिका परिकर्म के ग्यारह विभाग बताए गए हैं। प्राकृत में स्पृष्ट और पृष्ट, दोनो से 'पुट्ठ' शब्द बनता है। सभवत इस परिकर्म मे लौकिक और लोकोत्तर प्रश्न तथा उनके उत्तर होगे। सभी प्रकार के प्रश्नो का इन ग्यारह प्रकारो मे समावेश हो सकता है।

स्पृष्ट का दूसरा अर्थ होता है—स्पर्श किया हुआ। सिद्ध एक दूसरे से स्पृष्ट होते हैं, निगोद के शरीर मे भी अनन्त जीव एक-दूसरे से स्पृष्ट रहते हैं। धर्म, अधर्म, एव लोकाकाश के प्रदेश अनादिकाल से परस्पर स्पृष्ट है। पृष्टश्रेणिकापरिकर्म मे इन सबका वर्णन हो, ऐसा सभव है।

४. अवगाढश्रेणिका परिकर्म

१०१—से किं तं ओगाढसेणिआपरिकम्मे ? ओगाढसेणिआपरिकम्मे एक्कारसविहे पण्णत्ते, तं जहा—(१) पाढोआगा (मा) सपयाइं, (२) केउभूअं, (३) रासिबद्धं, (४) एगगुणं, (५) दुगुणं, (६) तिगुणं, (७) केउभूअं, (८) पडिग्गहो, (९) संसार-पडिग्गहो, (१०) नंदावत्तं, (११) ओगाढावत्तं।

से तं ओगाढसेणिआ परिकम्मे।

१०१—प्रश्न—अवगाढश्रेणिका परिकर्म कितने प्रकार का है ?

उत्तर—अवगाढश्रेणिका परिकर्म ग्यारह प्रकार का है—(१) पृथगाकाशपद, (२) केतुभूत, (३) राशिबद्ध, (४) एकगुण, (५) द्विगुण, (६) त्रिगुण, (७) केतुभूत, (८) प्रतिग्रह, (९) संसार-प्रतिग्रह, (१०) नन्दावर्त, (११) अवगाढावर्त्त। यह अवगाढश्रेणिका परिकर्म है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में अवगाढश्रेणिका परिकर्म का वर्णन है। आकाश का कार्य है—सब द्रव्यों को अवगाह देना। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय, काल तथा पुद्गलास्तिकाय, ये पांचों द्रव्य आधेय हैं, आकाश इनको अपने में स्थान देता है। जो द्रव्य जिस आकाश प्रदेश या देश में अवगाढ हैं, उनका विस्तृत विवरण वर्णन—अवगाढश्रेणिका में होगा, ऐसी सम्भावना की जा सकती है।

५. उपसम्पादन-श्रेणिका परिकर्म

१०२—से किं तं उवसंपज्जणसेणिआ परिकम्मे ?

उवसंपज्जणसेणिआपरिकम्मे एक्कारसविहे पन्नत्ते, तं जहा—

(१) पाढोआमा(मा)सपयाइं, (२) केउभूयं, (३) रासिबद्धं, (४) एगगुणं, (५) दुगुणं, (६) तिगुणं, (७) केउभूयं, (८) पडिग्गहो, (९) संसारपडिग्गहो, (१०) नंदावत्तं, (११) उवसंपज्जणावत्तं, से त्तं उपसंपज्जणावत्तं, से त्तं उपसंपज्जणसेणिआ-परिकम्मे।

१०२—वह उपसम्पादनश्रेणिका परिकर्म कितने प्रकार का है ?

उपसम्पादन श्रेणिका परिकर्म ग्यारह प्रकार का है। यथा—

(१) पृथगाकाशपद, (२) केतुभूत, (३) राशिबद्ध, (४) एकगुण, (५) द्विगुण, (६) त्रिगुण, (७) केतुभूत, (८) प्रतिग्रह, (९) संसार प्रतिग्रह, (१०) नन्दावर्त, (११) उपसम्पादनावर्त। यह उपसम्पादनश्रेणिका परिकर्म श्रुत है।

विवेचन—इस सूत्र मे उपसम्पादनश्रेणिका परिकर्म का वर्णन है। उवसंपज्जण का अर्थ अङ्गीकार करना अथवा ग्रहण करना है। सभी साधको की जीवन-भूमिका एक सरीखी नही होती। अतः दृष्टिवाद के वेत्ता, साधक की शक्ति के अनुसार जीवनोपयोगी साधन बताते हैं, जिससे उसका कल्याण हो सके। साधक के लिए जो जो उपादेय है, उसका विधान करते हैं और साधक उन्हें इस प्रकार ग्रहण करते हैं—'असंजम परियाणामि, संजम उवसंपज्जामि।' यहाँ 'उवसपज्जामि' का अर्थ होता है—ग्रहण करता हूं। सम्भव है, परिकर्म मे जितने भी कल्याण के छोटे से छोटे या बडे से बड़े साधन हैं उनका उल्लेख किया गया हो।

६. विप्रजहत् श्रेणिका परिकर्म

१०३—से किं तं विप्पजहणसेणिआपरिकम्मे ?

विप्पजहणसेणिआपरिकम्मे एक्कारसविहे पन्नत्ते, तं जहा—

(१) पाढोआगा(मा)सपयाइं, (२) केउभूअं, (३) रासिबद्धं, (४) एगगुणं, (५) दुगुणं, (६) तिगुणं, (७) केउभूअं, (८) पडिग्गहो, (९) संसारपडिग्गहो, (१०) नन्दावत्तं, (११) विप्पजहणसेणिआपरिकम्मे।

१०३—विप्रजहत्श्रेणिका परिकर्म कितने प्रकार का है ?

विप्रजहत्श्रेणिका परिकर्म ग्यारह प्रकार का है। यथा—(१) पृथकाकाशपद, (२) केतुभूत,

(३) राशिबद्ध, (४) एकगुण, (५) द्विगुण, (६) त्रिगुण, (७) केतुभूत, (८) प्रतिग्रह, (९) संसार-प्रतिग्रह, (१०) नन्दावर्त्त, (११) विप्रजहदावर्त्त । यह विप्रजहत्श्रेणिका परिकर्मश्रुत है ।

विवेचन—विप्रजहत्श्रेणिका का संस्कृत मे 'विप्रजहच्छ्रेणिका' शब्द-रूपान्तर होता है। विश्व में जितने भी हेय यानी परित्याज्य पदार्थ हैं, उनका इसी में अन्तर्भाव हो जाता है । प्रत्येक साधक की अपनी जीवन-भूमिका औरो से भिन्न होती है अत: अवगुण भी भिन्न-भिन्न होते हैं । इसलिए जिसकी जैसी भूमिका हो उसके अनुसार साधक के लिए वैसे ही दोष एवं क्रियाएं परित्याज्य हैं। उदाहरण स्वरूप आयुर्वेदिक ग्रन्थों में जैसे भिन्न-भिन्न रोगों से ग्रस्त रोगियो के लिए कुपथ्य भिन्न-भिन्न होते हैं, इसी प्रकार साधको को भी जैसी-जैसी दोष-रुग्णता हो, उनके लिए वैसी-वैसी अकल्याणकारी क्रियाएँ हेय या परित्याज्य होती हैं। इस परिकर्म मे इन्ही सबका विस्तार से वर्णन हो, ऐसी सम्भावना है ।

७. च्युताऽच्युतश्रेणिका परिकर्म

१०४—से किं तं चुआचुअसेणिआ परिकम्मे ?

चुआचुअसेणिआपरिकम्मे, एक्कारसविहे पन्नत्ते, तं जहा—(१) पाढोआगासपयाइं, (२) केउभूअं (३) रासिबद्धं, (४) एगगुणं, (५) दुगुणं, (६) तिगुणं, (७) केउभूअं (८) पडिग्गहो, (९) संसारपडिग्गहो, (१०) नंदावत्तं, (११) चुआचुआवत्तं, से तं चुआचुअसेणिआ परिकम्मे । छ चउक्क नइआइं, सत्त तेरासिआइं । से त्तं परिकम्मे ।

१०४—वह च्युताच्युत श्रेणिका परिकर्म कितने प्रकार का है ?

वह ग्यारह प्रकार का है, यथा—

(१) पृथगाकाशपद, (२) केतुभूत, (३) राशिबद्ध, (४) एकगुण, (५) द्विगुण, (६) त्रिगुण, (७) केतुभूत, (८) प्रतिग्रह, (९) संसार-प्रतिग्रह, (१०) नन्दावर्त्त, (११) च्युताच्युतावर्त, यह च्युताच्युतश्रेणिका परिकर्म सम्पूर्ण हुआ ।

उल्लिखित परिकर्म के ग्यारह भेदो मे से प्रारम्भ के छह परिकर्म चार नयो के आश्रित हैं और अन्तिम सात में त्रैराशिक मत का दिग्दर्शन कराया गया है । इस प्रकार यह परिकर्म का विषय हुआ ।

विवेचन—इस सूत्र में परिकर्म के सातवें और अन्तिम भेद च्युताच्युतश्रेणिका परिकर्म का वर्णन किया गया है यद्यपि इसमे रहे हुए वास्तविक विषय और उसके अर्थ के बारे में निश्चयपूर्वक कुछ कहा नहीं जा सकता, क्योंकि श्रुत अवच्छिन्न हो गया है, फिर भी इसमे त्रैराशिक मत का विस्तृत वर्णन होना चाहिए ।

जैसे स्वसमय में सम्यक्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि, मिश्रदृष्टि एवं संयत, असयत और संयतासंयत, सर्वाराधक, सर्वविराधक तथा देश आराधक-विराधक की परिगणना की गई है, वैसे ही हो सकता है कि त्रैराशिक मत में अच्युत, च्युत तथा च्युतच्युत शब्द प्रचलित हों । टीकाकार ने उल्लेख किया है कि पूर्वकालिक आचार्य तीन राशियों का अवलम्बन करके वस्तुविचार करते थे । जैसे द्रव्यास्तिक, पर्यायास्तिक और उभयास्तिक । एक त्रैराशिक मत भी था जो दो राशियों के बदले एकान्त रूप में

तीन ही राशियाँ मानता था। सूत्र में "छ चउक्कनइआइं, सत्त तेरासियाइं" यह पद दिया गया है। इसका भाव यह है कि आदि के छः परिकर्म चार नयो की अपेक्षा से वर्णित हैं और इनमे स्वसिद्धात का वर्णन किया गया है तथा सातवे परिकर्म मे त्रैराशिक का उल्लेख है।

(२) सूत्र

१०५—से किं तं सुत्ताइं ?

सुत्ताइं बावीसं पन्नत्ताइं, तं जहा—

(१) उज्जुसुयं, (२) परिणयापरिणयं, (३) बहुभंगिअं, (४) विजयचरिअं, (५) अणंतरं, (६) परंपरं, (७) आसाणं, (८) संजूहं, (९) संभिण्णं, (१०) अहव्वायं, (११) सोवत्थिआवत्तं, (१२) नंदावत्तं, (१३) बहुलं, (१४) पुट्ठापुट्ठं (१५) विआवत्तं, (१६) एवंभूअं, (१७) दुयावत्तं, (१८) वत्तमाणपयं, (१९) समभिरूढं, (२०) सव्वओभद्दं, (२१) पस्सासं, (२२) दुप्पडिग्गहं।

इच्चेइआइं बावीसं सुत्ताइं छिन्नच्छेअनइआणि ससमयसुत्तपरिवाडीए, इच्चेइआइं बावीसं सुत्ताइं अच्छिन्नच्छेअनइआणि आजीविअसुत्तपरिवाडीए, इच्चेइआइं बावीसं सुत्ताइं तिग-णइयाणि तेरासियसुत्तपरिवाडीए, इच्चेइआइं बावीसं सुत्ताइं चउक्कनइयाणि ससमयसुत्त-परिवाडीए। एवामेव सपुव्वावरेण अट्ठासीई सुत्ताइं भवंतीतिमक्खायं, से त्तं सुत्ताइं।

१०५—भगवन् वह सूत्ररूप दृष्टिवाद कितने प्रकार का है ?

गुरु ने उत्तर दिया—सूत्र रूप दृष्टिवाद बाईस प्रकार से प्रतिपादन किया गया है। जैसे—

(१) ऋजुसूत्र, (२) परिणतापरिणत, (३) बहुभगिक, (४) विजयचरित, (५) अनन्तर, (६) परम्पर, (७) आसान, (८) सयूथ, (९) सम्भिन्न, (१०) यथावाद, (११) स्वस्तिकावर्त्त, (१२) नन्दावर्त्त, (१३) बहुल, (१४) पृष्टापृष्ट, (१५) व्यावर्त्त, (१६) एवभूत, (१७) द्विकावर्त्त, (१८) वर्त्तमानपद, (१९) समभिरूढ, (२०) सर्वतोभद्र, (२१) प्रशिष्य, (२२) दुष्प्रतिग्रह।

ये बाईस सूत्र छिन्नच्छेद-नयवाले, स्वसमय सूत्र परिपाटी अर्थात् स्वदर्शन की वक्तव्यता के आश्रित है। यह ही बाईस सूत्र आजीविक गोशालक के दर्शन की दृष्टि से अच्छिन्नच्छेद नय वाले हैं। इस प्रकार से ये ही सूत्र त्रैराशिक सूत्र परिपाटी से तीन नय वाले है और ये ही बाईस सूत्र स्वसमय-सिद्धान्त की दृष्टि से चतुष्क नय वाले हैं। इस प्रकार पूर्वापर सर्व मिलकर अट्ठासी सूत्र हो जाते हैं। यह कथन तीर्थंकर और गणधरो ने किया है। यह सूत्ररूप दृष्टिवाद का वर्णन है।

विवेचन—इस सूत्र मे अट्ठासी सूत्रो का वर्णन है। इनमे सर्वद्रव्य, सर्वपर्याय, सर्वनय और सर्वभग-विकल्प नियम आदि बताये गये है।

वृत्तिकार और चूर्णिकार, दोनो के मत से उक्त सूत्र मे बाईस सूत्र छिन्नच्छेद नय के मत से स्वसिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले हैं और ये ही सूत्र अछिन्नच्छेद नय की दृष्टि से अबन्धक, त्रैराशिक और नियतिवाद का वर्णन करते हैं।

छिन्नच्छेद नय उसे कहा जाता है, जैसे—कोई पद अथवा श्लोक दूसरे पद की अपेक्षा न करे और न दूसरा पद ही प्रथम की अपेक्षा रखे। यथा—"धम्मो मगलमुक्किट्ठ।"

इसी का वर्णन अच्छिन्नच्छेद नय के मत से इस प्रकार है, यथा—धर्मं सर्वोत्कृष्ट मंगल है। प्रश्न होता है कि वह कौन सा धर्म है जो सर्वोत्कृष्ट मगल है ? उत्तर मे बताया जाता है कि--"अहिसा सजमो तवो।" इस प्रकार दोनो पद सापेक्ष सिद्ध हो जाते है। यद्यपि बाईम सूत्र और अर्थ दोनो प्रकार से व्यवच्छिन्न हो चुके हैं किन्तु इनका परंपरागत अर्थ उक्त प्रकार से किया गया है। वृत्तिकार ने त्रैराशिक मत आजीविक सम्प्रदाय को बताया है, रोहगुप्त द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय को नही।

(३) पूर्व

१०६– से किं त पुव्वगए ?

पुव्वगए चउद्दसविहे पण्णत्ते, त जहा—

(१) उप्पायपुव्वं, (२) अग्गाणीय, (३) वीरिअ, (४) अत्थिनत्थिप्पवायं, (५) नाणप्पवायं, (६) सच्चप्पवाय, (७) आयप्पवायं, (८) कम्मप्पवाय, (९) पच्चक्खाणप्पवायं, (१०) विज्जाणुप्पवायं, (११) अवंझं, (१२) पाणाऊ, (१३) किरियाविसालं, (१४) लोकबिंदुसारं।

(१) उप्पाय-पुव्वस्स ण दस वत्थू, चत्तारि चूलियावत्थू पन्नत्ता,
(२) अग्गाणीयपुव्वस्स णं चोद्दस वत्थू, दुवालस चूलियावत्थू पन्नत्ता,
(३) वीरिय-पुव्वस्स णं अट्ठ वत्थू, अट्ठ चूलिया-वत्थू पण्णत्ता,
(४) अत्थिनत्थिप्पवाय-पुव्वस्स ण अट्ठारस वत्थू, दस चूलियावत्थू पण्णत्ता,
(५) नाणप्पवायपुव्वस्स णं बारस वत्थू पण्णत्ता,
(६) सच्चप्पवायपुव्वस्स णं दोण्णि वत्थू पण्णत्ता,
(७) आयप्पवायपुव्वस्स णं सोलस वत्थू पण्णत्ता,
(८) कम्मप्पवायपुव्वस्स णं तीस वत्थू पण्णत्ता,
(९) पच्चक्खाणपुव्वस्स ण वीसं वत्थू पण्णत्ता,
(१०) विज्जाणुप्पवायपुव्वस्स णं पन्नरस वत्थू पण्णत्ता,
(११) अवज्झपुव्वस्स णं बारस वत्थू पण्णत्ता,
(१२) पाणाउपुव्वस्स णं तेरस वत्थू पण्णत्ता,
(१३) किरिआविसालपुव्वस्स णं तीसं वत्थू पण्णत्ता,
(१४) लोकबिंदुसारपुव्वस्स णं पणवीसं वत्थू पण्णत्ता,

दस चोदस अट्ठ अट्ठारस बारस दुवे अ वत्थूणि।
सोलस तीसा वीसा पन्नरस अणुप्पवायम्मि ॥१॥
बारस इक्कारसमे, बारसमे तेरसेव वत्थूणि।
तीसा पुण तेरसमे, चोद्दसमे पण्णवीसाओ ॥२॥
चत्तारि दुवालस अट्ठ चेव दस चेव चुल्लवत्थूणि।
आइल्लाण चउण्हं, सेसाणं चूलिया नत्थि ॥३॥
से त्तं पुव्वगए।

१०६—पूर्वगत-दृष्टिवाद कितने प्रकार का है ?

पूर्वगत-दृष्टिवाद चौदह प्रकार का है, यथा—(१) उत्पादपूर्व, (२) अग्रायणीयपूर्व, (३) वीर्यप्रवादपूर्व, (४) अस्तिनास्ति प्रवादपूर्व, (५) ज्ञानप्रवादपूर्व, (६) सत्यप्रवादपूर्व, (७) आत्मप्रवाद-पूर्व, (८) कर्मप्रवादपूर्व, (९) प्रत्याख्यानप्रवादपूर्व, (१०) विद्यानुवादपवादपूर्व, (११) अबन्ध्यपूर्व, (१२) प्राणायुपूर्व, (१३) क्रियाविशालपूर्व, (१४) लोकबिन्दुसारपूर्व ।

(१) उत्पादपूर्व मे दस वस्तु और चार चूलिका वस्तु है ।
(२) अग्रायणीयपूर्व में चौदह वस्तु और बारह चूलिका वस्तु है ।
(३) वीर्यप्रवादपूर्व मे आठ वस्तु और आठ चूलिका वस्तु हैं ।
(४) अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व मे अठारह वस्तु और दस चूलिका वस्तु हैं ।
(५) ज्ञानप्रवादपूर्व मे बारह वस्तु है ।
(६) सत्यप्रवादपूर्व मे दो वस्तु हैं ।
(७) आत्मप्रवादपूर्व मे सोलह वस्तु है ।
(८) कर्मप्रवादपूर्व मे तीन वस्तु बताए गए हैं ।
(९) प्रत्याख्यानपूर्व मे बीस वस्तु हैं ।
(१०) विद्यानुवादपूर्व मे पन्द्रह वस्तु कहे गए हैं ।
(११) अवन्ध्यपूर्व मे बारह वस्तु प्रतिपादन किए गए है ।
(१२) प्राणायुपूर्व मे तेरह वस्तु हैं ।
(१३) क्रियाविशालपूर्व मे तीस वस्तु कहे गए हैं ।
(१४) लोकबिन्दुसारपूर्व मे पच्चीस वस्तु हैं ।

आगम के वर्ग, अध्ययन आदि विभाग वस्तु कहलाते है । छोटे विभाग को चूलिका कहते हैं । उक्त चौदह पूर्वों मे वस्तु और चूलिकाओ की संख्या इस प्रकार है—

पहले में १०, दूसरे मे १४, तीसरे मे ८, चौथे मे १८, पांचवे मे १२, छठे मे २, सातवें मे १६, आठवे मे ३०, नवमे मे २०, दसवे मे १५, ग्यारहवे मे १२, बारहवे मे १३, तेरहवे मे ३० और चौदहवें मे २५ वस्तु हैं ।

आदि के चार पूर्वों मे क्रम से—प्रथम मे ४, द्वितीय मे १२, तृतीय मे ८ और चतुर्थ पूर्व मे १० चूलिकाएँ है । शेष पूर्वो मे चूलिकाएँ नही है ।

इस प्रकार यह पूर्वगत दृष्टिवाद अङ्ग-श्रुत का वर्णन हुआ ।

(४) अनुयोग

१०७—से किं तं अणुओगे ?

अणुओगे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—(१) मूलपढमाणुओगे (२) गंडिआणुओगे य ।

से किं तं मूलपढमाणुओगे ?

मूलपढमाणुओगे णं अरहंताणं भगवंताणं पुव्वभवा, देवगमणाइं, आउं, चवणाइं, जम्मणाणि, अभिसेआ, रायवरसिरीओ, पव्वज्जाओ, तवा य उग्गा, केवलनाणुप्पाओ, तित्थपवत्तणाणि अ, सीसा, गणा, गणहरा, अज्जा, पवत्तिणीओ, संघस्स चउव्विहस्स जं च परिमाणं, जिण-मणपज्जव-ओहिनाणी, सम्मत्तसुअनाणिणो अ, वाई, अणुत्तरगई अ, उत्तरवेउव्विणो अ मुणिणो, जत्तिआ सिद्धा, सिद्धिपहो देसिओ, जच्चिरं च कालं पाओवगया, जे जहिं जत्तिआइं भत्ताइं छेइत्ता अंतगडे, मुणिवरुत्तमे तिमिरओघविप्पमुक्के, मुक्खसुहमणुत्तरं च पत्ते। एवमन्ने अ एवमाइभावा मूलपढमाणुओगे कहिआ।

से त्तं मूलपढमाणुओगे।

१०७—प्रश्न—भगवन्! अनुयोग कितने प्रकार का है?

उत्तर—वह दो प्रकार का है, यथा—मूलप्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोग।

मूलप्रथमानुयोग में क्या वर्णन है?

मूलप्रथमानुयोग मे अरिहन्त भगवन्तो के पूर्व भवो का वर्णन, देवलोक में जाना, देवलोक का आयुष्य, देवलोक से च्यवनकर तीर्थंकर रूप मे जन्म, देवादिकृत जन्माभिषेक, तथा राज्याभिषेक, प्रधान राज्यलक्ष्मी, प्रव्रज्या (मुनि-दीक्षा) तत्पश्चात् घोर तपश्चर्या, केवलज्ञान की उत्पत्ति, तीर्थ की प्रवृत्ति करना, शिष्य-समुदाय, गण, गणधर, आर्यिकाएँ, प्रवर्त्तिनीएँ, चतुर्विध सघ का परिमाण-संख्या, जिन-सामान्यकेवली, मन पर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी एव सम्यक्श्रुतज्ञानी, वादी, अनुत्तरगति और उत्तरवैक्रियधारी मुनि यावन्मात्र मुनि सिद्ध हुए, मोक्ष-मार्ग जैसे दिखाया, जितने समय तक पादपोपगमन सथारा किया, जिस स्थान पर जितने भक्तो का छेदन किया, अज्ञान अधकार के प्रवाह से मुक्त होकर जो महामुनि मोक्ष के प्रधान सुख को प्राप्त हुए इत्यादि। इनके अतिरिक्त अन्य भाव भी मूल प्रथमानुयोग में प्रतिपादित किये गए है। यह मूल प्रथमानुयोग का विषय हुआ।

विवेचन—उक्त सूत्र मे अनुयोग का वर्णन किया गया है। जो योग अनुरूप अथवा अनुकूल हो वह अनुयोग कहलाता है। जो सूत्र के साथ अनुरूप सम्बन्ध रखता है, वह अनुयोग है।

अनुयोग के दो प्रकार है—मूलप्रथमानुयोग और गडिकानुयोग।

मूलप्रथमानुयोग मे तीर्थंकरो के विषय मे विस्तृत रूप से निरूपण किया गया है। सम्यक्त्व प्राप्ति से लेकर तीर्थंकर पद की प्राप्ति तक उनके भवो का तथा जीवनचर्य्या का वर्णन किया गया है। पूर्वभव, देवत्वप्राप्ति, देवलोक की आयु, वहाँ से च्यवन, जन्म, राज्यश्री, दीक्षा, उग्रतप, कैवल्य-प्राप्ति, तीर्थप्रवर्त्तन, शिष्यो, गणधरो, गणो, आर्याओ, प्रवर्त्तिनियों तथा चतुर्विध संघ का परिमाण, केवली, मन.पर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, पूर्वधर, वादी, अनुत्तर विमानगति को प्राप्त, उत्तरवैक्रियधारी मुनि तथा कितने सिद्ध हुए, आदि का वर्णन किया गया है। मोक्ष-सुख की प्राप्ति और उसके साधन भी बताए है। उक्त विषयो को देखते हुए स्पष्ट है कि तीर्थंकरों के जीवनचरित मूल प्रथमानुयोग में वर्णित हैं।

१०८—से किं तं गंडिआणुओगे?

गंडिआणुओगे—कुलगरगंडिआओ, तित्थयरगंडिआओ, चक्कवट्टिगंडिआओ, दसारगंडिआओ, बलदेवगंडिआओ, वासुदेवगंडिआओ, गणधरगंडिआओ, भद्दबाहुगंडिआओ, तवोकम्मगंडिआओ,

हरिवंसगंडिआओ, उस्सप्पिणीगंडिआओ, ओसप्पिणीगंडिआओ, चित्तंतरगंडिआओ, अमर-नर-तिरिय—निरय—गइ—गमण—विविह—परियट्टणाणुओगेसु, एवमाइआओ गंडिआओ आघविज्जंति, पण्णविज्जंति।

से त्तं गंडिआणुओगे, से त्तं अणुओगे।

१०८—गण्डिकानुयोग किस प्रकार का है?

गण्डिकानुयोग मे कुलकरगण्डिका तीर्थंकरगण्डिका, चक्रवर्त्तीगण्डिका, दशारगंडिका, बलदेवगंडिका, वासुदेवगण्डिका, गणधरगण्डिका, भद्रबाहुगण्डिका, तप कर्मगण्डिका, हरिवशगण्डिका, उत्सर्पिणीगण्डिका, अवसर्पिणीगण्डिका, चित्रान्तरगण्डिका, देव, मनुष्य, तिर्यच, नरकगति, इनमे गमन और विविध प्रकार से ससार मे पर्यटन इत्यादि गण्डिकाएँ कही गई हैं। इस प्रकार प्रतिपादन की गई हैं। यह गण्डिकानुयोग है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे गण्डिकानुयोग का वर्णन है। गण्डिका शब्द प्रबन्ध या अधिकार के लिए दिया गया है। इसमे कुलकरों की जीवनचर्या, एक तीर्थंकर और उसके बाद दूसरे तीर्थंकर के मध्य-काल मे होनेवाली सिद्धपरम्परा का वर्णन तथा चक्रवर्त्ती, बलदेव, वासुदेव, गणधर, हरिवश, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी तथा चित्रान्तर यानी पहले व दूसरे तीर्थंकर के अन्तराल मे होनेवाले गद्दीधर राजाओ का इतिहास वर्णित है। साथ ही उपर्युक्त महापुरुषो के पूर्वभवो मे देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक, इन चारो गतियो के जीवनचरित्र तथा वर्तमान और अनागत भवो का इतिहास भी है। सक्षेप मे, जब तक उन्हे निर्वाण पद की प्राप्ति नही हुई, तब तक के सम्पूर्ण जीवन-वृत्तान्त गण्डिकानुयोग मे वर्णन किये गए हैं। चित्रान्तर गण्डिका के विषय मे वृत्तिकार ने लिखा है—

"चित्तन्तरगण्डिआउत्ति, चित्रा—अनेकार्था अन्तरेऋषभाजिततीर्थकरापान्तराले गण्डिका चित्रान्तरगण्डिका, एतदुक्त भवति-ऋषभाजिततीर्थंकरान्तरे ऋषभवशसमुद्भूतभूपतीना शेषगति-गमनव्युदासेन शिवगतिगमनानुत्तरोपपातप्राप्तिप्रतिपादिका गण्डिका चित्रान्तरगण्डिका।"

गण्डिकानुयोग को गन्ने के उदाहरण से भली भाति समझा जा सकता है। जिस प्रकार गन्ने मे गाँठे होने से उसका थोडा-थोडा हिस्सा सीमित रहता है, उसी प्रकार तीर्थंकरो के मध्य का समय भिन्न-भिन्न इतिहासो के लिए सीमित होता है।

इस प्रकार अनुयोग का विषय वर्णित हुआ। स्मरण रखना चाहिये कि अनुयोग के दोनो प्रकार इतिहास से सम्बन्धित है।

(५) चूलिका

१०९—से किं तं चूलिआओ?

चूलिआओ—आइल्लाण चउण्ह पुव्वाणं चूलिआओ सेसाइ पुव्वाइं अचूलिआइं। से त्तं चूलिआओ।

१०९—चूलिका क्या है?

उत्तर—आदि के चार पूर्वों मे चूलिकाएँ है, शेष पूर्वों मे चूलिकाएँ नही हैं। यह चूलिकारूप दृष्टिवाद का वर्णन है।

विवेचन—चूलिका अर्थात् चूला, शिखर को कहते हैं। जो विषय परिकर्म, सूत्र, पूर्व, तथा अनुयोग में वर्णित नहीं है, उस अवर्णित विषय का वर्णन चूला मे किया गया है। चूर्णिकार ने कहा है—

"दिट्ठिवाये ज परिकम्म-सुत्तपुव्व-अणुओगे न भणिय त चूलासु भणिय ति।" चूलिका आधुनिक काल मे प्रचलित परिशिष्ट के समान है। इसलिए दृष्टिवाद के पहले चार भेदो का अध्ययन करने के पश्चात् ही इसे पढना चाहिये। इसमे उक्त-अनुक्त विषयो का सग्रह है। यह दृष्टिवाद की चूला है। आदि के चार पूर्वों मे चूलिकाओ का उल्लेख है, शेष मे नही। इस पाँचवें अध्ययन में उन्हीं का वर्णन है। चूलिकाएँ उन-उन पूर्वो का अग हैं।

चूलिकाओ मे कमश ४, १२, ८, १० इस प्रकार ३४ वस्तुएँ हैं। श्रुतरूपी मेरु चूलिका से ही सुशोभित है अतः इसका वर्णन सबके बाद किया गया है।

दृष्टिवादाङ्ग का उपसंहार

११०—दिट्ठिवायस्स णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ, संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ।

से णं अंगट्ठयाए बारसमे अगे, एगे सुयक्खंधे, चोद्दसपुव्वाइं, सखेज्जा वत्थू, सखेज्जा चूलवत्थू, संखेज्जा पाहुडा, संखेज्जा पाहुडपाहुडा, संखेज्जाओ पाहुडिआओ, संखेज्जाओ पाहुडपाहुडिआओ, संखेज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-निबद्ध-निकाइया जिणपन्नत्ता भावा आघविज्जंति, पण्णविज्जंति, परूविज्जंति, दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विन्नाया, एवं चरण-करण परूवणा आघविज्जति।

से त्तं दिट्ठिवाए। ॥ सूत्र ५६ ॥

११०—दृष्टिवाद की सख्यात वाचनाए, सख्यात अनुयोगद्वार, सख्यात वेढ (छन्द), सख्यात प्रतिपत्तियाँ, सख्यात निर्युक्तियाँ और सख्यात सग्रहणियाँ हैं।

अङ्गार्थ से वह बारहवाँ अग है। एक श्रुतस्कन्ध है और चौदह पूर्व हैं। सख्यात वस्तु, सख्यात चूलिका वस्तु, सख्यात प्राभृत, संख्यात प्राभृतप्राभृत, सख्यात प्राभृतिकाए, सख्यात प्राभृतिकाप्राभृतिकाए है। इसमे सख्यात सहस्रपद हैं। सख्यात अक्षर और अनन्त गम हैं। अनन्त पर्याय, परिमित त्रस तथा अनन्त स्थावरो का वर्णन है। शाश्वत, कृत-निबद्ध, निकाचित जिन-प्रणीत भाव कहे गये हैं। प्रज्ञापन, प्ररूपण, दर्शन, निदर्शन और उपदर्शन से स्पष्ट किये गए हैं।

दृष्टिवाद का अध्येता तद्रूप आत्मा और भावो का सम्यक् ज्ञाता तथा विज्ञाता बन जाता है। इस प्रकार चरण-करण की प्ररूपणा इस अङ्ग में की गई है।

यह दृष्टिवादाङ्ग श्रुत का विवरण सम्पूर्ण हुआ।

विवेचन—दृष्टिवाद अङ्ग मे भी पूर्व के अङ्गो की भाति परिमित वाचनाएं और सख्यात अनुयोगद्वार हैं। किन्तु इसमे वस्तु, प्राभृत, प्राभृतप्राभृत और प्राभृतिका की व्याख्या नही की गई

है। इस प्रकार के विभाग पूर्ववर्त्ती अंगो मे नही हैं। इन्हें इस प्रकार समझना चाहिए कि—पूर्वों में जो बड़े-बड़े अधिकार है, उन्हे वस्तु कहते है, उनसे छोटे अधिकारो को प्राभृतप्राभत तथा उनसे छोटे अधिकार को प्राभृतिका कहते हैं।

यह अग सबसे अधिक विशाल है फिर भी इसके अक्षरो की संख्या संख्यात ही है। इसमे अनन्त गम, अनन्त पर्याय, असंख्यात त्रस और अनन्त स्थावरों का वर्णन है। द्रव्यार्थिक नय से नित्य और पर्यायार्थिक नय से अनित्य है। इसमे सख्यात संग्रहणी गाथाएं हैं। पूर्व मे जो विषय निरूपण किये गये हैं, उनको कुछ गाथाओ मे सकलित करने वाली गाथाए सग्रहणी गाथाएं कहलाती हैं।

द्वादशाङ्ग का संक्षिप्त सारांश

१११—इच्चेइयम्मि दुवालसंगे गणिपिडगे अणंता भावा, अणंता अभावा, अणंता हेऊ, अणंता अहेऊ, अणंता कारणा, अणंता अकारणा, अणंता जीवा, अणता अजीवा, अणंता भवसिद्धिया, अणंता अभवसिद्धिया, अणंता सिद्धा, अणंता असिद्धा पण्णत्ता।

भावमभावा हेऊमहेऊ कारणमकारणे चेव।
जीवाजीवा भविअ-अभविआ सिद्धा असिद्धा य॥

१११—इस द्वादशाङ्ग गणिपिटक मे अनन्त जीवादि भाव, अनन्त अभाव, अनन्त हेतु, अनन्त अहेतु, अनन्त कारण, अनन्त अकारण, अनन्त जीव, अनन्त अजीव, अनन्त भवसिद्धिक, अनन्त अभवसिद्धिक, अनन्त सिद्ध और अनन्त असिद्ध कथन किए गए हैं।

भाव और अभाव, हेतु और अहेतु, कारण-अकारण, जीव-अजीव, भव्य-अभव्य, सिद्ध-असिद्ध, इस प्रकार सग्रहणी गाथा मे उक्त विषयो का सक्षेप में वर्णन किया गया है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में बारह अगरूप गणिपिटक मे अनन्त सद्भावो का तथा इसके प्रतिपक्षी अनन्त अभावरूप पदार्थों का वर्णन किया गया है। सभी पदार्थ अपने स्वरूप से सद्रूप होते हैं और पर-रूप की अपेक्षा से असद्रूप। जैसे—जीव मे अजीवत्व का अभाव और अजीव मे जीवत्व का अभाव है।

हेतु-अहेतु—हेतु अनन्त हैं और अनन्त ही अहेतु भी हैं। इच्छित अर्थ की जिज्ञासा मे जो साधन हो वे हेतु कहलाते हैं तथा अन्य सभी अहेतु।

कारण-अकारण—घट और पट स्वगुण की अपेक्षा से कारण हैं तथा परगुण की अपेक्षा से अकारण। जैसे—घट का उपादान कारण मिट्टी का पिण्ड होता है और निमित्त होते है, दण्ड, चक्र, चीवर एव कुम्हार आदि। इसी प्रकार पट का उपादान कारण तन्तु, और निमित्त कारण होते हैं—जुलाहा तथा खड्डी आदि बुनाई के सभी साधन। इस प्रकार घट निज गुणों की अपेक्षा से कारण तथा पट के गुणो की अपेक्षा से अकारण और पट अपने निज-गुणो की अपेक्षा से कारण तथा घट के गुणों की अपेक्षा से अकारण होता है। जीव अनन्त हैं और अजीव भी अनन्त हैं। भव्य अनन्त हैं और अभव्य भी अनन्त ही हैं। पारिणामिक-स्वाभाविकभाव हैं। किसी कर्म के उदय आदि की अपेक्षा न रखने के कारण इनमे परिवर्त्तन नही होता। अनन्त संसारी जीव और अनन्त सिद्ध हैं।

साराश कि द्वादशाङ्ग गणिपिटक में पूर्वोक्त सभी का वर्णन किया गया है।

द्वादशाङ्ग श्रुत की विराधना का कुफल

११२—इच्चेइअं दुवालसंगं गणिपिडगं तीए काले अणंता जीवा आणाए विराहित्ता चाउरंतं संसार-कंतारं अणुपरिअट्टिंसु ।

इच्चेइअं दुवालसंगं गणिपिडगं पडुप्पण्णकाले परित्ता जीवा आणाए विराहित्ता चाउरंतं संसारकंतारं अणुपरिअट्टंति ।

इच्चेइअ दुवालसगं गणिपिडग अणागए काले अणंता जीवा आणाए विराहित्ता चाउरंतं ससारकंतारं अणुपरिअट्टिस्संति ।

११२—इस द्वादशाङ्ग गणिपिटक की भूतकाल मे अनन्त जीवो ने विराधना करके चार गतिरूप ससार कान्तार में भ्रमण किया ।

इसी प्रकार इस द्वादशाङ्ग गणिपिटक की वर्तमानकाल में परिमित जीव आज्ञा से विराधना करके चार गतिरूप ससार मे भ्रमण कर रहे हैं ।

इसी प्रकार द्वादशाङ्ग गणिपिटक की आगामी काल मे अनन्त जीव आज्ञा से विराधना करके चार गतिरूप ससार कान्तार मे भ्रमण करेगे ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे वीतराग प्ररूपित शास्त्र-आज्ञा का उल्लघन करने पर जो दुष्फल प्राप्त होता है वह बताते हुए कहा है—जिन जीवो ने द्वादशाङ्ग श्रुत की विराधना की, वे चतुर्गति-रूप संसार-कानन मे भटके हैं, जो जीव विराधना कर रहे है वे वर्तमान मे नाना प्रकार के दुःख भोग रहे हैं और जो भविष्य मे विराधना करेगे वे जीव अनागत काल में भव-भ्रमण करेगे ।

आणाए विराहित्ता— सूत्र मे यह पद दिया गया है । शास्त्रो मे ससारी जीवो के हितार्थ जो कुछ कथन किया जाता है वही आज्ञा कहलाती है । अत द्वादशाङ्ग गणिपिटक ही आज्ञा है । आज्ञा के तीन प्रकार बताए गए हैं, जैसे सूत्राज्ञा, अर्थाज्ञा और उभयाज्ञा ।

(१) जमालिकुमार के समान जो अज्ञान एव अनुचित हठ पूर्वक अन्यथा सूत्र पढता है, वह सूत्राज्ञा-विराधक कहलाता है ।

(२) दुराग्रह के कारण जो व्यक्ति द्वादशाङ्ग की अन्यथा प्ररूपणा करता है वह अर्थाज्ञा-विराधक होता है, जैसे गोष्ठामाहिल आदि ।

(३) जो श्रद्धाविहीन प्राणी द्वादशाङ्ग के शब्दो और अर्थ दोनो का उपहास करता हुआ अवज्ञापूर्वक विपरीत चलता है, वह उभयाज्ञा-विराधक होकर चतुर्गतिरूप ससार मे परिभ्रमण करता रहता है ।

द्वादशाङ्ग-आराधना का सुफल

११३—इच्चेइअं दुवालसंगं गणिपिडगं तीए काले अणंता जीवा आणाए आराहित्ता चाउरंतं संसारकंतारं वीइवइंसु ।

इच्चेइअं दुवालसंगं गणिपिडगं पडुप्पण्णकाले परित्ता जीवा आणाए आराहित्ता चाउरंतं संसारकंतारं वीइवयंति ।

इच्चेइअं दुवालसंगं गणिपिडगं अणागए काले अणंता जीवा आणाए आराहित्ता चाउरंतं संसारकंतारं वीइवइस्संति ।

११३—इस द्वादशाङ्ग गणिपिटक की भूतकाल मे आज्ञा से आराधना करके अनन्त जीव ससार रूप अटवी को पार कर गए।

बारह-अङ्ग गणिपिटक की वर्तमान काल मे परिमित जीव आज्ञा से आराधना करके चार गतिरूप ससार को पार करते है।

इस द्वादशाङ्ग रूप गणिपिटक की आज्ञा से आराधना करके अनन्त जीव चार गति रूप ससार को पार करेंगे।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि द्वादशाङ्ग रूप गणिपिटक श्रुत की सम्यक् आराधना करने वाले जीवो ने भूतकाल मे इस ससार-कानन को निर्विघ्न पार किया है, आज्ञानुसार चलने वाले वर्तमान में कर रहे है और अनागतकाल मे भी करेंगे।

जिस प्रकार हिंस्र जन्तुओ से परिपूर्ण, नाना प्रकार के कष्टो की आशकाओ से युक्त तथा अधकार से आच्छादित अटवी को पार करने के लिए तीव्र प्रकाश-पुंज की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार जन्म, मरण, रोग, शोक आदि महान् कष्टो एव सकटो से युक्त चतुर्गतिरूप ससार-कानन को भी श्रुतज्ञानरूपी अनुपम तेज-पुंज के सहारे से ही पार किया जा सकता है।

श्रुतज्ञान ही स्व-पर प्रकाशक है, अर्थात् आत्म-कल्याण और पर-कल्याण मे सहायक है। इसे ग्रहण करने वाला ही उन्मार्ग से बचता हुआ सन्मार्ग पर चल सकता है तथा मुक्ति के उद्देश्य को सफल बना सकता है।

गणिपिटक की शाश्वतता

११४—इच्चेइअं दुवालसंगं गणिपिडगं न कयाइ नासी, न कयाइ न भवइ, न कयाइ न भविस्सइ।

भुविं च, भवइ अ, भविस्सइ अ।

धुवे, निअए, सासए, अक्खए, अव्वए, अवट्ठिए, निच्चे।

से जहानामए पंचत्थिकाए न कयाइ नासी, न कयाइ नत्थि, न कयाइ न भविस्सइ। भुविं च, भवइ अ, भविस्सइ अ, धुवे, नियए, सासए, अक्खए, अव्वए, अवट्ठिए, निच्चे। एवामेव दुवालसंगे गणिपिडगे न कयाइ नासी, न कयाइ नत्थि, न कयाइ न भविस्सइ। भुविं च, भवइ अ, भविस्सइ अ, धुवे, नियए, सासए, अक्खए, अव्वए, अवट्ठिए, निच्चे।

से समासओ चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ, तत्थ—

दव्वओ णं सुअनाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइं जाणइ, पासइ,
खित्तओ णं सुअनाणी उवउत्ते सव्वं खेत्तं जाणइ, पासइ,
कालओ णं सुअनाणी उवउत्ते सव्वं कालं जाणइ, पासइ,
भावओ णं सुअनाणी उवउत्ते सव्वे भावे जाणइ, पासइ। ॥ सूत्र ५७ ॥

११४—यह द्वादशाङ्ग गणिपिटक न कदाचित् नही था अर्थात् सदैवकाल था, न वर्तमान काल में नही है अर्थात् वर्त्तमान मे है, न कदाचित् न होगा अर्थात् भविष्य में सदा होगा। भूतकाल

में था, वर्तमान काल मे है और भविष्य मे रहेगा। यह मेरु आदिवत् ध्रुव है, जीवादिवत् नियत है तथा पञ्चास्तिकायमय लोकवत् नियत है, गगा सिन्धु के प्रवाहवत् शाश्वत और अक्षय है, मानुषोत्तर पर्वत के बाहरी समुद्रवत् अव्यय है। जम्बूद्वीपवत् सदैव काल अपने प्रमाण मे अवस्थित है, आकाशवत् नित्य है।

कभी नही थे, ऐसा नही है, कभी नही है, ऐसा नही है और कभी नही होगे, ऐसा भी नही है।

जैसे पञ्चास्तिकाय न कदाचित् नही थे, न कदाचित् नही हैं, न कदाचित् नही होगे, ऐसा नही है अर्थात् भूतकाल मे थे, वर्तमान मे है, भविष्यत् मे रहेगे। वे ध्रुव हैं, नियत है, शाश्वत हैं, अक्षय हैं, अव्यय है, अवस्थित है, नित्य हैं।

इसी प्रकार यह द्वादशाङ्गरूप गणिपिटक—कभी न था, वर्तमान मे नही है, भविष्य मे नही होगा, ऐसा नही है। भूतकाल मे था, वर्तमान मे है और भविष्य मे भी रहेगा। यह ध्रुव है, नियत है, शाश्वत है, अक्षय है, अव्यय है, अवस्थित है और नित्य है।

वह सक्षेप मे चार प्रकार का प्रतिपादन किया गया है, जैसे—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से।

द्रव्य से श्रुतज्ञानी—उपयोग लगाकर सब द्रव्यो को जानता और देखता है।

क्षेत्र से श्रुतज्ञानी—उपयोग युक्त होकर सब क्षेत्र को जानता और देखता है।

काल से श्रुतज्ञानी—उपयोग सहित सर्व काल को जानता व देखता है।

भाव से श्रुतज्ञानी—उपयुक्त हो तो सब भावो को जानता और देखता है।

विवेचन—इस सूत्र मे सूत्रकार ने गणिपिटक को नित्य सिद्ध किया है। जिस प्रकार पंचास्तिकाय का अस्तित्व त्रिकाल मे रहता है, उसी प्रकार द्वादशाङ्ग गणिपिटक का अस्तित्व भी सदा स्थायी रहता है। इसके लिए सूत्रकर्त्ता ने ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित और नित्य, इन पदो का प्रयोग किया है। पञ्चास्तिकाय और द्वादशाङ्ग गणिपिटक की तुलना इन्ही सात पदो के द्वारा की गई है, जैसे—पञ्चास्तिकाय द्रव्यार्थिक नय से नित्य है। वैसे ही गणिपिटक भी नित्य है। विशेष रूप से इसे निम्न प्रकार से जानना चाहिए—

(१) ध्रुव—जैसे मेरुपर्वत सदाकाल ध्रुव और अचल है, वैसे ही गणिपिटक भी ध्रुव है।

(२) नियत—सदा सर्वदा जीवादि नवतत्व का प्रतिपादक होने से नियत है।

(३) शाश्वत—पञ्चास्तिकाय का वर्णन सदाकाल से इसमे चला आ रहा है, अत गणिपिटक शाश्वत है।

(४) अक्षय—जिस प्रकार गगा आदि महानदियो के निरन्तर प्रवाहित रहने पर भी उनके मूल स्रोत अक्षय हैं उसी प्रकार द्वादशाङ्गश्रुत की शिष्यो को अथवा जिज्ञासुओ को सदा वाचना देते रहने पर भी कभी इसका क्षय नही होता, अत अक्षय है।

(५) अव्यय—मानुषोत्तर पर्वत के बाहर जितने भी समुद्र है, वे सब अव्यय हैं अर्थात् उनमे न्यूनाधिकता नहीं होती, इसी प्रकार गणिपिटक भी अव्यय है।

(६) अवस्थित—जैसे जम्बूद्वीप आदि महाद्वीप अपने प्रमाण मे अवस्थित हैं, वैसे ही बारह अंगसूत्र भी अवस्थित हैं।

(७) नित्य—जिस प्रकार आकाशादि द्रव्य नित्य हैं उसी प्रकार द्वादशाङ्ग गणिपिटक भी नित्य है।

ये सभी पद द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से द्वादशाङ्ग गणिपिटक और पञ्चास्तिकाय के विषय मे कहे गए हैं। पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से गणिपिटक का वर्णन सादि-सान्त आदि श्रुत मे किया जा चुका है। इस कथन से ईश्वरकर्तृत्ववाद का भी निषेध हो जाता है।

सक्षिप्त रूप से श्रुतज्ञान का विषय कितना है, इसका भी उल्लेख सूत्रकार ने स्वय किया है, यथा—

द्रव्यत —श्रुतज्ञानी सर्वद्रव्यो को उपयोग पूर्वक जानता और देखता है। यहाँ शंका हो सकती है कि श्रुतज्ञानी सर्वद्रव्यो को देखता कैसे है? समाधान मे यही कहा और चित्र द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है कि यह उपमावाची शब्द है, जैसे किसी ज्ञानी ने मेरु आदि पदार्थों का इतना अच्छा निरूपण किया मानो उन्होने प्रत्यक्ष करके दिखा दिया हो। इसी प्रकार विशिष्ट श्रुतज्ञानी उपयोग-पूर्वक सर्वद्रव्यो को, सर्वक्षेत्र को, सर्वकाल को और सर्व भावो को जानता व देखता है। इस सम्बन्ध मे टीकाकार ने यह भी उल्लेख किया है—'अन्ये तु "न पश्यति" "इति पठन्ति" अर्थात् किसी-किसी के मत से 'न पासइ' ऐसा पाठ है, जिसका अर्थ है—श्रुतज्ञानी जानता है किन्तु देखता नही है। यहाँ पर भी ध्यान मे रखना चाहिए कि सर्व द्रव्य आदि को जानने वाला कम से कम सम्पूर्ण श्रुत-दश पूर्वो का या इससे अधिक का धारक ही होता है। इससे न्यून श्रुतज्ञानी के लिए भजना है—वह जान भी सकता है और कोई नही भी जान सकता।

श्रुतज्ञान के भेद और पठनविधि

११५—अक्खर सन्नी सम्मं, साइअं खलु सपज्जवसिअं च।
गमिअं अंगपविट्ठं, सत्तवि एए सपडिवक्खा ॥१॥

आगमसत्थग्गहणं, जं बुद्धिगुणेहिं अट्ठहिं दिट्ठं।
बिंति सुअनाणलभं, तं पुव्वविसारया धीरा ॥२॥

सुस्सूसइ पडिपुच्छइ, सुणेइ गिण्हइ अ ईहए याऽवि।
तत्तो अपोहए वा, धारेइ करेइ वा सम्मं ॥३॥

मूअं हुंकारं वा, बाढंकार पडिपुच्छ वीमंसा।
तत्तो पसंगपारायणं च परिणिट्ठा सत्तमए ॥४॥

सुत्तत्थो खलु पढमो, बीओ निज्जुत्तिमीसिओ भणिओ।
तइओ य निरवसेसो, एस विही होइ अणुओगे ॥५॥

से त्त अगपविट्ठं, से त्तं सुअनाणं, से त्तं परोक्खनाणं, से त्तं नन्दी।

॥ नन्दी समत्ता ॥

११५—(१) अक्षर, (२) सज्ञी, (३) सम्यक्, (४) सादि, (५) सपर्यवसित, (६) गमिक, (७) और अङ्गप्रविष्ट, ये सात और इनके सप्रतिपक्ष सात मिलकर श्रुतज्ञान के चौदह भेद हो जाते हैं।

बुद्धि के जिन आठ गुणो से आगम शास्त्रों का अध्ययन एव श्रुतज्ञान का लाभ देखा गया है, उन्हे शास्त्रविशारद एव धीर आचार्य कहते हैं—

वे आठ गुण इस प्रकार हैं—विनययुक्त शिष्य गुरु के मुखारविन्द से निकले हुए वचनों को सुनना चाहता है। जब शका होती है तब पुन· विनम्र होकर गुरु को प्रसन्न करता हुआ पूछता है। गुरु के द्वारा कहे जाने पर सम्यक् प्रकार से श्रवण करता है, सुनकर उसके अर्थ—अभिप्राय को ग्रहण करता है। ग्रहण करने के अनन्तर पूर्वापर अविरोध से पर्यालोचन करता है, तत्पश्चात् यह ऐसे ही है जैसा गुरुजी फरमाते हैं, यह मानता है। इसके बाद निश्चित अर्थ को हृदय मे सम्यक् रूप से धारण करता है। फिर जैसा गुरु ने प्रतिपादन किया था, उसके अनुसार आचरण करता है।

आगे शास्त्रकार सुनने की विधि बताते हैं—

शिष्य मौन रहकर सुने, फिर हुकार—'जी हा' ऐसा कहे। उसके बाद बाढकार अर्थात् 'यह ऐसे ही है जैसा गुरुदेव फरमाते है' इस प्रकार श्रद्धापूर्वक माने। तत्पश्चात् अगर शका हो तो पूछे कि—"यह किस प्रकार है ?" फिर मीमासा करे अर्थात् विचार-विमर्श करे। तब उत्तरोत्तर गुण-प्रसग से शिष्य पारगामी हो जाता है। तत्पश्चात् वह चिन्तन-मनन आदि के बाद गुरुवत् भाषण और शास्त्र की प्ररूपणा करे। ये गुण शास्त्र सुनने के कथन किए गए हैं।

व्याख्या करने की विधि

प्रथम वाचना मे सूत्र और अर्थ कहे। दूसरी मे सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति का कथन करे। तीसरी वाचना मे सर्व प्रकार नय-निक्षेप आदि से पूर्ण व्याख्या करे। इस तरह अनुयोग की विधि शास्त्रकारो ने प्रतिपादन की है।

यह श्रुतज्ञान का विषय समाप्त हुआ। इस प्रकार यह अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य श्रुत का वर्णन सम्पूर्ण हुआ। यह परोक्षज्ञान का वर्णन हुआ। इस प्रकार श्रीनन्दी सूत्र भी परिसमाप्त हुआ।

विवेचन—सूत्रकारो की यह शैली सदाकाल से अविच्छिन्न रही है कि जिस विषय का उन्होने भेद-प्रभेदो सहित निरूपण किया, अन्त मे उसका उपसहार भी अवश्य किया। इस सूत्र मे भी श्रुत के चौदह भेदो का स्वरूप बताने के पश्चात् अन्तिम एक ही गाथा मे श्रुतज्ञान के चौदह भेदो का कथन किया है। जैसे—

(१) अक्षर, (२) संज्ञी, (३) सम्यक्, (४) सादि, (५) सपर्यवसित, (६) गमिक, (७) अङ्ग-प्रविष्ट, (८) अनक्षर, (९) असंज्ञी, (१०) मिथ्या, (११) अनादि, (१२) अपर्यवसित, (१३) अगमिक, और (१४) अनगप्रविष्ट। इस प्रकार सामान्य श्रुत के मूल भेद चौदह है, फिर भले ही वह श्रुत सम्यक् ज्ञानरूप हो अथवा अज्ञानरूप (मिथ्याज्ञान) हो। श्रुत ऐकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय छद्मस्थ जीवों तक सभी में पाया जाता है।

श्रुतज्ञान किसे दिया जाय ?

आचार्य अथवा गुरु श्रुतज्ञान देते हैं, किन्तु उन्हें भी ध्यान रखना होता है कि शिष्य सुपात्र है या कुपात्र। सुपात्र शिष्य अपने गुरु से श्रुतज्ञान प्राप्त करके स्व एव पर के कल्याण-कार्य मे जुट जाता है किन्तु कुपात्र या कुशिष्य उसी ज्ञान का दुरुपयोग करके प्रवचन अथवा ज्ञान की अवहेलना करता है। ठीक सर्प के समान, जो दूध पीकर भी उसे विष मे परिणत कर लेता है। इसलिए कहा गया है कि—अविनीत, रसलोलुप, श्रद्धाविहीन तथा अयोग्य शिष्य तो श्रुतज्ञान के कथंचित् अनधिकारी हैं, किन्तु हठी और मिथ्यादृष्टि श्रुतज्ञान के सर्वथा ही अनधिकारी हैं। उनकी बुद्धि पर विश्वास नही किया जा सकता।

बुद्धि चेतना की पहचान है और दूसरे शब्दो मे स्वत चेतना रूप है। वह सदा किसी न किसी गुण या अवगुण को धारण किये रहती है। स्पष्ट है कि जो बुद्धि गुणग्राहिणी है वही श्रुतज्ञान की अधिकारिणी है। पूर्वधर और धीर पुरुषो का कथन है कि पदार्थों का यथातथ्य स्वरूप बताने वाले आगम और मुमुक्षु अथवा जिज्ञासुओ को यथार्थ शिक्षा देने वाले शास्त्रो का ज्ञान तभी हो सकता है, जबकि बुद्धि के आठ गुणो सहित विधिपूर्वक उनका अध्ययन किया जाय। गाथा मे आगम और शास्त्र, इन दोनो का एक पद मे उल्लेख किया गया है। यहाँ यह जानना आवश्यक है कि—जो आगम है वह तो निश्चय ही शास्त्र भी है, किन्तु जो शास्त्र है वह आगम नही भी हो सकता है, जैसे—अर्थ-शास्त्र, कोकशास्त्र आदि। ये शास्त्र कहलाते हैं किन्तु आगम नही कहे जा सकते। धीर पुरुष वे कहलाते हैं जो व्रतो का निरतिचार पालन करते हुए उपसर्ग-परिषहो से कदापि विचलित नही होते।

बुद्धि के गुण

बुद्धि के आठ गुणो से सम्पन्न व्यक्ति ही श्रुतज्ञान का अधिकारी बनता है। श्रुतज्ञान आत्मा का ऐसा अनुपम धन है, जिसके सहयोग से वह ससारयुक्त होकर शाश्वत सुख को प्राप्त करता है और उसके अभाव मे आत्मा चारो गतियो मे भ्रमण करता हुआ जन्म-मरण आदि के दुख भोगता रहता है। इसलिए प्रत्येक मुमुक्षु को बुद्धि के आठो गुण ग्रहण करके सम्यक् श्रुत का अधिकरी बनना चाहिए। वे गुण निम्न प्रकार है--

(१) सुस्सूसइ—शुश्रूषा का अर्थ है—सुनने की इच्छा या जिज्ञासा। शिष्य अथवा साधक सर्वप्रथम विनयपूर्वक अपने गुरु के चरणो की वन्दना करके उनके मुखारविन्द से कल्याणकारी सूत्र व अर्थ सुनने की जिज्ञासा व्यक्त करे। जिज्ञासा के अभाव मे ज्ञान-प्राप्ति नही हो सकती।

(२) पडिपुच्छइ—सूत्र या अर्थ सुनने पर अगर कही शका पैदा हो तो विनय सहित मधुर वचनो से गुरु के चित्त को प्रसन्न करते हुए गौतम के समान प्रश्न पूछकर अपनी शका का निवारण करे। श्रद्धापूर्वक प्रश्नो के उत्तर प्राप्त करने से तर्कशक्ति वृद्धि को प्राप्त होती है तथा ज्ञान निर्मल होता है।

(३) सुणेइ—प्रश्न करने पर गुरुजन जो उत्तर देते है, उन्हें ध्यानपूर्वक सुने। जब तक समाधान न हो जाय तब तक विनय सहित उनसे समाधान प्राप्त करे, उनकी बात दत्तचित्त होकर श्रवण करे किन्तु विवाद मे पडकर गुरु के मन को खिन्न न करे।

(४) गिण्हइ—सूत्र, अर्थ तथा किये हुए समाधान को हृदय से ग्रहण करे, अन्यथा सुना हुआ ज्ञान विस्मृत हो जाता है।

(५) ईहते—हृदयंगम किये हुए ज्ञान पर पुन. पुनः चिन्तन-मनन करे, जिससे ज्ञान मन का विषय बन सके। धारणा को दृढतम बनाने के लिए पर्यालोचन आवश्यक है।

(६) अपोहए—प्राप्त किये हुए ज्ञान पर चिन्तन-मनन करके यह निश्चय करे कि यही यथार्थ है जो गुरु ने कहा है, यह अन्यथा नही है, ऐसा निर्णय करे।

(७) धारेइ—निर्मल एव निर्णीत सार-ज्ञान की धारणा करे।

(८) करेइ वा सम्म—ज्ञान के दिव्य प्रकाश से ही श्रुतज्ञानी चारित्र की सम्यक्-आराधना कर सकता है। श्रुतज्ञान का अन्तिम सुफल यही है कि श्रुतज्ञानी सन्मार्ग पर चले तथा चारित्र की आराधना करता हुआ कर्मों पर विजय प्राप्त करे।

बुद्धि के ये सभी गुण क्रियारूप है क्योकि गुण क्रिया के द्वारा ही व्यक्त होते हैं। ऐसा इस गाथा से ध्वनित होता है।

श्रवणविधि के प्रकार

शिष्य अथवा जिज्ञासु जब अञ्जलिबद्ध होकर विनयपूर्वक गुरु के समक्ष सूत्र व अर्थ सुनने के लिए बैठता है तब उसे किस प्रकार सुनना चाहिए ? सूत्रकार ने उस विधि का भी गाथा मे उल्लेख किया है, क्योकि विधिपूर्वक न सुनने से ज्ञानप्राप्ति नही होती और सुना हुआ व्यर्थ चला जाता है। श्रवणविधि इस प्रकार है—

(१) मूअ—जब गुरु अथवा आचार्य सूत्र या अर्थ सुना रहे हो, उस समय—प्रथम श्रवण के समय शिष्य को मौन रहकर दत्तचित्त होकर सुनना चाहिए।

(२) हुकार—द्वितीय श्रवण मे गुरु-वचन श्रवण करते हुए बीच-बीच मे प्रसन्नतापूर्वक 'हुकार' करते रहना चाहिए।

(३) बाढकार—सूत्र व अर्थ गुरु से सुनते हुए तृतीय श्रवण मे कहना चाहिये—'गुरुदेव ! आपने जो कुछ कहा है, सत्य है' अथवा 'तहत्ति' शब्द का प्रयोग करना चाहिए।

(४) पडिपुच्छइ—चौथे श्रवण मे जहाँ कही सूत्र या अर्थ समझ मे न आए अथवा सुनने से रह जाय तो बीच-बीच मे आवश्यकतानुसार पूछ लेना चाहिए, किन्तु निरर्थक तर्क-वितर्क नही करना चाहिए।

(५) मीमासा—पचम श्रवण के समय शिष्य के लिए आवश्यक है कि गुरु-वचनो के आशय को समझते हुए उसके लिए प्रमाण की जिज्ञासा करे।

(६) प्रसगपारायण—छठे श्रवण मे शिष्य सुने हुए श्रुत का पारगामी बन जाता है और उसे उत्तरोत्तर गुणो की प्राप्ति होती है।

(७) परिणिट्ठा— सातवे श्रवण मे शिष्य श्रुतपरायण होकर गुरुवत् सैद्धान्तिक विषय का प्रतिपादन करने मे समर्थ हो जाता है। इसीलिये प्रत्येक जिज्ञासु को आगम-शास्त्र का अध्ययन विधि-पूर्वक ही करना चाहिए।

सूत्रार्थ व्याख्यान-विधि

आचार्य, उपाध्याय या बहुश्रुत गुरु के लिए भी आवश्यक है कि वह शिष्य को सर्वप्रथम सूत्र का शुद्ध उच्चारण और अर्थ सिखाए। तत्पश्चात् उस आगम के शब्दो की सूत्रस्पर्शी निर्युक्ति बताए। तीसरी बार पुन उसी सूत्र को वृत्ति-भाष्य, उत्सर्ग-अपवाद, और निश्चय-व्यवहार, इन सबका आशय नय, निक्षेप, प्रमाण और अनुयोगद्वार आदि विधि से व्याख्या सहित पढाए। इस क्रम से अध्यापन करने पर गुरु शिष्य को श्रुतपारगत बना सकता है।

इस प्रकार नन्दीसूत्र की समाप्ति के साथ अङ्गप्रविष्ट श्रुतज्ञान और परोक्ष का विषय-वर्णन सम्पूर्ण हुआ।

□□

नन्दीसूत्र-गाथानुक्रम

□□

अनध्यायकाल

[स्व० आचार्यप्रवर श्री आत्मारामजी म० द्वारा सम्पादित नन्दीसूत्र से उद्धृत]

स्वाध्याय के लिए आगमो मे जो समय बताया गया है, उसी समय शास्त्रो का स्वाध्याय करना चाहिए। अनध्यायकाल मे स्वाध्याय वर्जित है।

मनुस्मृति आदि स्मृतियो मे भी अनध्यायकाल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वैदिक लोग भी वेद के अनध्यायो का उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार अन्य आर्ष ग्रन्थो का भी अनध्याय माना जाता है। जैनागम भी सर्वज्ञोक्त, देवाधिष्ठित तथा स्वरविद्या सयुक्त होने के कारण, इनका भी आगमो मे अनध्यायकाल वर्णित किया गया है, जैसे कि—

दसविधे अतलिक्खिते असज्झाए पण्णत्ते, त जहा—उक्कावाते, दिसिदाघे, गज्जिते, निग्घाते, जुवते, जक्खालित्ते, धूमिता, महिता, रयउग्घाते।

दसविहे ओरालिते असज्झातिते, त जहा—अट्ठी, मस, सोणित्ते, असुतिसामंते, सुसाणसामते, चदोवराते, सूरोवराते, पडने, रायवुग्गहे, उवस्सयस्स अतो ओरालिए सरीरगे।

—स्थानाङ्गसूत्र, स्थान १०

नो कप्पति निग्गथाण वा, निग्गथीण वा चउहि महापाडिवएहि सज्झाय करित्तए, त जहा—आसाढपाडिवए, इदमहापाडिवए, कत्तिअपाडिवए, सुगिम्हपाडिवए। नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा, चउहि सझाहि सज्झाय करेत्तए, त जहा—पडिमाते, पच्छिमाते, मज्झण्हे, अड्ढरत्ते। कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा, चाउक्काल सज्झाय करेत्तए, त जहा—पुव्वण्हे, अवरण्हे, पओसे, पच्चूसे।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान ४, उद्देश २

उपरोक्त सूत्रपाठ के अनुसार, दस आकाश से सम्बन्धित, दस औदारिक शरीर से सम्बन्धित, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदा की पूर्णिमा और चार सन्ध्या इस प्रकार बत्तीस अनध्याय माने गये हैं। जिनका सक्षेप मे निम्न प्रकार से वर्णन है, जैसे—

आकाश सम्बन्धी दस अनध्याय

१. उल्कापात-तारापतन—यदि महत् तारापतन हुआ है तो एक प्रहर पर्यन्त शास्त्र-स्वाध्याय नही करना चाहिए।

२. दिग्दाह—जब तक दिशा रक्तवर्ण की हो अर्थात् ऐसा मालूम पड़े कि दिशा में आग-सी लगी है, तब भी स्वाध्याय नही करना चाहिए।

३-४ —गर्जित-विद्युत्—गर्जन और विद्युत प्राय ऋतु स्वभाव से ही होता है। अतः आर्द्रा से स्वाति नक्षत्र पर्यन्त अनध्याय नही माना जाता।

५. निर्घात—बिना बादल के आकाश मे व्यन्तरादिकृत घोर गर्जन होने पर या बादलो सहित आकाश मे कडकने पर दो प्रहर तक अस्वाध्यायकाल है।

६ **यूपक**—शुक्ल पक्ष में प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया को सन्ध्या की प्रभा और चन्द्रप्रभा के मिलने को यूपक कहा जाता है। इन दिनो प्रहर रात्रि पर्यन्त स्वाध्याय नही करना चाहिए।

७. **यक्षादीप्त**—कभी किसी दिशा मे बिजली चमकने जैसा, थोड़े थोड़े समय पीछे जो प्रकाश होता है वह यक्षादीप्त कहलाता है। अत आकाश मे जब तक यक्षाकार दीखता रहे तब तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

८. धूमिका कृष्ण—कार्तिक से लेकर माघ तक का समय मेघो का गर्भमास होता है। इसमे धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धु ध पडती है। वह धूमिका-कृष्ण कहलाती है। जब तक यह धु ध पडती रहे, तब तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

९ **मिहिकाश्वेत**—शीतकाल मे श्वेत वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुन्ध मिहिका कहलाती है। जब तक यह गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय काल है।

१०. रज उद्घात—वायु के कारण आकाश मे चारो ओर धूलि छा जाती है। जब तक यह धूलि फैली रहती है, स्वाध्याय नही करना चाहिए।

उपरोक्त दस कारण आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय के है।

औदारिक सम्बन्धी दस अनध्याय

११-१२-१३. हड्डी मांस और रुधिर—पचेद्रिय तिर्यंच की हड्डी, मास और रुधिर यदि सामने दिखाई दे, तो जब तक वहाँ से यह वस्तुए उठाई न जाएँ जब तक अस्वाध्याय है। वृत्तिकार आस पास के ६० हाथ तक इन वस्तुओ के होने पर अस्वाध्याय मानते है।

इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी अस्थि मास और रुधिर का भी अनध्याय माना जाता है। विशेषता इतनी है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन रात का होता है। स्त्री के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक। बालक एव बालिका के जन्म का अस्वाध्याय क्रमश सात एव आठ दिन पर्यन्त का माना जाता है।

१४. अशुचि—मल-मूत्र सामने दिखाई देने तक अस्वाध्याय है।

१५. श्मशान—श्मशानभूमि के चारो ओर सौ-सौ हाथ पर्यन्त अस्वाध्याय माना जाता है।

१६. चन्द्रग्रहण—चन्द्रग्रहण होने पर जघन्य आठ, मध्यम बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नही करना चाहिए।

१७ **सूर्यग्रहण**—सूर्यग्रहण होने पर भी क्रमश. आठ, बारह और सोलह प्रहर पर्यन्त अस्वाध्यायकाल माना गया है।

१८. पतन—किसी बड़े मान्य राजा अथवा राष्ट्र पुरुष का निधन होने पर जब तक उसका दाहसस्कार न हो तब तक स्वाध्याय न करना चाहिए। अथवा जब तक दूसरा अधिकारी सत्तारूढ न हो तब तक शनै: शनै: स्वाध्याय करना चाहिए।

१९. राजव्युद्ग्रह—समीपस्थ राजाओ मे परस्पर युद्ध होने पर जब तक शान्ति न हो जाए, तब तक उसके पश्चात् भी एक दिन-रात्रि स्वाध्याय नही करे।

२०. औदारिक शरीर—उपाश्रय के भीतर पचेन्द्रिय जीव का वध हो जाने पर जब तक कलेवर पडा रहे, तब तक तथा १०० हाथ तक यदि निर्जीव कलेवर पडा हो तो स्वाध्याय नही करना चाहिए।

अस्वाध्याय के उपरोक्त १० कारण औदारिक शरीर सम्बन्धी कहे गये हैं।

२१-२८ चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा—आषाढपूर्णिमा, आश्विन-पूर्णिमा, कार्तिक-पूर्णिमा और चैत्र-पूर्णिमा ये चार महोत्सव है। इन पूर्णिमाओ के पश्चात् आने वाली प्रतिपदा को महाप्रतिपदा कहते हैं। इसमे स्वाध्याय करने का निषेध है।

२९-३२. प्रात सायं मध्याह्न और अर्धरात्रि—प्रात: सूर्य उगने से एक घडी पहिले तथा एक घडी पीछे। सूर्यास्त होने से एक घडी पहिले तथा एक घडी पीछे। मध्याह्न अर्थात् दोपहर मे एक घडी आगे और एक घडी पीछे एव अर्धरात्रि मे भी एक घडी आगे तथा एक घडी पीछे स्वाध्याय नही करना चाहिए।

—